

अभिधर्मकोश

भाग २

(चतुर्थ तथा पंचम कोशस्थान)



आचार्य वसुबन्धु कृत

अभिधर्मकोश

भाग २

[चतुर्थ तथा पंचम कोशस्थान]

अनुवादक

आचार्य नरेन्द्र देव

१९७३

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति—११००
मूल्य रु० २५.००

मुद्रक
न्यु इरा प्रेस
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की ओर से स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव जी द्वारा अनूदित और संपादित आचार्य वसुबन्धु के प्रसिद्ध बौद्ध-दर्शन-व्याख्या-ग्रंथ 'अभिधर्मकोश' का पहला खण्ड, जिसमें तीन कोश 'स्थान' हैं, सन् १६५८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस दूसरे खण्ड में चतुर्थ और पंचम कोश 'स्थान' निहित हैं।

ईसा पश्चात् चौथी या पांचवीं शताब्दी में पेशावर के एक ब्राह्मण कुल में वसुबन्धु जन्मे थे और उनकी जय-यात्रा प्रायः सम्पूर्ण बौद्ध जगत में हुई थी। बौद्ध दर्शन के महान व्याख्याकारों में वसुबन्धु की गणना पहली पंक्ति में की जाती है। हीनयान से रूपान्तरित होकर अन्त में वे महायान सम्प्रदाय में स्थित हुए थे। बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादवाद, सर्वास्तिवाद और बौद्ध विज्ञानवाद के वे निष्णात् पंडित थे। 'अभिधर्मकोश' उनकी अन्यतम उपलब्धि है जिसका अनुवाद तिब्बती, चीनी तथा कतिपय अन्य एशियाई भाषाओं में उसी पुराकाल में हुआ था। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान लुई द ला वाले पूसें ने चीनी से फ्रेंच भाषा में अभिधर्मकोश का अनुवाद किया था और यह प्रकाशित हिन्दी अभिधर्मकोश पूसें के फ्रेंन्च अनुवाद का हिन्दी अनुवाद है।

सन् १६४२ के राष्ट्रीय आंदोलन के समय श्री आचार्य नरेन्द्रदेव अहमदनगर के किले में नजरबन्द थे। स्वातन्त्र्य पूर्व राजनीति-पुरुषों का जीवन एकांगी न होकर बहुमुखी था। यद्यपि वे एक डगर—कठिन डगर—पर ही चलते थे किन्तु उनका व्यक्तित्व प्रभात समय के पुष्प की तरह खिला हुआ होता था। ऐसे ही थे आचार्य नरेन्द्रदेव। प्राचीन हिन्दू-जैन-बौद्ध दर्शनों से लेकर समाजवादी दर्शन तक उनकी गहरी पैठ थी। सरस्वती उनकी वाणी में विराजती थी। उन्हें जब-जब एकान्त मिला तब-तब वे अभिनव कृति लेकर सामने आये। अभिधर्मकोश का यह अनुवाद अहमदनगर किले की नजरबन्दी की देन है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी इस खण्ड को प्रकाशित करते हुए स्वयं को गौरवान्वित कर रही है। विश्वास है, विद्वत् समाज और सुधीजन प्रथम खण्ड के समान ही द्वितीय खण्ड का स्वागत करेंगे। हमारी यह आश्वस्ति है कि निकट भविष्य में शेष सभी कोशस्थान तीसरे खण्ड में प्रकाशित हो सकेंगे।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

विषय-सूची

अभिधर्मकोश

५



चतुर्थ कोशस्थान

कर्म-निर्देश

[१] पूर्व कोशस्थान में वर्णित सत्व-लोक और भाजन-लोक की विचित्रता किसकी की हुई है (केन कृतम्) ?

कोई ईश्वर (२, ६४ डी) नहीं है जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की है।

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत् ।
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥१॥

१ ए. लोक-वैचित्र्य कर्मज है।[1] लोक-वैचित्र्य, सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है।

किन्तु इस पक्ष में ऐसा क्यों है कि कर्म एक ही समय में एक ओर रम्य विषय, यथा केशर, चन्दनादि और दूसरी ओर अरम्य आश्रय उत्पन्न करते हैं ?

व्यामिश्रकारी सत्वों के (४, ६०, जो कृष्ण-शुक्ल उभय कर्म करते हैं) कर्म गण्ड-सदृश आश्रय उत्पन्न करते हैं जिनका मल, नव द्वार से स्रवित होता है और इन आश्रयों के ओषधि रूप में उपभोग के लिये वर्ण-संस्थान गन्ध रस-स्प्रष्टव्यात्मक रम्य भोग भी उत्पन्न करते हैं। किन्तु देव अव्यामिश्रकारी हैं। उन्होंने केवल शुभ कर्म किये हैं; उनका आश्रय और उनके भोग समान रूप से रम्य हैं।

कर्म क्या है ?

१ बी. यह चेतना और चेतनाकृत है।[2]

[२] सूत्र वचन है कि कर्म दो प्रकार का है—चेतना और चेतयित्वा कर्म।[3]

---

१. कर्मजम् लोकवैचित्र्यम्—(व्या० १३-९)।

२. चेतना तत्कृतम् च तत्।

३. चेतनामहं भिक्षवः कर्मवदामि चेतयित्वा च। अंगुत्तर, ३-४१५ : चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि, चेतयित्वा कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा। अत्थसालिनी पृ० ८८ से तुलना कीजिए; कथावत्थु, पृ० ३९३; मध्यमक, १७-२-३ : चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा। ...तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतम्। चेतयित्वा च यत् तूक्तम् तत्तु कायिक-वाचिकम् ॥ मध्यमकावतार ६-८९ में बोधिचर्यावतार पंजिका (५-३; ९-७३), पृ० ४७२ उद्धृत है।

इस चेतयित्वा कर्म को कारिका 'चेतनाकृत' इन शब्दों से ज्ञापित करती है। यह दो कर्म मिल कर तीन होते हैं—कायकर्म, वाक्कर्म, मानसकर्म।

यह विभाग आप कैसे व्यवस्थापित करते हैं? कर्म के आश्रय के अनुसार, उसके स्वभाव के अनुसार अथवा उसके समुत्थान के अनुसार? इस प्रश्न का क्या उत्तर है? यदि हम आश्रय का विचार करते हैं तो एक कर्म ठहरता है, क्योंकि सब कर्म काय पर आश्रित हैं। यदि हम स्वभाव का विचार करते हैं तो वाक्कर्म ही एक कर्म है, अन्य दो का कर्मत्व नहीं है क्योंकि काय, वाक् और मनस्, इन तीन में से केवल वाक् स्वभावतः कर्म[1] है। यदि हम समुत्थान का विचार करते हैं तो केवल मनस् कर्म है, क्योंकि सब कर्मों का समुत्थान मन से है।

वैभाषिकों का कथन है कि तीन प्रकार के कर्म की सिद्धि आश्रय, स्वभाव और समुत्थान, इन तीन कारणों से यथाक्रम होती है। १ सी-डी. चेतना मानसकर्म है। उससे कायकर्म और वाक्कर्म—यह दो कर्म उत्पन्न होते हैं।[2]

चेतना को मानस कर्म कहते हैं। चेतना से[3] जो उत्पन्न होता है अर्थात् चेतयित्वा कर्म[4] वह अन्य दो कर्म हैं—कायिक और वाचिक।

ते तु विज्ञप्त्यविज्ञप्ती कायविज्ञप्तिरिष्यते।
संस्थानं न गतिर्यस्मात् संस्कृतं क्षणिकं व्ययात् ॥२॥

२ ए. यह दो कर्म—विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति हैं।[5]

---

१. वाचिक कर्म 'वाक्' है। वागेव कर्म। इसके विपक्ष में कायकर्म = 'कायेन कायस्य वा कर्म' है—(व्या० ३४५-१०)।

२. चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी।

३. चेतना पर २-२४ देखिये। श्रीमती रीज़ डैविड्स का इस शब्द का अनुवाद 'थिंकिंग' है (साइकालोजी, पृ० ८); आउंग (कम्पेंडियम, पृ० १६) का अनुवाद 'वालीशन' है। 'वालीशन' बहुत कुछ सन्तोषप्रद है। हम नीचे पृ० २२ में देखेंगे कि कर्म में एक पृष्ठ चेतना होती है; "मैंने घात किया है, 'हतम्'।"

हम जानते हैं कि जैनियों के मत से मानस कर्म केवल अर्धकर्म (अड्ढकम्म) है, मज्झिम १-३७२ (कोश, ४-१०५) उवासकदसाओ, २, परिशिष्ट २, पृ० १८, एस० बी० ई० ४५, पृ० ८३, १६५, १७९, १९२, २४२, ३१५—कोश ४.७३ ए० बी०।

४. चेतयित्वा चेति। एवं चेदं करिष्यामीति (व्या० ३४५.९) मध्यमकवृत्ति, ३०७,१। एवं चैवं च कायवाग्भ्याम् प्रवर्तिष्य इत्येवम् चेतसा संचिन्त्य यत्क्रियते तत् चेतयित्वा कर्मेति उच्यते।

५. ते तु विज्ञप्त्यविज्ञप्ती।

[३] कायकर्म और वाक्कर्म विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति दोनों हैं (१, ११, ४.४)। इसलिये कायविज्ञप्ति, वाग्विज्ञप्ति[1], काय-अविज्ञप्ति, वागविज्ञप्ति हैं।

[1] (ए) विज्ञप्ति वह है जो काय द्वारा या वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति को 'ज्ञापित करती है' (विज्ञपयति)। पहली अवस्था में यह कायिक है; दूसरी अवस्था में वाचिक। कायविज्ञप्ति काय द्वारा विज्ञापन है, जिसे हम शरीर-चेष्टा, विष्पन्द (मध्यमकवृत्ति, पृ० ३०७) 'कायविप्फन्दन' या 'कायस्फरण' (जिसे श्रीमती रीज डेविड्स बॉडली सप्यूज़म कहती हैं—धम्मसंगणि, ६३६, अत्थसालिनी पृ० ३२३) कहते हैं। वाग्विज्ञप्ति वाग्द्वारा विज्ञापन, शब्द है (कोश ४-३ डी०)। वाग्विज्ञप्ति, मिलिन्द, २२६; इत्सिंग, तकाकासू, १४७ का पाठ 'विज्ञप्त' है। निकाय सिद्ध करता है कि (कोश, ४-२ बी०—३ बी०) कायविज्ञप्ति शरीर-चेष्टा, शरीर की गति नहीं है किन्तु काय का संन्निवेशविशेष, 'संस्थान' है। सौत्रान्तिक इसका प्रतिषेध करते हैं कि संस्थान वस्तुसत् है (३ सी०)। किन्तु क्या यह आवश्यक है कि हम विज्ञप्ति को कर्म-स्वभाव समझें ? यह वैभाषिक और कथावत्थु, ८-६, १०-१० के तीर्थिकों (महिंसासक संमितीय महासांघिक) का मत है जो मानते हैं कि 'शरीर-चेष्टा' और शब्द 'चेतयित्वा कर्म' हैं जिसका वर्णन भगवत् करते हैं (४-१ बी०) और जो चेतना से भिन्न कर्म है और जो रूपस्वभाव है। किन्तु थेरवादिन् (अत्थसालिनी, पृ० ८८, ९६, ३२३; अंगुत्तर, २-१५७; संयुत्त, २-३६) और सौत्रान्तिक (नीचे पृ० १२) के मत में कर्म चेतना है; 'कायकर्म' से अभिप्राय 'कायद्वारा विज्ञापन' से नहीं है किन्तु एक काय संचेतना से है। यह संचेतना काय से सम्बन्ध रखती है और काय को इंजित करती है (आउंग, 'प्वाएंट्स आफ़ कानट्रोवर्सी', पृ० २२५ का कथन निर्दोष नहीं है।) सौत्रान्तिक की चेतना, १६९ देखिए। सौत्रान्तिक प्रतिषेध करते हैं।

(बी) अविज्ञप्ति (१-११, ४-४) एक कर्म है जो दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता। अविज्ञप्ति रूप है किन्तु यह रूपायतन में संगृहीत नहीं है। यह धर्मायतन में संगृहीत है और केवल मनोविज्ञान से जानी जाती है। हम सबसे सुगम उदाहरण लेते हैं। जो सत्व दूसरे का बध करता है या जो भिक्षु-व्रत का समादान करता है वह एक चेतना के अन्त में कायिक या वाचिक विज्ञप्ति—शरीर-चेष्टा या शब्द का उत्पाद करता है और साथ ही साथ एक कर्म का भी उत्पाद करता है जो रूपी और महाभूतज होते हुए भी अदृश्य है, जिसका उसमें अनुबन्ध रहता है, जो वृद्धि को प्राप्त होता है और जिसके कारण वह सत्व घातक या भिक्षु होता है। इस अदृश्य कर्म की उत्पत्ति दृश्य या श्रोतव्य कर्मों से होती है जो 'विज्ञापन' करते हैं। यह अविज्ञप्ति कहलाता है। जो शरीर-चेष्टा से उत्पन्न होता है उसे कायिक और जो शब्द से उत्पन्न होता है उसे वाचिक मानते हैं। जब एक पुरुष बध की आज्ञा देता है तो वह शरीर-चेष्टा नहीं करता जिससे बध की क्रिया सम्पन्न होती है। जो आज्ञा वह देता है, वह बध का प्रयोगमात्र है; वह 'प्राणातिपात की कायिक विज्ञप्ति' का आपन्न नहीं है। किन्तु जिस क्षण में हत पुरुष का बध होता है उस क्षण में प्राणातिपात की 'अविज्ञप्ति' उसमें उत्पन्न होती है। इस कारण वह प्राणातिपात का आपन्न है।

[४] 'कायविज्ञप्ति' कर्म क्या है ?

न कस्यचिदहेतोः स्याद् हेतुः स्याच्च विनाशकः ।
द्विग्राह्यं स्यान्नचाणौ तद्वाग्विज्ञप्तिस्तु वाग्ध्वनिः ॥३॥

२ वी-३ वी. निकाय की शिक्षा है कि कायविज्ञप्ति संस्थान है, यह गति नहीं है। क्योंकि विनष्ट होने के कारण सब संस्कृत क्षणिक हैं। अन्यथा किसी का अहेतुक विनाश न होगा और उत्पादक हेतु विनाशक हेतु भी होगा।[1] कायिकी विज्ञप्ति चेतनावश काय का एवं प्रकार का संस्थान है।

एक दूसरे निकाय के अनुसार अर्थात् वात्सीपुत्रीयों के अनुसार[2] कायिकी विज्ञप्ति गति[3] है क्योंकि गति (इंजित ?) के होने पर ही इसकी उत्पत्ति होती है। जब गति नहीं होती तब यह नहीं होती।[4]

आचार्य उत्तर देते हैं—नहीं, क्योंकि सर्व संस्कृत क्षणिक है। क्षणिक का क्या अर्थ है?

आत्मलाभ के अनन्तर विनष्ट होना 'क्षण' शब्द का अभिधान है (आत्मलाभाद् अनन्तर विनाशी, पाठान्तरे 'आत्मलाभो' इति, व्या० ३४५-१६)। क्षणिक वह धर्म है जिसका क्षण है, जैसे दण्डिक वह है जो दण्ड का वहन करता है।[5] आत्मलाभ के अनन्तर संस्कृत का अस्तित्व नहीं होता।

जब एक सत्व ध्यान समापन्न होता है जिसका अर्थ है 'कि वह कामधातु के क्लेशों से विरक्त है तो वह उन व्रतों का वाचन नहीं करता जिनसे प्राणातिपात विरति का समादान होता है। वह 'वाग्विज्ञप्ति' का उत्पाद नहीं करता जिससे भिक्षु उस 'अविज्ञप्ति' का उत्पाद करता है जिससे उसकी भिक्षुता सिद्ध होती है और जिसे संवर (४-१३) कहते हैं। किन्तु ध्यान की अवस्था का चित्त पर्याप्त रूप से पटु होता है और वह स्वयं 'वाग्विज्ञप्ति' की सहायता के बिना एक 'अविज्ञप्ति'—कर्म, संवर उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

१. [संस्थानं कायिकीष्यते, विज्ञप्तिर्न गतिर्नाशात् संस्कृतम् क्षणिकं यतः।] न कस्यचिदेहेतोः (स्याद्) हेतुरेव विनाशकः।

२. भाष्य में 'अपरे' (दूसरों के अनुसार) है। व्याख्या के मत में 'अपरे' से 'वात्सीपुत्रीय' इष्ट हैं (व्या० ३४५-१६); जापानी सम्पादक की विवृति सम्मितीयों का उल्लेख करती है।

३. धम्मसंगणि के अनुसार कायविज्ञप्ति 'अभिक्रम, प्रतिक्रम, आलोकन, विलोकन, प्रसारण, सम्मिंजन, आदि' है।

४. शुआंन्-चाङ्: "क्योंकि जब काय इंजित होता है तो कर्मवश यह इंजित होता है।"

५. क्षणिकः क्षणे भवः क्षणोऽस्यास्तीति वा। व्याख्या में इतना अधिक है—"अथवा क्षण कालपर्यन्त है" (व्या० ३४५,१८), (३-८५ डी०), २-४६ ए० बी० देखिये। 'क्षण' पर १९३१, "दि मोमेण्ट आफ़ बुधिस्ट्स"—संघभद्र, ३३, पृ० ५३३, वसुबन्धु के लक्षणों की आलोचना करते हैं। "डाकुमेण्ट्स आफ़ अभिधर्म" देखिये।

[५] यह उस प्रदेश में विनष्ट होता है जहाँ इसकी उत्पत्ति होती है; यह उस प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जा सकता। इसलिए कायिकी विज्ञप्ति गति नहीं है।

वात्सीपुत्रीय कहते हैं—यदि संस्कृत क्षणिक हैं, तो हम स्वीकार करेंगे कि वह गतिशील नहीं हैं।

यह सिद्ध है कि वह क्षणिक हैं "क्योंकि उनका अवश्य व्यय होता है।[1]" क्योंकि भावों का विनाश आकस्मिक है। यह विनाश अकस्मात् होता है (अकस्माद्भव), यह अहेतुक है (व्या० ३४५-२०)।

१. जो सहेतुक है वह 'कार्य' है। नाश (विनाश) अभाव है। अभाव कैसे कार्य होगा? इसलिए विनाश अहेतुक है (अकार्यत्वादभावस्य)।

२. विनाश अहेतुक है, इसलिए संस्कृत उत्पत्ति के अनन्तर ही विनष्ट होता है। यदि यह उत्पन्न मात्र नहीं हो तो यह पीछे विनष्ट नहीं होगा। क्योंकि यह अपरिवर्तित अवस्था में रहता है। क्योंकि आप स्वीकार करते हैं कि संस्कृत का विनाश है, इसलिए आप को स्वीकार करना होगा कि यह समनन्तर ही विनष्ट होता है।[2]

३. क्या आप कहेंगे कि भाव में विपरिणाम होता है और इसलिए यह आगे चलकर विनष्ट होगा? यह कहना अयुक्त है कि एक अर्थ में विपरिणाम होता है अर्थात् वह एक दूसरा अर्थ हो जाता है और साथ ही साथ वह वही अर्थ बना रहता है, जो आप कहते हैं कि अपने लक्षणों को विपरिणत होते देखता है (२.४६ ए, पृ० २३३)।

४. क्या आप कहेंगे कि प्रत्यक्ष (दृष्ट) से गरिष्ठ कोई दूसरा प्रमाण नहीं है और लोक में देखा जाता है कि अग्नि-संयोग से काष्ठ का विनाश होता है और इसलिए यह अयथार्थ है कि सब अर्थों का विनाश अहेतुक है? इस सम्बन्ध में हमें कुछ विचार उपस्थित करना है। वास्तव में लोक में अग्निवश काष्ठ का विनाश प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। यदि आप सोचते हैं कि अग्नि-संयोग से काष्ठ का विनाश होता है तो इसका कारण यह है कि जब यह संयोग होता है तो काष्ठ का पुनः दर्शन नहीं होता। आपकी प्रतिज्ञा अनुमान पर, न कि प्रत्यक्ष प्रमाण पर, आश्रित है और आपका अनुमान असिद्ध है।

[६] अग्नि-संयोग होने के अनन्तर हम काष्ठ को नहीं देखते। इसके दो निरूपण हैं—या तो इस संयोगवश काष्ठ का विनाश होता है अथवा काष्ठ निरन्तर स्वतः विनष्ट होता

---

१. ह्यून्त्संग "क्योंकि यह आगे चलकर विनष्ट होता है।"

२. विनाश अहेतुक है—कोश २-४६ देखिये; मध्यमकवृत्ति, पृ० २६, टिप्पणी ५-१७३, टिप्पणी ८, २२२, ४१३—षड्दर्शनसमुच्चय (सुआली का संस्करण, ४६) सौत्रान्तिकों का एक सूत्र उद्धृत करता है—पंचेमानि भिक्षवः संज्ञामात्रं प्रतिज्ञामात्रं संवृतिमात्रम् व्यवहारमात्रम्। कतमानि पंच अतीतोऽध्वा अनागतोऽध्वा सहेतुको विनाशः आकाशं पुद्गल इति। वेदान्तसूत्र, २-२-२३; न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका (विशाखपत्तन संस्कृत सीरीज, ३८३)।

रहता है, स्वतः सामान्य अवस्थाओं में निरन्तर उत्पन्न होता रहता है, किन्तु अग्नि के साथ संयोग होने से अपना पुनरुत्पाद नहीं कर पाता।

आप स्वीकार करते हैं कि प्रदीप का विनाश आकस्मिक है, जब वायु-संयोग के अनन्तर प्रदीप फिर दिखाई नहीं देता तो आप स्वीकार करते हैं कि यह संयोग प्रदीप-विनाश का हेतु नहीं है। आप मानते हैं कि इस संयोग-वश अन्य प्रदीप की उत्पत्ति प्रतिबद्ध हो जाती है। इसी प्रकार घण्टे का शब्द है, पाणि का संयोग होने से शब्द की पुनरुत्पत्ति निरुद्ध हो जाती है। यह उस शब्द का विनाश नहीं करता जिसे आप क्षणिक मानते हैं। इसलिए यह अर्थ अनुमानसाध्य है।

५. वात्सीपुत्रीय—आकस्मिक विनाश के पक्ष में आप क्या अनुमान देते हैं?

हमने पहले ही कहा है कि अभाव होने के कारण विनाश कार्य नहीं है (अकार्यत्वादभावस्य व्या० ३४६-२१)। हम फिर कहेंगे कि यदि विनाश हेतु का कार्य होता तो किसी का विनाश अहेतुक नहीं होता। यदि उत्पाद के समान विनाश सहेतुक होता तो यह कभी बिना हेतु के न होता। किन्तु हम देखते हैं कि बुद्धि, अर्चि, शब्द जो क्षणिक हैं उनका विनाश आकस्मिक होता है, सहेतुक नहीं। इसलिए काष्ठादि का विनाश आकस्मिक है।

वैशेषिकों का मत है कि उत्तरबुद्धि के कारण पूर्व बुद्धि विनष्ट होती है, उत्तर शब्द के कारण पूर्व शब्द विनष्ट होता है, यह युक्त नहीं है क्योंकि इन दो बुद्धियों का युगपद्भाव नहीं है (असमवधान=अयुगपद्भाव व्या० ३४६-३१)।

संशयज्ञान-निश्चयज्ञान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, इन विरुद्ध बुद्धियों का समवधान नहीं होता। इसी प्रकार अविरुद्ध ज्ञानों का भी युगपद्भाव नहीं होता और यदि समवधान हो तो भी अपटु बुद्धि और शब्द पटुबुद्धि और शब्द के अनन्तर होते हैं तो अपटुधर्म कैसे समानजातीय पटुधर्मों की हिंसा कर सकते हैं?

[७] ६. स्थविर वसुबन्धु[1] प्रभृति का मत है कि अर्चि का विनाश अवस्थान् हेतु के अभाव से होता है। (अवस्थानहेत्वभावात्, व्या० ३४७.८), यह अयुक्त है क्योंकि अभाव कारण नहीं हो सकता।

वैशेषिकों के अनुसार धर्म और अधर्म वश अर्चि का विनाश होता है, यह अयुक्त है। धर्म और अधर्म, दोनों उत्पाद और विनाश के हेतु होंगे। धर्म अर्चि को उत्पन्न करता है। यदि अर्चि अनुग्रह के लिये (अनुग्रहाय) है और उसका विनाश करता है यदि अर्चि अपकार के लिये (अपकाराय) है। अधर्म अर्चि का उत्पाद करता है यदि वह अपकार के लिये है और उसका विनाश करता है यदि वह अनुग्रह के लिये है। किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा

---

१. व्याख्या (३४७-९) के अनुसार—स्थविरवसुबन्धुप्रभृतिभिरयम् हेतुरुक्तः। जापानी सम्पादक की विवृत्ति का मत—"स्थविर निकाय के अनुसार"।

सकता कि धर्म और अधर्म का वृत्तिलाभ और वृत्तिप्रतिबन्ध प्रत्येक क्षण में होता है (क्षण एव क्षणे, व्या० ३४७.१३)।[1]

इसके अतिरिक्त विनाश का यह कारण परिकल्प सब संस्कृत के लिये हो सकता है, इसलिये इस विवाद से कोई लाभ नहीं है। आपको यह कहने का अधिकार नहीं है कि अग्नि के साथ संयोग होने से काष्ठ विनष्ट होता है।[2]

७. यदि किसी का यह मत है कि काष्ठादि के विनाश का हेतु काष्ठ का अग्नि से संयोग है तो उन्हें यह मानना पड़ेगा कि जो हेतु उत्पन्न करता है वह विनाश का भी हेतु है। पाक या अग्नि-संयोग विविध पाकज को अधिकाधिक श्यामता प्रदान करता है। जो हेतु प्रथम वर्ण का उत्पाद करता है वही इस प्रथम वर्ण का विनाश करता है, अथवा यदि आपकी आपत्ति है कि अग्नि के क्षणिक होने के कारण एक नवीन अग्नि-संयोग इष्ट है तो कम से कम जो हेतु प्रथम वर्ण का विनाश करता है वह उस हेतु के सदृश है जो उसका उत्पाद करता है। किन्तु यह असम्भव है कि एक हेतु एक कार्य का उत्पाद करे और पीछे से वही हेतु अथवा एक तादृश हेतु उक्त कार्य का विनाश करे। (तर्कसंग्रह, २३. से तुलना कीजिये।)

[८] क्या आप कहेंगे कि आनुपूर्विक ज्वालाओं के भिन्न होने से, दीर्घ-ह्रस्व, बहु-अल्प होने से, हमारा सिद्धान्त युक्त नहीं ठहरता ? हम एक दूसरा उदाहरण देंगे। विशेष क्षार, हिम, तिग्म, सूर्य, उदक और भूमि की दीर्घकालिक क्रिया से पाकज पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। किन्तु आप पाक के हेतुभूत क्षारादि के स्वभाव को क्षणिक नहीं मानते।

८. यह प्रश्न[3] होगा कि यदि अग्नि-संयोग जल का विनाशक नहीं है तो क्वाथ किये जाने पर जल क्यों क्षीण होता है। अग्नि-संयोग के कारण, अग्नि-बल से, जल में विद्यमान तेजोधातु का (२, २२, पृ० १४६) संवर्द्धन होता है और इसके प्रभाव से जल-संहात

---

१. 'क्षण एव क्षणे' का अर्थ 'क्षणे क्षण एव' हो सकता है (व्या० ३४७-१३)। इसकी टीका 'तस्मिन्नेव क्षणे' है। हम अनुग्राहक आलोक का विचार करें—यह धर्म के कारण उत्पन्न होता है, अधर्म के कारण उसी क्षण में विनष्ट होता है; धर्म के कारण पुनरुत्पन्न होता है···। हम अपकारक का विचार करें—यह अधर्म के कारण उत्पन्न होता है, धर्म के कारण विनष्ट होता है···। अथवा क्षण एवं क्षणे=मुख्ये क्षणेऽनौपचारिके क्षणे (व्या० ३४७-१२)।

२. व्याख्या ३४७-२२—शक्यश्चैष कारणपरिकल्प इति विस्तरः। धर्मादधर्मविनाश इति कारणपरिकल्प इति सर्वत्रसंस्कृते द्व्यणुकादौ अनित्येषु रूपादिषु कर्मणि च शक्यते कर्तुं अतो न वक्तव्यम् एतदग्निसंयोगात् काष्ठादीनां विनाश इत्येवमादि। तृतीय परिच्छेद का अनुवाद यथार्थ नहीं है—'डाकुमेण्टस आफ् अभिधर्म' देखिये। पाँचवें परिच्छेद में न्यायवार्तिक ३, २, १४, पृ० ४१७ उद्धृत है, 'ननु जनकं विनाशकं प्राप्नोति, च एवाग्निसंयोग···'।

३. जापानी सम्पादक के अनुसार सम्मितीय।

क्षामक्षामतर होता है (क्षामक्षाम व्या० ३४८.६) । यहाँ तक कि अतिक्षामता (अभिक्षामता) को प्राप्त हो अन्त में जल पुनः सन्तान को नहीं फैलाता (न पुनः सन्तानम् सन्तनत, व्या० ३४८.११ इति) अग्नि-संयोग यह कार्य करता है ।[1]

६. सिद्धान्त-वस्तुओं का विनाश आकस्मिक है। वस्तु स्वयं विनष्ट होते हैं क्योंकि वह स्वभावतः भंगशील हैं (भंगुरत्वात्, व्याख्या, ३४८.१२) । क्योंकि वह स्वयं विनष्ट होते हैं इसलिये वह उत्पन्नमात्र हो विनष्ट होते हैं। क्योंकि वह उत्पन्नमात्र हो विनष्ट होते हैं इसलिये वह क्षणिक हैं। इसलिये कोई चलन नहीं है, कोई गति नहीं है। सन्तान के दूसरे क्षण में देशान्तर में उत्पादमात्र होता है जैसा कि हमारे प्रतिपक्षी भी तृण का दाह करने वाली ज्वाला के सम्बन्ध में मानते हैं। देशान्तर में निरन्तर उत्पाद्यमान होने से गति का अभिमान होता है। इसलिये काय-विज्ञप्ति गति नहीं है, इसलिये काय-विज्ञप्ति संस्थान है।

[६] सौत्रान्तिक का कथन है कि संस्थान एक पृथक् वस्तु, एक अन्य द्रव्य (अन्यद् द्रव्यम्) नहीं है। वैभाषिकों के मत से रूपायतन एक पक्ष में नीलादि वर्ण रूप है, दूसरे पक्ष में दीर्घादि (१.१० ए) संस्थान रूप है। सौत्रान्तिक के लिये संस्थान द्रव्यसत् नहीं है किन्तु प्रज्ञप्तिमात्र है।

जब एक दिशा में (एकदिग्मुखे व्या० ३४८.१६) वर्ण-रूप का बहुतर (भूयसि) संहात उत्पन्न होता है तो इस संहात को 'दीर्घ' की संज्ञा देते हैं (व्या० ३४८.२०) । जब अपेक्षाकृत वर्ण, रूप-संहात अल्प होता है तो उसे 'ह्रस्व' कहते हैं। जब चारों दिशाओं में वर्ण-रूप बहु-मात्रा में उत्पन्न होता है तो इसे 'चतुरस्र' कहते हैं। जब यह सम रूप से प्रत्येक दिशा में उत्पन्न होता है तो इसे वर्तुल की संज्ञा देते हैं। इसी प्रकार उन्नत, अवनत आदि अन्य संस्थानों को समझना चाहिये, जब ऊर्ध्वदिशा में वर्ण-रूप बहुमात्रा में उत्पन्न होता है तो उसे उन्नत कहते हैं, इत्यादि। इसलिये संस्थान द्रव्यसत्, रूप नहीं है।

१. प्रथम युक्ति—यदि संस्थान एक द्रव्य होता, तो इसी रूप का ग्रहण दो इन्द्रियों से होता।[2]

वास्तव में चक्षुरिन्द्रिय से देखने पर दीर्घत्वादि की बुद्धि होती है; कायेन्द्रिय से स्पर्श करने पर दीर्घत्व की बुद्धि होती है। इसलिए यदि दीर्घत्व या अन्य कोई संस्थान द्रव्य होता तो वह दो इन्द्रियों से गृहीत होता। किन्तु आगम वर्णित लक्षण के अनुसार रूपायतन केवल चक्षु से गृहीत होता है। निस्सन्देह वैभाषिक, कहेगा कि कायेन्द्रिय से दीर्घत्व का ग्रहण नहीं होता किन्तु केवल श्लक्ष्णत्व, कर्कशत्व आदि का ग्रहण होता है। हममें तथा संनिविष्ट श्लक्ष्ण, कर्कश आदि स्प्रष्टव्य के अवयवों में दीर्घत्व की बुद्धि होती है किन्तु दीर्घत्व स्प्रष्टव्यायतन

---

१. असंग—सूत्रालंकार, १८-८२ से तुलना कीजिये।
२. [द्विग्रहणात्]।

में संगृहीत नहीं होता। यह सर्वथा उचित है किन्तु वर्ण में भी यही होना चाहिये। दीर्घत्व-रूप नहीं है, तथा सन्निविष्ट रूप (वर्ण) या स्प्रष्टव्य (श्लक्ष्ण आदि) को 'दीर्घ' की प्रज्ञप्ति दी जाती है।

[१०] वैभाषिक उत्तर देता है—जब स्पर्श के अनन्तर हम दीर्घत्व का ग्रहण करते हैं तो यह नहीं है कि हम कायेन्द्रिय से संस्थान का ग्रहण करते हैं। हममें संस्थान के विषय में स्मृतिमात्र होता है क्योंकि स्पर्श के साथ इसका साहचर्य होता है (साहचर्यात्, व्या० ३४९-५) यथा, जब हम अग्नि का रूप देखते हैं तो उस अग्नि की उष्णता (स्प्रष्टव्य) की स्मृति होती है। जब हम एक पुष्प के गन्ध को सूँघते हैं तो उसके वर्ण की भी स्मृति होती है। आपके इन दो उदाहरणों में यह युक्त है कि वर्ण से स्पर्श का और गन्ध से वर्ण का स्मरण होता है क्योंकि इन धर्मों का अव्यभिचार है (अव्यभिचारात् व्या० ३४९-९)। सब अग्नि उष्ण है; अमुक पुष्प का अमुक गन्ध है। किन्तु कोई स्प्रष्टव्य (श्लक्ष्णत्व आदि) संस्थान विशेष में नियत नहीं है। फिर स्प्रष्टव्य के ग्रहण से संस्थान-विशेष का स्मरण कैसे होगा ? यदि स्प्रष्टव्य और संस्थान के बीच साहचर्य-नियम के न होने पर भी ऐसी स्मृति उत्पन्न हो तो इसी प्रकार स्पर्श के अनन्तर वर्ण का स्मरण होगा। अथवा कायिक उपलब्धि के अनन्तर संस्थान अनियत रहेगा, जैसे इसी उपलब्धि के अनन्तर वर्ण अनियत रहता है। स्पर्श करने पर संस्थान का ज्ञान नहीं होगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह कहना आवश्यक नहीं है कि स्प्रष्टव्य के ग्रहण से संस्थान का स्मरण होता है।

(२) द्वितीय युक्ति—एक चित्रास्तरण में हम अनेक संस्थान देखते हैं। इसलिए आपके अनुसार एक देश में ही बहु संस्थान-रूप होंगे। यह वर्णवत् अयुक्त है। [यदि संस्थान द्रव्यसत् है तो आस्तरण में जो दीर्घ रेखा का भाग है, वह साथ ही साथ एक ह्रस्व रेखा का भाग नहीं हो सकता।]

(३) तृतीय युक्ति—सब नीलादि सप्रतिघ (१.२९वी) रूप-द्रव्य में स्वभाव-विशेष के अणुद्रव्य होते हैं। नीलादि वर्णरूप अष्टद्रव्यकादि अणु में अवश्यमेव विद्यमान होता है (२. २२, अनुवाद, पृ० १४४)। किन्तु—३ स. संस्थान अणु में नहीं होता।[1]

दीर्घत्व का कोई अणु नहीं है। वास्तव में जब दीर्घ संघात का अपचय होता है तो एक क्षण आता है जिसमें उसके सम्बन्ध में दीर्घ बुद्धि का भाव नहीं होता किन्तु ह्रस्वबुद्धि होती है।

[११] इसलिए यह बुद्धि वस्तु में विद्यमान संस्थान-रूप के नहीं प्रवृत्त होती, इसलिए जिसे हम दीर्घ की प्रज्ञप्ति देते हैं वह तथा सन्निविष्ट बहु द्रव्य हैं जो वर्ण के परमाणु हैं।

यदि आपका मत है कि दीर्घादि संज्ञा तथा सन्निविष्ट संस्थान-परमाणु (संस्थान-

---

१. न चाणौ तत्। (व्या० ३५०-५)।

परमाणौ, व्या० ३५०-१२) की होती है और जो परमाणु संस्थान-स्वभाव नहीं हैं वह दीर्घादि की संज्ञा प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखते तो यह विना किसी युक्ति को सिद्ध किये केवल अपनी प्रतिज्ञा को दुहराना है। वास्तव में यदि संस्थान के परमाणु-विशेष का आस्तित्व सिद्ध होता तो आप यह कह सकते थे कि उनका तथा सन्निविष्ट संघात दीर्घत्व है। किन्तु जैसे वर्ण के परमाणुओं का भाव सिद्ध है उस प्रकार इन परमाणुओं का भाव प्रसिद्ध नहीं है। उनका संघात और सन्निवेश कैसे हो सकता है ?[1]

(४) सर्वास्तिवादिन् का आक्षेप—यदि संस्थान वर्ण से भिन्न नहीं है, यदि संस्थान वर्ण-सन्निवेश से अन्य द्रव्य नहीं है, तो जब वर्ण का भेद नहीं है तो संस्थान भिन्न नहीं हो सकता। किन्तु एक ही वर्ण के मृद्भाजन के संस्थान भिन्न होते हैं। क्या हमने नहीं कहा है कि तथासन्निविष्ट वहु द्रव्यों की 'दीर्घ' संज्ञा प्रज्ञापित होती है ? समान रूप की पिपीलिका-पंक्ति में या चक्र में सन्निविष्ट होती हैं और संस्थान-भेद होता है। इसी प्रकार वर्णभेद न होने पर भी मृद्भाजन के संस्थान भिन्न होते हैं।

(५) सर्वास्तिवादिन् का आक्षेप—किन्तु अन्धकार में और दूर से, उसके वर्ण को विना देखे, स्थाणु-पुरुष आदि विषय का संस्थान दिखाई पड़ता है। इसलिये संस्थान वर्ण से जात्यन्तर है।

[१२] वास्तव में पहले, वर्ण अव्यक्त प्रकार से दिखाई पड़ता है; पीछे मनोविज्ञान से संस्थान की वुद्धि उत्पन्न होती है, जैसे अव्यक्त प्रकार से पक्षी, पिपीलिका, गज आदि को देखकर पंक्ति, सेना का परिकल्प होता है—"यह सेना परिमंडल के रूप में सन्निविष्ट है"।[2] अन्यथा न वर्ण और न संस्थान का निर्धारण हो सकेगा (अनिर्धार्यमाणपरिच्छेद, व्या० ३५१-५५)। मनोविज्ञान से संघातमात्र का ज्ञान होगा।

(६) सर्वास्तिवादिन् सौत्रान्तिक की आलोचना करते हैं।

आप सौत्रान्तिक जो गति और संस्थान, दोनों का प्रतिषेध करते हैं बतावें कि वह क्या वस्तु है जिसे आप 'कायविज्ञप्ति' की संज्ञा से ज्ञापित करते हैं (प्रज्ञप्यते) ?

---

१. शुआन-चाङ् जिनका अनुवाद हमने ऊपर दिया है, भूल से व्यावृत्त होते हैं··· यह केवल अपनी प्रतिज्ञा को दोहराना है, क्योंकि समान परमाणुओं का सद्भाव सिद्ध नहीं है। यदि यह सिद्ध होता तो इन परमाणुओं का संघात हो सकता; किन्तु संस्थान के अवयवों का स्वभाव उस प्रकार सिद्ध नहीं है जैसे वर्ण के अवयवों का प्रसिद्ध है। [न च संस्थानावयवानां वर्णादिवत् स्वभावः सिद्धः, व्या० ३५०-१५—अर्थात् दीर्घ के अवयव दीर्घ नहीं हैं इत्यादि] यह अवयव अपने संघात से एक नियत संस्थान कैसे बना सकते ?

२. हम बिना योद्धाओं को देखे सेना को देखते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सेना का योद्धाओं से पृथक् अस्तित्व है। इसी प्रकार बिना वर्ण का निर्धारण किये हम संस्थान को देखते हैं।

हम कहते हैं कि काय-विज्ञप्ति संस्थान है, इस तरह हम वात्सीपुत्रीय साम्मितीय से भिन्न हैं किन्तु संस्थान द्रव्य नहीं है, इस तरह हम सर्वास्तिवादियों से भिन्न हैं।

सर्वास्तिवादिन्—यदि आपका मत है कि काय-विज्ञप्ति द्रव्यसत् नहीं है किन्तु केवल संस्थान है जो प्रज्ञप्तिमात्र है तो आप के अनुसार वह कौन वस्तुसत् धर्म है जो काय-कर्म है ?

काय-कर्म (कायस्य तत्र-तत्र प्रेरणा) वह कर्म है जिसका अधिष्ठान काय है (कायालम्बनम्, कायाधिष्ठानं कर्म, व्या० ३५१-१२) अर्थात् वह चेतना जो विविध प्रकार से काय की प्रणेत्री है (वर्तयति)। यह काय द्वार को आलम्बन बना प्रवृत्त होती है और इसलिए काय-कर्म कहलाती है, अन्य कर्मों का व्याख्यान यथायोग अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जानना चाहिये। [वाक्कर्म वह कर्म है जिसका अधिष्ठान वाक् है; मनस्कर्म मनस् का कर्म है या मन ने संप्रयुक्त कर्म है (४-७८ सी० डी० देखिये)]

[१३] सर्वास्तिवादिन्—सूत्रवचन है कि "कर्म चेतना और चेतयित्वा कर्म है"। यदि कायकर्म और वाक्-कर्म चेतना हैं तो सूत्र में व्याख्यात दो प्रकार के कर्मों में क्या भेद है ? दो प्रकार की चेतना हैं। पहले[1] प्रयोग की अवस्था है। इसमें एक चेतना का उत्पाद होता है जो शुद्ध चेतना है—"यह आवश्यक हैं कि मैं इस-इस कर्म को करूँ।" इसे सूत्र चेतना कर्म की संज्ञा देता है। यहाँ चेतना ही कर्म है। पीछे शुद्ध चेतना की इस अवस्था के अनन्तर पूर्वकृत संकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है, काय के संचालन या वाक्ध्वनि के निःसरण के लिये यह चेतना होती है। इसे सूत्र 'चेतयित्वा कर्म' कहता है।

सर्वास्तिवादिन्—यदि ऐसा है तो विज्ञप्ति नामक कर्म का अभाव है। आपके अनुसार काय-वाक् कर्म चेतना मात्र है; रूप स्वभाव विज्ञप्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। यदि विज्ञप्ति नहीं है तो कामावचर अविज्ञप्ति भी नहीं होगी।[2] इससे महान् दोष उत्पन्न होंगे जिनको हम आगे चल कर गिनायेंगे (संवरासंवराभाव आदि, नीचे ४ ए, बी. देखिये, व्या० ३५१-१९)।

इन दोषों के परिहार का उपाय है।[3] हम कह सकते हैं कि हमारे सिद्धान्त में अविज्ञप्ति का अच्छा निरूपण किया गया है। हम दो प्रकार की चेतना स्वीकार करते हैं, जो शरीर चेष्टा और वाग्ध्वनि को आलम्बन बनाती हैं। आपके लिये जैसे कायविज्ञप्ति और

---

१. यह शुआन-चाङ् के अनुसार है। तिब्बती भाषान्तर में इस प्रकार है—प्रथम इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न होता है। जब इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न होता है तो एक चेतना उत्पन्न होती है जिस का कर्म प्रवर्तन (वर्तयति) है और जो 'चेतयित्वा कर्म' है।

२. क्योंकि कामावचर की अविज्ञप्ति-विज्ञप्ति (कायकर्म और वाक् कर्म, रूप) के अधीन है। यह रूप धातु की अविज्ञप्ति के सदृश चित्तानुपरिवर्तिनी नहीं है। ४-७५ सी-डी भी देखिये।

३. अनुषंगानाम् पुनः प्रत्यनुषंगाः [व्या० ३५१-२०]

वाग्विज्ञप्ति हैं, वैसे हमारे लिये यह हैं। यह दो प्रकार की चेतनाएँ जो 'कार्यकर्म', 'वाक्कर्म' (कायकर्मसंशब्दित, व्या० ३५१-२१) कहलाती हैं। एक स्वतन्त्र चेतना उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखती हैं। यह चेतना अविज्ञप्ति है।

दोष कहाँ है ?

सर्वास्तिवादिन्—यह स्वतन्त्र चित्तानुपरिवर्त्तिनी (२-३१) होगी। जैसे हमारे सिद्धान्त में समाहित अविज्ञप्ति है (समाहिताविज्ञप्तिवत्, व्या० ३५१-२२)। किन्तु कामावचर अवि-ज्ञप्ति निद्रादि में (१-११) उपचित होती है।

नहीं, क्योंकि यह स्वतन्त्र चेतना व्यवसायात्मक (शुद्ध चेतना) चेतना-विशेष से जो विप्रकृष्ट हेतु है और शरीरचेष्टात्मक तथा वागात्मक चेतना-विशेष से जो आसन्न कारण है, आक्षिप्त होती है। और आपकी यह विज्ञप्ति भी यदि विद्यमान होती तो अविज्ञप्ति के आक्षेप के लिये उत्पादन-चेतना के वल की अपेक्षा करती क्योंकि यह स्वयं जड़ है।

[१४] वैभाषिक कहते हैं कि संस्थान द्रव्य है और कायविज्ञप्ति संस्थान है।

३ डी. वाग्विज्ञप्ति वाग्ध्वनि है।[1]

वागात्मक ध्वनि अर्थात् वर्णात्मक (२-४७) शब्द वाग्विज्ञप्ति है। अविज्ञप्ति का व्याख्यान पहले हो चुका है (१-११ ऊपर पृ० ३, टिप्पणी २)।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि अविज्ञप्ति भी द्रव्यतः नहीं है क्योंकि (१) किसी कर्म से विरति का अभ्युपाय करके उस कर्म का न करना मात्र ही अविज्ञप्ति है (अभ्युपेत्य अकरणमात्रत्वात्, व्या० ३५२-६); क्योंकि (२) उस वस्तु को अविज्ञप्ति कहते हैं जो अतीत महाभूतों का आश्रय ले विद्यमान होती है (अतीतानि महाभूतान्युपादाय, १, ११); किन्तु अतीत धर्मों का प्रत्युत्पन्न स्वभाव नहीं है (५-२५); क्योंकि (३) अविज्ञप्ति का लक्षण रूप का नहीं है (रूप लक्षणाभावात्, व्या० ३५२-११)। रूप का लक्षण 'रूप्यते' है; अप्रतिघ होने से अविज्ञप्ति रूप नहीं हो सकती (१-१३)।

वैभाषिक अविज्ञप्ति का अस्तित्व व्यवस्थापित करता है :—

४-ए बी. त्रिविधामलरूपोक्तिवृद्ध्यकुर्वत्पथादिभिः ।
क्षणादूर्ध्वमविज्ञप्तिः कामाप्तातीतभूतजा ॥४॥

क्योंकि शास्त्र की उक्ति है कि रूप त्रिविध है और एक अनास्रव रूप है, क्योंकि पुण्य की वृद्धि होती है, क्योंकि जो स्वयं कर्म नहीं करता उसके लिये कर्म पथ हैं इत्यादि[2]।

'आदि' शब्द से कारिका का अभिप्राय नीचे दी हुई ५-८ युक्तियों से है—

(१) सूत्रवचन है कि रूप त्रिविध है—"रूपत्रय में रूप-संग्रह है (रूपस्य रूपसंग्रहः; व्या० ३५२-२०)। एक रूप सनिदर्शन सप्रतिघ है (चक्षुर्विज्ञान से विज्ञेय); एक रूप अनि-

---

[1] वाग्विज्ञप्तिस्तु [वाग्ध्वनिः ११] [व्या० ३५१-३०]

[2] त्रिविधामलरूपोक्तिवृद्ध्यकुर्वत्पथा [वितः] [व्या० ३५२-१८]

दर्शन सप्रतिघ है (चक्षुरादि), एक रूप अनिदर्शन अप्रतिघ है।" यह अन्तिम केवल अविज्ञप्ति हो सकता है।[1]

[१५] २. सूत्र वचन है कि एक अनास्रव रूप है—अनास्रव धर्म क्या हैं? सर्व अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न रूप…सर्व अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न विज्ञान जिनके सम्बन्ध में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। यह अनास्रव धर्म हैं (एकोत्तरागम, २, २४)। किन्तु अविज्ञप्ति को छोड़कर अनिदर्शन अप्रतिघ रूप नहीं है और न अनास्रव रूप है [क्योंकि जो मार्ग-सत्य में समापन्न है वह काय-कर्म या वाक्कर्म युक्त नहीं है।]

३. सूत्रवचन है कि पुण्य की वृद्धि होती है—"…सात औपधिक पुण्य क्रिया-वस्तु हैं (४. ११३)।…जब श्रद्धा सम्पन्न (श्राद्ध) कुलपुत्र या कुलदुहिता इनसे समन्वागत हो चलता है या खड़ा होता है, सोता है या जागता है तब पुण्य की अभिवृद्धि (अभिवर्धते) अभीक्षा रूप से निरन्तर होती है (सततसमित, व्या० ३५२-३०); पुण्य की वृद्धि होती रहती है (उपजायत एवं पुण्यम्, व्या० ३५३-८)। यह सात औपधिक क्या हैं?…इसी प्रकार सात निरौपधिक पुण्य क्रियावस्तु हैं।[2]

---

१. रूपसंग्रहसूत्र—दीघ, ३-२१७, से तुलना कीजिये; विभंग, पृष्ठ १३, ६४। [व्या० ३५२-२६]

२. व्याख्या थू न्द के साथ बुद्ध के संवाद का एक भाग यहाँ उद्धृत करती है। इस सूत्रान्त का विषय दो प्रकार के पुण्य क्रियावस्तु हैं (मिनायेफ़, रिसर्चेज, पृ० १८५-१८६ और नीचे ४. ११७ ए-बी देखिये)।

सर्वास्तिवादियों के विनय में घोषित वस्तु है। उससे यह उद्धरण लिया गया है (ई० ह्यूबर 'सोर्सेज' आफ़ दिव्यावदान बी ई एफ़ ई ओ, ११०६, पृ० १८ देखिये)।

'उपधि' से (आराम, विहारादि) भिक्षु या संघ को दी हुई वस्तु अभिप्रेत है। इस उपधि से जो पुण्य उत्पन्न होता है (तद्भव) वह 'औपधिक' कहलाता है।

महाचुन्द सूत्र (मध्यम २, ४) सप्तेमानि चुन्द औपधिकानि पुण्यक्रियावस्तूनि महा-फलानि यावत् महावैस्तारिकाणि यैः समन्वागतस्य श्राद्धस्य कुलपुत्रस्य वा कुलदुहितुर्वा चरतो वा तिष्ठतो वा स्वपतो वा जाग्रतो वा सततसमितम् अभिवर्धत एव पुण्यमुपजायत एव पुण्यम्। कतमानि सप्त। इह चुन्द श्राद्धः कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा चातुर्दिशाय भिक्षु संघायारामं प्रतिपादयति। इदं चुन्द प्रथम्…। (व्या० ३५३-५)। औपधिक, सिल्वांलेवी, सूत्रालंकार, अनुवाद पृ० २०४।

निरौपधिक पुण्यक्रियावस्तु में दान नहीं होता। यह प्रधानतः वह प्रतिमामोद्य है जिसे तथागत या श्रावक के उपनिश्रय से, उनके दर्शन के लिये उपसंक्रमण से, उनसे धर्म श्रवण कर उपासक अनुभव करता है। सप्तम क्रियावस्तु में शरण-गमन और शिक्षापद का प्रतिग्रह होता है।

[१६] अविज्ञप्ति को छोड़कर किस अन्य धर्म के कारण पुण्य की वृद्धि हो सकती जब कि चित्त भी कुशल नहीं है (अन्यचित्त), जब कि पुद्गल अचित्तक है ?

४. यदि अविज्ञप्ति नहीं है तो जो स्वयं कर्म नहीं करता किन्तु दूसरे को आज्ञा देता है, वह कर्मपथ से (४.६६) समन्वागत नहीं होगा। क्योंकि जो वाक्कर्म आज्ञापन-विज्ञप्ति है, वह वधादि कर्मपथ नहीं हो सकता। यह कर्म वास्तव में उस कर्म का सम्पादन नहीं करता जिसका सम्पादन करना है।

क्या आप कहेंगे कि जब दूसरा उस कर्म को करता है तो वह कर्म जो आज्ञापन-विज्ञप्ति है, कर्मपथ हो जाता है ? किन्तु यह स्पष्ट है कि इस आज्ञा के सम्पन्न होने पर भी इस आज्ञापन-विज्ञप्ति के स्वभाव में कोई विशेष नहीं होता।

५. भगवत् ने कहा है—"हे भिक्षु ! धर्म, बाह्य आयतन[1] ११ आयतनों में असंगृहीत, अनिदर्शन, अप्रतिघ हैं" (संयुक्त १३, १८)। उन्होंने यह नहीं कहा है कि धर्मायतन अरूप है।

यदि भगवत् को अविज्ञप्ति इष्ट न होती जो रूप है और जो धर्मायतन में संगृहीत है (और रूपायतन में नहीं) तो कौन सा रूप धर्मायतन में संगृहीत होता ?

६. यदि अविज्ञप्ति नहीं है तो मार्ग अष्टांगिक नहीं है, क्योंकि तीन अंग, सम्यग्वाच्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव (४.८६) का समाधि से योग नहीं है। यदि समाधि की अवस्था में योगी इन तीन अंगों से समन्वागत होता है तो इसका कारण यह है कि यह तीन अंग स्वभाववश अविज्ञप्ति है (६.६७, ६८)।

[१७] किन्तु आप उत्तर देंगे कि सूत्र कहता है कि "जब वह इस प्रकार जानता है, इस प्रकार देखता है तो सम्यग्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, भावित और परिपूर्ण होते हैं, सम्यग्वाच्, सम्यक्कर्मान्त और सम्यगाजीव

इह चुन्द श्राद्धः कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा शृणोति तथागतं वा तथागतश्रावकं वा अमुकम् ग्रामक्षेत्रमुपनिश्रित्य विहरतीति श्रुत्वा च पुनरधिगच्छति प्रीतिप्रामोद्यमुदारं कुशलं नैष्क्रम्योपसंहितम्। इदं चुन्द प्रथमं निरौपधिकम् पुण्यक्रियावस्तु (व्या० ३५४.६)। शिक्षा समुच्चय, पृ० १३७ (रत्नराशिसूत्र), मध्यमकवृत्ति, पृ० ३०९ और टिप्पणियों में उल्लिखित उद्धरण देखिये।

पालि-अंगुत्तर, २-५०,५४ कथावत्थु ७,५ के शास्त्रार्थ परिभोगमयं पुंजं वद्धति और १०.९ समावानहेतुकं सीलं वद्धति। कथावत्थु में अविज्ञप्तिवाद के सम्बन्ध में अन्य वस्तुओं का निर्देश है, ८.९, १०.८, ११-१२ संयुत्त १.३३।

[1] व्याख्या के अनुसार यह उद्धरण इस प्रकार आरम्भ होता है—धर्मो भिक्षो [बाह्यमायतनम्]। मैं समझता हूँ कि इसका शोध इस प्रकार होना चाहिये—धर्मभिक्षो, १.३५ ए-बी, पृ० ६५ देखिये।

पहले ही परिशुद्ध हो चुके हैं।'[1] इसलिये अन्तिम तीन अङ्ग विज्ञप्ति कहे जाते हैं और समापत्ति-काल के पूर्व के माने जाते हैं। वैभाषिक का कहना है कि इस सूत्र का अभिप्राय मार्ग के अन्तिम तीन अङ्गों से नहीं है, किन्तु लौकिक मार्ग से प्रतिलब्ध वैराग्य की अवस्था के वाक्-कर्मान्त और आजीव से है। सूत्र का इससे कोई विरोध नहीं है कि वागादि अविज्ञप्ति के रूप में आर्यमार्ग में संगृहीत हों।

(७) यदि अविज्ञप्ति नहीं है तो प्रातिमोक्षसंवर (४-१४ ए)[2] का अभाव है। यदि वह धर्म नहीं है जिसके कारण कोई पुद्गल व्रत समादान कर भिक्षु या भिक्षुणी होता है तो उसका चित्त अकुशल या अव्याकृत होगा।

(८) सूत्र की शिक्षा है कि पाप-विरति एक सेतु है जो दौःशील्य का प्रतिबन्धक है।[3]

[१८] अभाव सेतु नहीं हो सकता। इसलिये विरति एक वस्तुसत् धर्म (अविज्ञप्ति) है, केवल उस कर्म का अकरणमात्र नहीं है जिससे उसने विरति-समादान लिया है, जैसा कि सौत्रान्तिक का मत है (पृ० १४, ४८)।

सौत्रान्तिक उत्तर देता है—यह तर्क अनेक और विविध हैं किन्तु यह कुछ सिद्ध नहीं करते। हम एक-एक करके इनकी परीक्षा करेंगे।

---

१. एवं जानत एवं पश्यतः सम्यग् दृष्टिः...भाविताः परिपूर्णाः। तस्य वाक्-कर्मान्ताजीवाः पूर्वं परिशुद्धाः पर्यवदाताः।

२. कथावत्थु इसका प्रतिषेध करता है कि संवर 'कम्म' है (१२-१)।

३. विरतिः सेतुभूता दौःशील्यं प्रतिबध्नाति। सुमंगलविलासिनी, ३०५ से तुलना कीजिये जहाँ एक तृतीय प्रकार की विरति, 'सेतुघात विरति' का उल्लेख है जो आर्यों का आवेणिक है और जिसका समुच्छेद नहीं है, अत्थसालिनी, पृ० १०३, समुच्छेद विरति, नीचे ५, ३३ ए-बी।

धम्म संगणि, पृ० २९९ में सम्यक् वाक् (सम्मावाचा) का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—चतूहि वचीदुच्चरितेहि आरति विरति...अनतिक्कमो सेतुघातो। बुद्ध घोस के अनुसार (अत्थसालिनी, पृ० २१९) सेतुं हनतीति सेतुघातो—सम्यक् वाणी उस सेतु का घात है जिस पर होकर वाक्-सावध गुजरते हैं। अनुवादक श्रीमती रीज डेविड्स (साइकालोजी, ८७) इस अर्थ को स्वीकार करती हैं और अंगुत्तर, १-२२०, २६१; २-१४५ का उद्धरण देती हैं। किन्तु इन स्थलों में हम सेतुघात का अर्थ सेतुबन्ध=सेतु=बांध, प्रतिबन्ध कर सकते हैं—"भगवत् ने कहा है कि मैथुन सेतुघात है।" "इसलिए, भिक्षुओं, परिहास सेतुघात हो सकता है।" "निगंठ की शिक्षा है कि कष्टतप से पूर्व कृतकर्म का विनाश होता है और अकरण से उनका सेतुघात होता है।" महाव्युत्पत्ति, २५५-९—साम्परायिकाणां सेतुसमुद्घाताय; तिब्बती भाषान्तर—"सेतु द्वारा क्लेशों का निरोध करने के लिये"; चीनी भाषान्तर—"ओघ के सदृश्य क्लेशों का निरोध करने के लिये।" मध्यमकवृत्ति पृ० ५२५ में निर्वाण का लक्षण देखिए—जल प्रवाहनिरोधभूतसेतुस्थानीयः पदार्थः।

१. सूत्र की शिक्षा है कि रूप त्रिविध है—योगाचार[1] कहते हैं कि ध्यानों में समाधिबल से एक रूप उत्पन्न होता है जो समाधि का विषय है (समाधिविषय = समाधेरा-

---

[1]. परमार्थ—योगाचार के पूर्वाचार्य—शुग्रान्-चाङ्-यू-किग्रा चे। किग्रोकुगा में एक टिप्पणी है जो ७ बी-८ ए में सुपल्लवित है।

योगियों से दृष्टरूप, सिद्धि, १४०—सौन्दरनन्द में 'योगाचार' योगी का समानार्थक है। व्याख्या से मालूम होता है कि यहाँ योगाचार से एक विशेष दर्शन में व्युत्पन्न सत्त्व अभिप्रेत नहीं है, किन्तु केवल योगी से आशय है। "जो योगाचार-मार्ग का सम्मुखी भाव करता है (मार्गं सम्मुखीकुर्वाणः व्या० ३५५-१६) वह उस आशय और आश्रय का प्रतिलाभ करता है जो सम्यग्दृष्टि के समान अनास्रवशील का प्रतिलाभ करता है। इस अनास्रवशील का प्रतिलाभ होने पर वह प्रकृतिशीलता में अवस्थान करता है।" अथवा आचार्यों को इष्ट है कि अनास्रव समाधि में भी इसी प्रकार का एक रूप अर्थात् अनास्रव रूप होता है (अनास्रवेऽपि समाधौ तदेवंविधं रूपं त आचार्या इच्छन्ति, व्या० ३५५-२२)।

शिक्षासमुच्चय, १३८, यदि भिक्षवो भिक्षुर्युक्तो योगाचारो मम शिक्षायां प्रतिपन्नः सर्वसंस्कारेष्वनित्यदर्शी...।

योगाचार पर महावस्तु, १-१०२, ६ में सम्पादक की सूचनाएँ देखिये, १-४६६। यह स्थल अस्पष्ट है।

अभिधर्म कोश में आये हुए कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं:—

१-१७, व्याख्या—योगाचारों के दर्शन में मनोधातु षड्विज्ञान से अन्य है।

१-४१, विज्ञानवादी 'विज्ञानं पश्यति' इस वाद का समर्थन करता है।

२-२४, व्याख्या योगाचार-चित्तों के अधिमुक्ति के लक्षण को (अनुवाद का पृ० १५४ टिप्पणी ५) उद्धृत करती है।

२-४४ डी. सौत्रान्तिकों द्वारा उद्धृत (अनुवाद का पृ० २१२) समापत्ति पर पूर्वाचार्यों का वाद।

३-१५ सी. गन्धर्व का लक्षण-भाष्य "पूर्वाचार्य"; व्याख्या—पूर्वाचार्या योगाचारा आर्यासंगप्रभृतयः।

३-६३ ए-बी. चन्द्र की कला-पूर्वाचार्यों का मत; व्याख्या के अनुसार 'योगाचार।'

४-७५ भाष्य—"पूर्वाचार्य" अर्थात् व्याख्या के अनुसार योगाचारों के नय में (नयेन)।

५-८, व्याख्या—योगाचारों के अनुसार (मति) १२८ क्लेश हैं।

५-४३ बी-सी अवरभागीय का लक्षण 'अपेट' के अनुसार। यह 'अपरवादी' योगाचार हैं (व्याख्या)।

६-१० ए.-बी. जो योगाचार अशुभा की भावना करता है, वह तीन प्रकार का है—आदिकर्मिक...।

लम्बनम्, व्या० ३५५-१५) अर्थात् जिसका ग्रहण समाहित आश्रय करता है, उदाहरण के लिये अशुभ भावना में अस्थिसंकल (६.९)। यह रूप चक्षुरिन्द्रिय से नहीं देखा जाता। इसलिये यह अनिदर्शन है। यह 'आवृत' नहीं करता, यह देश को आवृत नहीं करता (देशानावरण)। इसलिये यह अप्रतिघ है। यदि आप पूछें कि यह समाधि-विषय रूप कैसे हो सकता है क्योंकि इसमें रूप के परिचित लक्षण नहीं पाये जाते तो आप भूल जाते हैं कि आप की अविज्ञप्ति के सम्बन्ध में भी यही प्रश्न पूछा जा सकता है।

२. सूत्र कहता है कि एक अनास्रव रूप है।

[१९] योगचार का मत है कि समाधि-बल से जो रूप उत्पन्न होता है, वह अनास्रव है यदि समाधि अनास्रव है[1]।

अन्य आचार्य अर्थात् दार्ष्टान्तिकों[2] का मत है कि अर्हत् का रूप (चक्षुरिन्द्रिय आदि) और बाह्य रूप अर्थात् पाँच इन्द्रिय-विषय (१.९ए) अनास्रव कहलाते हैं, क्योंकि वे आस्रव के निश्रय नहीं हैं। इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि सूत्र अविशेष रूप से कहता है कि "सास्रव धर्म कौन हैं ? यत्किंचित् चक्षुरिन्द्रिय है, यत्किंचित् रूप है......।"

दार्ष्टान्तिक का उत्तर है कि इस सूत्र में जो धर्म इष्ट हैं वह सब सास्रव कहे गये हैं, क्योंकि वह आस्रवों के प्रतिपक्ष नहीं हैं, वास्तव में केवल चित्त-चैत्त विशेष ही आस्रव के प्रतिपक्ष हो सकते हैं और उनका नाश कर सकते हैं।

इसमें यह आपत्ति की जायगी कि वही धर्म पर्याय से सास्रव होंगे क्योंकि वह आस्रवों के प्रतिपक्ष नहीं हैं और अनास्रव होंगे क्योंकि वह आस्रवों के निश्रय नहीं हैं। इसका यह बुरा फल होगा कि अनास्रव और सास्रव लक्षणों का संकर होगा।

[२०] दार्ष्टान्तिक उत्तर देता है 'नहीं', क्योंकि यह धर्म उस दृष्टि से अनास्रव नहीं हैं जिस दृष्टि से यह सास्रव हैं। इसके अतिरिक्त यदि रूप और अन्य आयतन केवल सास्रव होते तो सूत्र क्यों विशेष रूप से कहता कि "सास्रव और उपादानीय रूप (सास्रव उपादानीय, व्या० ३५५-३२)...[3] सास्रव और उपादानीय धर्म चेतः खिल और अक्ष के हेतु हैं" (चेतः खिलम्रक्षवस्तु, व्या० ३५५.३२) (५.४७)।[4]

---

१. अनास्रवसमाधावनास्रवम् रूपं समाधिबलजम्।

२. जापानी सम्पादक की विवृति के अनुसार—वाद के इस वस्तु पर। १.३ डी और व्याख्या पृ० १४ देखिये।

३. संयुत्त, ३.४७, अंगुत्तर, ३.२४८ में सासव 'उपादानीय' यह पद मिलता है (उपादानस्कन्धों का लक्षण)।

४. पंचत्रेतो खिल, दीघ, ३.२३७ महाव्युत्पत्ति, १०.२४ व्यापादखिल द्वेष। हम नहीं समझते कि 'खिल' का अनुवाद 'त्साई' क्यों किया गया है, ७५ और ६।

३. सूत्र वचन है कि पुण्य की वृद्धि होती है।

पूर्वाचार्य कहते हैं कि "ऐसी धर्मता[१] है कि पुण्य की वृद्धि होती है जब आश्रयदान का प्रतिलाभ कर इस दान का उपयोग करते हैं। इन आश्रयों के गुण-विशेष के कारण (ध्यान, मैत्री भावना आदि) तथा अनुग्रह-विशेष के कारण जो वह दान से अपने लिये या सब सत्वों के लिये प्राप्त करते हैं (अनुग्रह विशेषात् = शरीरवर्णबलात्, व्या० ३५६-४) अन्यचित्त (अकुशल या अव्याकृत चित्त) दाताओं की (अन्य चेतसां दातृणाम्, व्या० ३५६-६) चित्तसन्तति उस दान-चेतना से परिभावित होती है जिसका आलम्बन प्रतिग्राहक है। यह सन्ततियाँ ऐसे सूक्ष्मपरिणाम-विशेष को प्राप्त होती हैं (सूक्ष्मम् परिणाम विशेषं प्राप्नुवन्ति, व्या० ३५६-६) कि अन्त में वह प्रभूत फल की अभिनिष्पत्ति में समर्थ होती हैं।"

इसी अर्थ में सूत्र का वचन है कि "पुण्य की निरन्तर और अभीक्ष्ण रूप में अभिवृद्धि होती है, पुण्य में वृद्धि होती रहती है।"[२]

[२१] किन्तु निरौपधिक पुण्य-क्रियावस्तु में पुण्य-वृद्धि का निरूपण कैसे हो? तथागत और श्रावक जिस चेतना के आलम्बन हैं उस चेतना के अभ्यास के कारण (तदालम्बन चेतनाभ्यासात्, व्या० ३५६-१०) चित्र सन्तति में परिणाम होता है। स्वप्न में भी (स्वप्नेषु) यह चेतना अनुषंगिणी होती है। इसके विरुद्ध हम नहीं देखते कि अविज्ञप्तिवादी वैभाषिक कैसे निरौपधिक पुण्य-क्रियावस्तु में पुण्य की वृद्धि का निरूपण कर सकते हैं। इसमें काय-विज्ञप्ति या वाग्विज्ञप्ति नहीं होती किन्तु केवल तथागत या श्रावक के प्रीति-आमोघ का अनुभव होता है। इसमें समाधि भी नहीं होती। किन्तु वैभाषिक के अनुसार केवल विज्ञप्ति या समाधि से अविज्ञप्ति का सम्भव हो सकता है। इसलिये इस पुण्य-क्रियावस्तु में इसकी सम्भावना नहीं है।

अन्य आचार्यों के अनुसार जो एक प्रकार के सौत्रान्तिक हैं, औपधिक पुण्य-क्रिया-वस्तुओं में भी पुण्य उस चेतना के अभ्यास से प्रवृत्त होता है जिसका आलम्बन प्रतिग्राहक है। परन्तु इस सूत्र के होते यह मत अग्राह्य है। सूत्रवचन है—"जब एक अप्रमादशील भिक्षु, शील से समन्वागत, कुशल धर्मों का प्रतिलाभक, दाता का पिण्डपात खाता है, तदनन्तर 'अप्रमाण' (मैत्री आदि) चेतः समाधि में समापन्न हो विहार करता है तो इस कारणवश वह निश्चय ही (प्रतिकांक्षितव्य) दायक (दानपति) के लिये पुण्याभिष्यन्द, कुशलाभिष्यन्द और

---

१. धर्माणां अनादिकालिका शक्तिः (व्या० ३५६.३)

२. शुआन् चाङ् यहाँ जोड़ते हैं—यदि कोई कहता है कि "किसी के गुण और अनुग्रह-विशेष कैसे अन्यचित्त दूसरे में किसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न करते हैं?" अविज्ञप्ति-वाद में भी यह दोष है—कैसे किसी के गुण और अनुग्रह-विशेष से अविज्ञप्ति नामक एक द्रव्यसत् दूसरे आश्रय में उत्पन्न होता है?

हित-सुख उत्पन्न करेगा।"[1] किन्तु क्या दायक, जिसका पुण्य इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है, एक चेतना-विशेष रखता है जिसका आलम्बन प्रतिग्राहक है? इसलिये पूर्वाचार्यों का यह मत अधिक युक्त है कि औपधिक पुण्य-क्रियावस्तु में प्रतिग्राहक के गुण-विशेष के कारण दाता की सन्तति के परिणाम-विशेष से पुण्य प्रवृत्त होता है।

[२२] ४. वैभाषिक के अनुसार, यदि अविज्ञप्ति का अभाव है तो जो दूसरे से कर्म सम्पादित कराता है वह कर्मपथ से समन्वागत नहीं होगा। जब वध के लिये नियुक्त पुरुष वध करता है तब यह न्याय है कि प्रयोक्ता की चित्त-सन्तति में एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है जिसके प्रभाव से यह सन्तति आपत्ति में फल की अभिनिष्पत्ति करेगी। जब कोई स्वयं कर्म करता है तब भी ऐसा ही होता है। जिस क्षण में कर्मपथ (प्राणातिपातादि) की परिसमाप्ति होती है (क्रियाफल परिसमाप्तौ, व्या० ३५६-२३) उस क्षण में सन्तति का परिणाम-विशेष होता है। इस परिणाम-विशेष को कर्मपथ कहते हैं और फलतः जिस सत्व की सन्तति में परिणाम-विशेष होता है वह कर्मपथ से समन्वागत होता है—क्योंकि कार्य में (सन्तति-परिणाम) कारण (कर्मपथ) का उपचार होता है और इस परिणाम-विशेष को कायिक कहते हैं यदि वह काय-क्रिया का फल होता है और वाचिक कहते हैं यदि वह वाक्-क्रिया का फल होता है, यथा अविज्ञप्तिवादियों की अविज्ञप्ति कर्मपथ—कायिक या वाचिक कर्मपथ—आख्यात होती है।

भदन्त[2] (विभाषा, ११८, १६) प्रकारान्तर से अविज्ञप्ति के अभाव को दर्शाते हैं—"सत्व संख्यात वर्तमान स्कन्धों में (उदात्तेषु, स्कन्धेषु, व्या० ३५७.१, ४,७३) त्रिकाल-चेतना (त्रिकालया चेतनया, व्या० ३५७.२) होने के कारण घातक प्राणातिपात के अवध से स्पृष्ट होता है (स्पृश्यते)। त्रिकाल-चेतना इस प्रकार होती है—जब वह विचारता है कि मैं घात करूँगा, मैं घात करता हूँ, वह हत है।"[3] [कर्म-पथ परिपूर्ण है—प्रयोग, मौलकर्म तथा पृष्ठ और यह केवल चेतना है, ४,६८ सी] किन्तु हम कहेंगे कि इस त्रिकाल-चेतना से कर्म-पथ की परिसमाप्ति नहीं होती क्योंकि भदन्त के वाद के अनुसार उस पुत्र का आनन्तर्य कर्म होगा (४,९७) जो कहेगा कि "मेरी माता हत हुई है" जब कि वास्तव में वध के लिए नियुक्त पुरुष ने उसकी हत्या नहीं की है। किन्तु यह चेतना-समुदाचार कि "मैं घात करूँगा, मैं घात

---

१. अंगुत्तर, २.५४ से और रत्नराशि-सूत्र से जो शिक्षासमुच्चय, पृ० १३८ में उद्धृत है, तुलना कीजिये। हमारे सूत्र के शब्द इन दोनों से भिन्न हैं। शुआन् चाङ् यहाँ तिब्बती भाषान्तर से व्यावृत्त होते हैं। वह इस प्रकार कहते हैं—पुण्याभिष्यन्द उसके सन्तान को आर्द्र करता है और अप्रमाण सुख उसके काय में प्रवाहित होता है।

२. पाउ-कुआंग के अनुसार भदन्त धर्मत्रात है (देखिये १,२० ए-बी)।

३. भाष्य उपात्तेषु स्कन्धेषु (सत्वसंख्यातेषु वर्तमानेषु स्कन्धेषु, व्या० ३५७-१) त्रिकालया चेतनया प्राणातिपातावधेन स्पृश्यते (घातक इति) हनिष्यामि, हन्मि, हतमिति चास्य यदा भवति।

करता हूँ, वह हत है" केवल उसी के युक्तरूप है जो स्वयं घात करता है (स्वयं घ्नतस, व्या० ३५७-९) भदन्त का अभिप्राय इस प्रकार के घातक से है।[1]

किन्तु सर्वास्तिवादिन् प्रश्न करता है कि यह द्वेष क्यों है कि आप अविज्ञप्ति के भाव का तो प्रतिषेध करते हैं और सन्तति परिणाम-विशेष (२,३६ सी-डी) को स्वीकार करते हैं ?

[२३] यथार्थ में सर्वास्तिवादियों की अविज्ञप्ति और सौत्रान्तिकों का सन्तति-परिणाम-विशेष, यह दोनों वाद दुःखबोध हैं। इसलिए प्रथम मत से मुझे कोई द्वेष नहीं है। किन्तु इससे हमारा परितोष नहीं हो सकता (न परितोषोऽस्माकम्) कि चित्तपूर्वक काय-प्रयोग से (चित्तान्वयकाय-प्रयोगेण, व्या० ३५७,१५) कर्म-पथ की परिसमाप्ति के क्षण में उस सत्व में जिसने कर्म-पथ की आज्ञा दी है एक धर्म-विशेष जिसे अविज्ञप्ति कहते हैं—उत्पन्न होता है जो उस सत्व के चित्त से पृथग्भूत है जिसने आज्ञा दी है और उस सत्व के काय से पृथग्भूत है जिसने घात की क्रिया सम्पन्न की है। हमारा परितोष इस विकल्प से है कि जिस क्षण में किसी सत्व द्वारा आज्ञापित प्रयोग से (यत्कृतप्रयोगसंभूत, व्या० ३५७-१६) क्रिया की परिसमाप्ति होती है, उस क्षण में इस प्रयोग-निमित्त से (तन्निमित्त, व्या० ३५७-१८) प्रयोक्तादि की चित्त-सन्तति में परिणाम होता है। और हमारा इससे भी परितोष है कि फल की उत्पत्ति सन्तति के परिणाम से होती है, न कि अविज्ञप्ति से।

इन पूर्वोक्त युक्तियों का भी विचार करना चाहिए—"विज्ञप्ति का अभाव है तो अविज्ञप्ति कैसे होगी ?", "अविज्ञप्ति किसी कर्म का अकरण मात्र है", "अविज्ञप्ति अतीत महाभूत पर आश्रित नहीं हो सकती।"

५. धर्मायतन का लक्षण अरूप नहीं बताते। इस आक्षेप का उत्तर ऊपर दिया गया है—एक अनिदर्शन, अप्रतिघ रूप है जो धर्मायतन में पर्यापन्न है। यह अविज्ञप्ति नहीं है। यह वह रूप है जो समाधि-विषय है और जो समाधि के प्रभाव से उत्पन्न होता है (ध्यायिनां समाधि-विषयो रूपम् समाधिप्रभावदुत्पद्यते, व्या० ३५७-२५)

६. वैभाषिक कहता है कि मार्ग के आठ अंग न होंगे। आप के विचार में आर्य किस प्रकार सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त और सम्यगाजीव से समन्वागत होता है जब वह मार्ग-समापन्न होता है, जब वह आर्य सत्यों का दर्शन या उनकी भावना करता है ? आपका क्या यह अर्थ है कि उसकी वाक् सम्यक् होती है, उसका कर्म यथावत् होता है, वह भिक्षु-चीवर की प्राप्ति के लिये सम्यक् आचरण करता है ? (पृ० १३४ से तुलना कीजिये) सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि हमारा विचार ऐसा नहीं है।

[२४] आर्य मार्ग में अनास्रव अविज्ञप्ति-विशेष का प्रतिलाभ करता है। अविज्ञप्तियाँ

1. शुआन् चाङ् के अनुसार—किन्तु जिसमें आश्रय-विपर्यय के बिना स्वयं घात-कर्म करते हुए यह त्रिकाल-चेतना होती है वह प्राणातिपात के अवद्य से स्पृष्ट होता है। यदि भदन्त का यह अभिप्राय है तो यह युक्त है।

ऐसी हैं कि जब वह विपश्यना से व्युत्थान करता है तो इन अनास्रव अविज्ञप्तियों के प्रभाव से वह सम्यग् वाच्, सम्यक्-कर्मान्त और सम्यगाजीव का उत्पाद करेगा और मिथ्या-वाक्, मिथ्या कर्मान्त, और मिथ्या आजीव का उत्पाद नहीं करेगा। निमित्त में नैमित्तिक का उपचार होता है। इसलिये अविज्ञप्ति की आख्या सम्यग्-वाक् सम्यक्-कर्मान्त और सम्यगाजीव की होती है। यदि ऐसा है तो आप हमारा वाद क्यों नहीं स्वीकार करते ? कोई अविज्ञप्ति नहीं है। किन्तु आर्य जब मार्ग-समापन्न होता है तो वह एवं प्रकार के आशय और आश्रय का प्रतिलाभ करता है[1] कि विपश्यना से व्युत्थान कर वह इन दो शब्दों के प्रभाव से अब सम्यक् वाक्, कर्मान्त और आजीव का उत्पाद करेगा। कारण (आशय और आश्रय) में कार्य का उपचार करते हैं और इसलिये हम कह सकते हैं कि मार्ग अष्टांगिक है।

[२५] एक दूसरे मत के अनुसार मार्गाङ्ग अक्रिया-मात्र है (तदक्रियामात्र, व्या० ३५८-२)। अक्रिया का क्या अर्थ है ? जो सत्व समापन्न होता है वह मार्ग के बल से विरति-विशेष या अकरण-नियम (६.३३ ए बी) का प्रतिलाभ करता है। यह विरति अनास्रव मार्ग के सन्निश्रय से प्राप्त होती है। इसलिए यह अनास्रव है। यह मार्ग का अङ्ग है। निस्सन्देह अङ्ग (सम्यग्वाक् आदि) 'द्रव्य' नहीं है क्योंकि यह अकरण मात्र है। किन्तु द्रव्य-सत् ही धर्म नहीं होते। उदाहरण के लिये आठ लोक-धर्मों[2] को लीजिये :—प्राप्ति, अप्राप्ति, यश, अयश, प्रशंसा, निन्दा, सुख, दुःख। चीवर पिंड पातादि की अप्राप्ति द्रव्य नहीं है—(अंगुत्तर ४.१५७, दीघ ३.२६०)।

७· वैभाषिक कहता है कि यदि अविज्ञप्ति का अभाव है तो प्रातिमोक्षसंवर का

१· आशयश्चाश्रयश्चेति। आशयः प्राणातिपाताद्यकरणाशयः श्रद्धाद्याश्रयो वा आश्रय आश्रयपरावृत्तिः (व्या० ३५७-३०)—'आशय' से प्राणातिपात-विरति का आशय या श्रद्धा का आशय समझना चाहिये। जब यह कहा जाता है कि इस योगी ने एक आश्रय-विशेष का लाभ किया है तो कहने का अभिप्राय यह होता है कि उसके आश्रय की परावृत्ति हुई है (आश्रय का व्याख्यान २.५-६.३६ सी० डी० ४४ डी० में है) पाउ कुआंग का विवेचन—'आशय' छन्द या अभिमुक्ति या छन्द और अधिमुक्ति है। 'आश्रय' चेतना है जो आशय के साथ उत्पन्न होती है। यह आशय का आश्रय है ..। 'परावृत्ति' का अर्थ व्या० ४.१४ सी में स्पष्ट दिया है—"जब माता या पिता का व्यञ्जन परावृत्त होता है अर्थात् जब व्यञ्जन-परावृत्ति के कारण मातृत्व या पितृत्व नष्ट हो जाता है।"

असङ्ग के निकाय ने 'आश्रयपरावृत्ति' शब्द दाय में पाया है, सूत्रालङ्कार, ६.१२ जैसा कि सिलवाँ लेवी कहते हैं कि परावृत्ति से अर्थ सत्व के मौलिक परिवर्तन से है, एक नवीन आश्रय के प्रादुर्भाव से है। पृथग्जन आर्य हो जाता है, स्त्री पुरुष हो जाती है, मनुष्य तिर्यक् हो जाता है इत्यादि। परिवृत्ति पर ६.४१ देखिये।

२· आठ लोक-धर्मों के अनेक और विविध लक्षण, विभाषा, । १८३-८।

अभाव होता है। इन्हीं नियमों के अनुसार हम आशय-प्रभाव का विचार कर इस आपेक्ष का प्रतिषेध करते हैं। "संवर वह चेतना है जो शील-ग्रहण (पापविरति) की विधि से सम्पन्न होने के अनन्तर, पापाकरण के अभ्युपाय के अनन्तर, अकुशल कर्मों का निरोध करती है और काय तथा वाक् का संवरण करती है (संवृणोति)।" इस प्रकार प्रातिमोक्षसंवर को समझना चाहिये। वैभाषिक का आक्षेप होगा कि यदि प्रातिमोक्षसंवर चेतना है तो वह भिक्षु जो उस चेतना-चित्त से अन्य चित्त रखता है 'संवृत' न होगा, क्योंकि उस समय वह उस चेतना से समन्वागत नहीं होता जो वाक्-काय का संवरण करती है। यह आक्षेप निरर्थक है। वास्तव में चित्त-सन्तति इस प्रकार भावित होती है (भावना) कि जब पाप चित्त प्रत्युपस्थित होता है तो प्रतिज्ञा की स्मृति भी प्रत्युपस्थित होती है। इसलिये विरति-चेतना का सम्मुखीभाव होता है।

८. और यह चेतना सेतुभूत है। जब किसी ने पापाकरण की प्रतिज्ञा ली है तो वह इस अक्रिया-प्रतिज्ञा का अनुस्मरण करता है? डी (२.३२) उपस्थित होती है; वह दौःशील्य नहीं करता।

इसके विपरीत आप के दर्शन में यदि स्मृति से पृथग्भूत एक अविज्ञप्ति सेतुभूत हो दौःशील्य का प्रतिबन्धक होती हैं तो वह सत्व भी जिसकी स्मृति का सम्भाव हो गया है (मुषित-स्मृति) शिक्षा को भिन्न नहीं कर सकता क्योंकि अविज्ञप्ति वहाँ सदा विद्यमान है— (व्य० ३५८.१४)।

हम इस विवाद को यहाँ स्थगित करते हैं। वैभाषिक कहते हैं कि अविज्ञप्ति रूप एक पृथग्भूत द्रव्य है।

[२६] हमने देखा है (१.११बी) कि अविज्ञप्ति महाभूतों का आश्रय ले (उपादाय) उत्पन्न होती है। प्रश्न है कि क्या यह विज्ञप्ति के आश्रयभूत महाभूतों से उत्पन्न होती है अर्थात् उस काय के महाभूतों से जिससे विज्ञप्ति-कर्म (४, पृ०३.२९) सम्पादित होता है अथवा यह अन्य महाभूतों से उत्पन्न होती है।[१]

जो महाभूत विज्ञप्ति के आश्रय हैं उनसे अन्य महाभूतों से अविज्ञप्ति उत्पन्न होती है क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि वही महाभूतों की सामग्री जो अविज्ञप्ति नामक सूक्ष्म उपादाय रूप (भौतिक) को उत्पन्न करती है वह विज्ञप्ति नाम के औदारिक उपादाय रूप का भी उत्पादन करे।[२] जिस काल में विज्ञप्ति का सम्भव होता है उसी काल में महाभूत भी होते हैं जिससे

---

१. यहाँ शुआन्-चाङ् में दो पाद है जो परमार्थ में नहीं है। "जो महाभूत विज्ञप्ति के आश्रय हैं उनसे भिन्न महाभूत इसके उपादान हैं (उपाददाति)" विभाषा, १३२,४।

२. कुछ आचार्य कहते हैं कि विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति एक ही चार महाभूतों से उत्पन्न होती हैं। वे प्रश्न करते हैं "कि क्या यह चार महाभूत हैं जो दो आयतन, दो रूप का उत्पाद करते हैं?"

विज्ञप्ति का उत्पाद होता है। इसी तरह क्या जिस काल में विज्ञप्ति सम्भूत होती है उस काल में सम्भूत महाभूतों का आश्रय ले अविज्ञप्ति उत्पद्यमान होती है ?

सामान्य नियम है कि सब उपादाय-रूप समानकालीन महाभूतों का आश्रय ले वर्तमान होते हैं। किन्तु किञ्चित् वर्तमान और अनागत उपादाय-रूप अतीत महाभूतों का आश्रय ले उत्पन्न होते हैं।

४. सी. डी.—प्रथम क्षण से ऊर्ध्व कामधातु की अविज्ञप्ति अतीत महाभूतों से सञ्जात हो उत्पन्न होती है।[1]

[२७] जिस क्षण में अविज्ञप्ति उत्पन्न होती है, यह सहजात महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होती है। इस प्रथम क्षण से ऊर्ध्व, ध्यानज अविज्ञप्ति और अनास्रव-अविज्ञप्ति (पृ० २८) के विपक्ष में कामावचर अविज्ञप्ति उत्पन्न होती है अर्थात् प्रथम क्षण के उन्हीं महाभूतों के उपादान से (उपादाय) जो अब अतीत हैं, उसका पुनरुत्पाद निरन्तर होता रहता है। यह अतीत महाभूत द्वितीय क्षण से अविज्ञप्ति के आश्रय हैं क्योंकि वह उसकी प्रवृत्ति के कारण हैं' वह उसके आक्षेप-कारण हैं। द्वितीय क्षण से प्रत्येक क्षण के सहजात महाभूत अविज्ञप्ति के सन्निश्रय होते हैं क्योंकि वह उसकी अनुवृत्ति के कारण हैं, वह उसके अधिष्ठान-कारण हैं। यथा जिस हाथ से चक्र फेंकते हैं वह इस चक्र के चलन का प्रवृत्ति-कारण है और जो भूमि-प्रदेश चक्र का सन्निश्रय है वह उसका अनुवृत्ति-कारण है (देखिये पृ० ३७)।

वह महाभूत कामधातु और चार ध्यान इनमें से किस भूमि के हैं जिनके उपादान से विविध भूमियों के काय और वाक् कर्म उत्पन्न होते हैं ?

स्वानि भूतान्युपादाय कायवाक्कर्म सास्रवम्।
अनास्रवं यत्र जातोऽविज्ञप्तिरनुपात्तिका ॥५॥

५. ए. सी.—सास्रव काय-वाक्-कर्म स्वकीय भूमि के महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होते हैं; अनास्रव उस भूमि के महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होते हैं जिस भूमि का वह आश्रय है जो उसका उत्पाद करता है।[2] काम-धातु का काय-कर्म या वाक्-कर्म काम-धातु के महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्य यावत् चतुर्थध्यानभूमिक काय-कर्म या वाक्-कर्म जो चतुर्थ ध्यान के महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होता है।

अनास्रव काय या वाक्-कर्म उस भूमि के महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होता है

—हाँ, वे रूपायतन और धर्मायतन, शब्दायतन और धर्मायतन का उत्पाद करते हैं।" भदन्त घोषक कहते हैं कि अभिधर्म के आचार्यों का कथन है कि ठीक नहीं है; यह असम्भव है कि वही चार महाभूत एक सूक्ष्म फल और एक औदारिक फल उत्पन्न करते हैं (विभाषा, १३२.४)।

१. क्षणादूर्ध्वम् अविज्ञप्तिः कामाप्ताऽतीतभूतजा—(व्या० ३५८-३०)।

२. सास्रवं काय-वाक्-कर्म [स्वकीयभूतहेतुकम्। अनास्रवम्...]

जहाँ उस आश्रय की उत्पत्ति होती है जो उसका उत्पाद करता है; क्योंकि अनास्रव-धर्म (काम आदि) धातुओं में अपतित हैं; क्योंकि अनास्रव महाभूतों का अभाव है जिनसे अनास्रव-कर्म की उत्पत्ति हो सकती थी; क्योंकि अनास्रव काय-वाक्-कर्म की उत्पत्ति महाभूतों के वल से है न कि केवल चित्त-वल से क्योंकि यह उपादाय-रूप है (विभाषा, १४०,१५)। विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति इन दो कर्मों के क्या लक्षण हैं ? जिन महाभूतों के उपादान से इनकी उत्पत्ति होती है उनके क्या लक्षण हैं ?

१. आचार्य प्रथम अविज्ञप्ति की परीक्षा करते हैं—

नैष्यन्दिकी च सत्वाख्या निष्यन्दोपात्तभूतजा।
समाधिजौपचयिकानुपात्ता भिन्नभूतजा ॥६॥

[२८] ५. डी. ६—अविज्ञप्ति अनुपात्तिक है; यह नैष्यन्दिकी भी है; यह केवल सत्वाख्या है। नैष्यन्दिक, उपात्त, विनिर्भक्त महाभूतों के उपादान से असमाहित उत्पन्न होती है। समाधिज अविज्ञप्ति अभिन्न, अनुपात्त, औपचयिक महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होती है।[1]

१. अविज्ञप्ति[2] अमूर्त, अप्रतिघ उपादाय-रूप है, इसलिए इसके चित्त-चैत्त के अधिष्ठान-भाव का अयोग है; इसलिए यह अनुपात्त है (१,३४ सी)।

अविज्ञप्ति कभी अव्याकृत (४.७ ए) नहीं होती, इसलिए यह 'विपाकज' (१.३७) नहीं है; यह औपचयिक (१.३६) नहीं है; परिशेष से यह नैष्यन्दिकी (१.३६) होती है अर्थात् सभागहेतु (२.५२) से उत्पन्न होती है। [कारिका में 'नैष्यन्दिकी च' कहा है क्योंकि अविज्ञप्ति क्षणिक (१.३८ वी) भी हो सकती है; प्रथम अनास्रव अविज्ञप्ति नैष्यन्दिकी नहीं है।]

२. असमाहित, विक्षिप्त अथवा दूसरे शब्दों में कामाप्त अविज्ञप्ति, नैष्यन्दिक[3] और उपात्त महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होती है। यह महाभूत विनिर्भक्त होते हैं क्योंकि प्राणातिपात-विरति आदि सात अविज्ञप्तियों में से प्रत्येक जो प्रातिमोक्ष-संवर से युक्त होती है, चार महाभूतों से भिन्न एक समुदाय से उत्पन्न होती है।

[२९] ३. ध्यान-संवर और अनास्रव संवर यथाक्रम सास्रव और अनास्रव समाधि से उत्पन्न होते हैं। यह दोनों समान रूप से समाधिज कहलाते हैं। समाधिज अविज्ञप्ति या संवर उन औपचयिक महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होता है जो समाहित चित्तवश (१,३७ ए)

---

1. शुआन्-चाङ् के अनुसार मूल अधिक संक्षिप्त है :—
अविज्ञप्तिरनुपात्तिका। नैष्यन्दिकी च सत्वाख्या निष्यन्दोपात्तभूतजा। समाधिजानुपात्तौपचयिकाभिन्नभूतजा ॥—[व्या० ३५९,१५]

2. तिब्बती भाषान्तर में यह पहला परिच्छेद नहीं है। मैंने शुआन्-चाङ् और व्याख्या के अनुसार पहले परिच्छेद को व्यवस्थित किया है।

3. व्याख्या :—समुत्थापकचितापेक्षत्वादसमाहितचिताविज्ञप्त्यधिकाराच्च नस्वप्नसमाध्याद्यौपचयिकमहाभूतजा। [व्या० ३५९-२६]

अनुपात्त महाभूतों से उत्पद्यमान होते हैं। सात विरतियाँ जो संवर हैं भिन्न हैं। किन्तु प्राणातिपात-विरति से लेकर सम्भिन्न प्रलाप तक चार महाभूतों के एक ही समुदाय से उत्पन्न होते हैं। जैसे इन विरतियों का उत्पादक चित्त अभिन्न है उसी प्रकार महाभूत जिन पर विरतियाँ आश्रित हैं, अभिन्न हैं।

२. विज्ञप्ति के सम्बन्ध में।

विज्ञप्ति नैष्यन्दिकी है; काय-विज्ञप्ति उपात्त है[1]।

प्रश्न है कि काय-विज्ञप्ति उत्पन्न हो कर पहले से वर्तमान विपाकभूत संस्थान-सन्तान का नाश करती है या नहीं ? दोनों विकल्पों में कठिनाई है। यह असम्भव है कि यह उसका नाश करती है क्योंकि यह वैभाषिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध है कि विपाकस्वभाव रूप का व्युच्छिन्न होने के अनन्तर (१.३७ अनुवाद, पृ० ६९) पुनः प्रबन्ध होता है। यदि विपक्ष में काय-विज्ञप्ति पूर्ववर्ती संस्थान का नाश नहीं करती तो एक ही प्रदेश में दो संस्थान, (संस्थानद्वय) पहला विपाक का, दूसरा निष्यन्द का, युगपत् पाये जायेंगे। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि काय-विज्ञप्ति निष्यन्द स्वभाव नवीन महाभूतों के उपादान से सञ्जात हो उत्पन्न होती है और पूर्ववर्ती संस्थान का नाश नहीं करती।

यदि ऐसा है तो जिस अङ्ग से काय-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है वह पहले की अपेक्षा महीयान् होगा क्योंकि यह उन नवीन महाभूतों से अभिव्याप्त होता है (अभिव्यापन) जो इस विज्ञप्ति के आश्रय हैं। यदि इन नवीन भूतों से अङ्ग अभिव्याप्त न होता तो हम यह नहीं कह सकते थे कि कृत्स्न अङ्ग से विज्ञापन होता है।

हमारा उत्तर है कि विपाक-स्वभाव काय में सुषिर हैं (शुषिरत्वात् कायस्य, व्या० ३६०.२१) इसलिये नव महाभूतों के लिये जो निष्यन्दस्वभाव हैं और जिनसे विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, काय में अनुप्रवेश के लिये अवकाश है।

[३०] हमने कहा है कि कर्म दो प्रकार का है—चेतना और चेतनाकृत; तीन प्रकार का है—मानसिक, कायिक, वाचिक; पाँच प्रकार का है—चेतना, काय-विज्ञप्ति, काय-अविज्ञप्ति, वाग्-विज्ञप्ति, वागविज्ञप्ति। जातिभेद से कौन कर्म कुशल है, कौन अकुशल है, कौन अव्याकृत है ?[2] किस कर्म का कौन धातु है, कौन भूमि है ?

---

[1] शुआन्-चाङ् इस वाक्य को दो पादों में विभक्त करते हैं—"विज्ञप्ति केवल नैष्यन्दिकी है...।" शुआन्-चाङ् का भाष्य जोड़ता है—"शेष असमाहित की अविज्ञप्ति के समान है।"

यह शास्त्र विरुद्ध है। शास्त्रवचन है—यानीमानि उपासकस्य पञ्चशिक्षापदानि एषां कति उपात्तानि कति अनुपात्तानि। आह—सर्वाण्यनुपात्तानि (व्या० ३९०-११)।

यह निर्देश अदोष है क्योंकि यह अविज्ञप्तिलक्षण शिक्षापदों के सम्बन्ध में है अथवा क्योंकि यह बाहुलिक है (बाहुलिकत्वात्)

[2] अव्याकृत, देखिये—२.५४,४.९ सी० के अन्त में।

नाव्याकृतास्त्यविज्ञप्तिस्त्रिधान्यदशुभं पुनः ।
कामे रूपेऽप्यविज्ञप्तिर्विज्ञप्तिः सविचारयोः ॥७॥

७ ए.—अविज्ञप्ति कभी अव्याकृत नहीं होती ।[१] इसलिये यह कुशल, अकुशल है ।

वास्तव में अव्याकृत चेतना दुर्बल होती है; यह अविज्ञप्ति के सदृश एक बलवत् कर्म का उत्पाद करने में समर्थ नहीं है । अविज्ञप्ति अपने पूर्व हेतु के अभाव के अनन्तर भी अपना पुनरुत्पाद करती रहती है ।

७. बी.—अन्य कर्म त्रिविध हैं ।[२]

अन्य कर्म अर्थात् चेतना और विज्ञप्ति कुशल, अकुशल, अव्याकृत हो सकते हैं ।

७ बी०-सी०—कामधातु में अशुभकर्म ।[३]

अन्य धातुओं में नहीं क्योंकि अन्य धातुओं में तीन अकुशलमूल (४.८ सी-डी और ५.१९), आह्रीक्य और अनत्रपा (२.२६ सी-डी) का अभाव होता है ।

अकुशल कर्म के लिये ही कारिका का यह प्रतिबन्ध है; इसलिये तीन धातुओं में कुशलकर्म और अव्याकृत कर्म होते हैं ।

७ सी०—रूपधातु में भी अविज्ञप्ति है ।[४]

'अपि' अर्थात् कामधातु में और रूपधातु में भी, आरूप्यधातु में नहीं, क्योंकि महाभूत जिनके उपादान से अविज्ञप्ति (४.६ बी) उत्पन्न हो सकती, वहाँ नहीं होते । जहाँ काय और वाक् का प्रवर्तन होता है (प्रवर्तन्ते) वहाँ ही काय-संवर और वाक्-संवर नामक यह अविज्ञप्ति होती है ।

[३१] आक्षेप—अनास्रव महाभूत नहीं होते किन्तु अनास्रव अविज्ञप्ति होती है । अनास्रव अविज्ञप्ति उस धातु के महाभूतों का आश्रय लेकर उत्पन्न होती है जहाँ वह आश्रय उपपन्न होता है जो अनास्रव अविज्ञप्ति का उत्पाद करता है । इसी प्रकार जब कामधातु और रूपधातु में उपपन्न आश्रय आरूप्य-समापत्ति में समापन्न होता है तो वह आरूप्यावचर अविज्ञप्ति उत्पन्न करता है, जो कामधातु या रूपधातु के महाभूतों के उपादान से उत्पन्न होती है ।

ऐसा नहीं है, क्योंकि अनास्रव अविज्ञप्ति धातु-पतित नहीं है (अधातुपतित); उस धातु के क्लेशों से इसका कोई साम्य नहीं है जहाँ इसको उत्पादित करने वाला उपपन्न होता है; उस धातु के महाभूत इसके न सभाग हैं, न विसभाग । इसके विरुद्ध आरूप्यावचर अविज्ञप्ति

---

१. नाव्याकृतास्त्यविज्ञप्तिः—(व्या० ३६०.३२)
२. [अन्यदेव त्रिधा]
३. [अशुभम् कामे]
४. [रूपेऽप्यविज्ञप्तिः]

कामधातु या रूपधातु के विसभाग महाभूतों के उपादान से नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त आरूप्य-समापत्ति रूपभूत अविज्ञप्ति के उत्पादन में समर्थ नहीं है, क्योंकि यह सर्वरूप से विमुख है (वैमुख्य) क्योंकि यहाँ से रूप संज्ञा विगत है।

वैभाषिक कहता है—शील दौःशील्य के प्रतिपक्ष के रूप में अवस्थान करता है—(दौःशील्य प्रतिपक्षेण, व्या० ३६१.१९) दौःशील्य का अवचर कामधातु है—रूपभूमिक शील जिसका अविज्ञप्ति लक्षण है, दौःशील्य का प्रतिपक्ष है। किन्तु आरूप्य चार दूरता से कामधातु से दूर हैं—आश्रय, प्रकार, आलम्बन, प्रतिपक्ष (२.६७, विभाषा, ९६.६)।

७ डी.—दो सविचार भूमियों में विज्ञप्ति।[1]

केवल कामधातु और प्रथम ध्यान में जहाँ विचार है (१.३२ सी, ८.७)।

काय-विज्ञप्ति या वाग् विज्ञप्ति होती है।[2]

कामेऽपि निवृता नास्ति समुत्थानमसद् यतः।
परमार्थशुभो मोक्षः स्वतो मूलं ह्रचपत्रदाम ।।८।।

८ ए.—कामधातु में भी निवृत विज्ञप्ति नहीं होती।[3] निवृत अर्थात् निवृत-अव्याकृत (२.६६), क्लिष्ट किन्तु अव्याकृत।

[३२] अपि, अविचारभूमियों में और कामधातु में भी। कामधातु में, जहाँ सर्व क्लिष्ट विज्ञप्ति अकुशल होती है और अव्याकृत नहीं होती, सदृश विज्ञप्ति नहीं होती।

अर्थात् ब्रह्मलोक में ही अनिवृताव्याकृत विज्ञप्ति होती है। यह कहा जाता है कि महाब्रह्मा ने माया से वाक्-कर्म का उत्पाद किया। वास्तव में अपने परिषद् में अश्वजित् के प्रश्न का क्षेप करने के लिये महाब्रह्मा ने मिथ्या आत्म-श्लाघा की।[4] किन्तु यदि प्रथम ध्यान से ऊर्ध्व वाग्विज्ञप्ति का अभाव है तो द्वितीय ध्यान में तथा उससे ऊर्ध्व शब्दायतन कैसे हो सकता है?

शब्दायतन होता है किन्तु वाह्य महाभूत उसके हेतु होते हैं (वाह्य महाभूतहेतुक, व्या० ३६१-३१); वायुप्रभृति का शब्दायतन[5] (१.१० बी.)। अन्य आचार्य कहते हैं; विज्ञप्ति

---

१. विज्ञप्तिः सविचारयोः (व्या० ३६१.२६)।

२. वितर्क्य विचार्य वाचं भाषते (व्या० ३६१.२७)। बी पृ० १७४—इस नियम के अनुसार।

३. कामेऽपि निवृता नास्ति (व्या० ३३१.२९)।

४. दीघ, १.१८, २२१, ऊपर २.३१, नीचे ५.४९ सी, ५३ सी, महाविभाषा, १२९.१

५. किन्तु शास्त्र का वचन है—शब्दधातुना कः समन्वागतः। आह। कामरूपावचरः। कोऽसमन्वागतः। आरूप्यावचरः। यदि रूप के सत्व शब्द से 'समन्वागत' हैं तो एक असत्व संख्यात वाह्य शब्द युक्त नहीं है। इसलिये रूप के सत्वों में पाणि आदि अङ्ग के शब्द का होना स्वीकर करना चाहिये इस आलोचना का परिहार करने के लिये अन्य आचार्य कहते हैं—विज्ञप्ति...।

द्वितीय ध्यान में तथा ऊर्ध्वध्यानों में होती है; यहाँ यह अनिवृताव्याकृत प्रकार की होती है, यह न कुशल है, न क्लिष्ट। वास्तव में जो सत्व इन ध्यानों में उपपन्न होते हैं वह एक अधर भूमि के कुशल या क्लिष्ट जाति के चित्त को सम्मुख नहीं करते (सम्मुखीकर) जिस चित्त से वह एक कुशल या क्लिष्ट विज्ञप्ति का उत्पाद कर सकते हैं, क्योंकि अधर भूमि का कुशल चित्त न्यून होता है और क्लिष्ट चित्त प्रहीण हो चुका है।[1]

[३३] किन्तु वैभाषिक प्रथम मत का समर्थन करते हैं।[2]

ब्रह्मलोक से ऊर्ध्व किसी भी विज्ञप्ति का अभाव क्यों है? कामधातु में निवृताव्याकृत प्रकार की विज्ञप्ति का अभाव क्यों है?

८ बी०—क्योंकि उस हेतु का अभाव है जिससे उसका उत्थान होता है।[3]

१. यह सवितर्क-सविचार चित्त है जो विज्ञप्ति का समुत्थापक है: द्वितीय तथा ऊर्ध्व ध्यानों में सदृश चित्त नहीं होता (४.७ डी)। २. निवृताव्याकृत चित्त इसी स्वभाव की विज्ञप्ति का समुत्थापक होता है जब यह चित्त भावनाहेय होता है (देखिये, पृ०३६ और आगे)।

कामधातु में सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त चित्त ही निवृताव्याकृत चित्त कहलाता है। यह चित्त दर्शनहेय है; इसकी अन्तर्मखीवृत्ति है (अन्तर्मुखप्रवृत्त, व्या० ३६२.२६), इसलिये इससे विज्ञप्ति का समुत्थान नहीं होता (२.६७,५.१२)। क्या केवल समुत्थापक चित्त के स्वभाववश—कुशल स्वभाववश या अकुशल स्वभाववश धर्म कुशल या अकुशल होते हैं?

चार प्रकार से धर्म कुशल या अकुशल होते हैं—परमार्थतः, स्वभावतः (आत्मतः), संप्रयोगतः, समुत्थानतः।[4]

---

१. दो मत—(१) जो विज्ञप्ति द्वितीय ध्यान तथा उससे ऊर्ध्व उत्पन्न होती है वह प्रथमध्यानभूमिक होती है क्योंकि वह ८.१३ में वर्णित नियम के अनुसार प्रथमध्यानभूमिक चित्तसे उत्पन्न होती है, यह वैभाषिकों का मत है। (२)यह विज्ञप्ति द्वितीयध्यानभूमिक तथा ऊर्ध्वध्यानभूमिक है। ऊर्ध्वभूमि की विज्ञप्ति इसलिये ऊर्ध्वभूमिक चित से उत्पन्न होती है। जब इन ध्यानों के सत्व परस्पर सम्भाषण आदि करते हैं (परस्परसम्भाषणादिकुर्वताम् व्या० ३६२-१३) तो विज्ञप्ति अनिवृताव्याकृत होती है।

२. भाष्य—पूर्वमेव तु वर्णयन्ति—शुआन् चाङ्—प्रथम मत युक्त है। जापानी सम्पादक की विवृति—यह आचार्य का मत है।

३. [नास्त्युत्थानं यतः]

४. विभाषा, १४४,११—भदन्त कहते हैं—चार कारणों से 'कुशल' शब्द का प्रयोग होता है—स्वभावतः, सम्प्रयोगतः, समुत्थानतः, परमार्थतः शुभ।—स्वभावतः शुभ-कुछ कहते हैं कि यह 'ह्री' और 'अनपत्राप्य' हैं; दूसरों का कहना है कि ये तीन 'कुशल मूल है... परमार्थतः शुभ—यह निर्वाण है; इसे शुभ कहते हैं क्योंकि यह क्षेम है।

विभज्यवादियों के अनुसार स्वभावतः शुभ 'ज्ञान' है, सम्प्रयोगतः शुभ ज्ञान सम्प्रयुक्त विज्ञानादि हैं; समुत्थानतः शुभ काय-वाक्कर्म है जो उससे समुत्थित होते हैं; परमार्थतः शुभ निर्वाण है। अकुशल के लक्षण समान हैं (स्वभावतः अशुभ, मोह)।

८. वी-सी—मोक्ष परमार्थतः शुभ है।[1]

[३४] सर्व दुःख का निरोध होने से निर्वाण परम क्षेम है,[2] इसलिये यह परमार्थतः शुभ है। उपमेय—रोग का अभाव (आरोग्य) (मज्झिम, १.५१०)।

८. सी-डी—मूल, ह्री और व्यपत्राप्य, आत्मतः कुशल हैं।[3]

तीन कुशलमूल, ह्री और व्यपत्राप्य (२.२५) अपने सम्प्रयोग और समुत्थान से पृथक् आत्मतः कुशल हैं। उपमेय—औषध।

संप्रयोगेण तद्युक्ताः समुत्थानात् क्रियादयः।
विपर्ययेणाकुशलं परमाव्याकृते ध्रुवे ॥६॥

६. ए—जो मूलादि से सम्प्रयुक्त हैं वह सम्प्रयोगतः कुशल है।[4] जो धर्म, चेतना और चैत्त कुशलमूल, ह्री, व्यपत्राप्य से सम्प्रयुक्त होते हैं वह सम्प्रयोगतः कुशल हैं। इनसे सम्प्रयुक्त होने से वह कुशल हैं; इन से असम्प्रयुक्त होने से वह कुशल नहीं हैं—उपमेयः औषधपानीय।

६. वी—क्रियादि उत्थानतः: कुशल हैं।[5]

आत्मतः कुशल या सम्प्रयोगतः कुशल धर्मों से जिनका समुत्थान होता है ऐसे काय-कर्म, वाक्कर्म, लक्षण, प्राप्ति, निरोधसमापत्ति, असंज्ञिसमापत्ति (२.३५ और आगे)[6] उत्थानतः कुशल हैं।

उपमेय उस गऊ का क्षीर जिसने औषधपानीय पिया है। प्रश्न है कि विसभाग चित्त से समुत्थापित प्राप्ति कैसे कुशल हो सकती है?[7]

---

१. [शुभः मोक्षः परमतः] कथावत्थु १६,६, क्या निर्वाण अनवद्य होने से कुशल है; भव्य कर एक वाद, अन्तिम सूची, ६।

२. अक्षेमलेशानुबन्धनाभावात्—(व्या० ३६२:२८)। अन्य कुशल ऐसे नहीं है।

३. [मूलह्री व्यपत्राप्यमात्मतः ११] दिव्य, २५५, १६ कुशलमूल, अकुशलमूल, पर ५.२० देखिये।

४. [सम्प्रयोगतस्तद्युक्तम्।]

५. [उत्थानतः क्रियादयः।]

६. तिब्बती भाषान्तर के अनुसार—परमार्थ और शुआन् चाङ्—"कायकर्म, वाक्-कर्म, और चित्तविप्रयुक्त संस्कार"। विभाषा का भी यही पाठ है। संघभद्र—कायकर्म, वाक्-कर्म, जाति आदि (लक्षण, २.४८ सी) और निरोध तथा असंज्ञिसमापत्ति की प्राप्ति।

७. जब कोई विचिकित्सा से (४.८०) कुशलमूल का प्रतिसन्धान करता है तो इन मूलों की प्राप्ति कुशल होती है किन्तु वह स्वभावतः कुशल नहीं हैं, न सम्प्रयोगतः, न समुत्थानतः, न परमार्थतः कुशल हैं। इस प्रकार उपपत्तिप्रतिलम्भिक कुशल (२-७१ बी) की प्राप्तियाँ कुशल होती हैं और चार प्रकारों में से किसी में भी संगृहीत नहीं होतीं।

संघभद्र इस आक्षेप का निराकरण करते हैं, २३-४, फोलिओ ७५, बी १७।

[३५] ६ सी. अकुशल इसके लिरुद्ध है।[1] अकुशल का अब निरूपण करते हैं :—

१. संसार सर्वदुःखप्रवृत्त्यात्मक है, इसलिये यह परमार्थेन अक्षेम है, इसलिये परम अकुशल है।

२. अकुशलमूल, आह्रीक्य और अनपत्रपा (२.२६ सी-डी) आत्मतः अकुशल हैं।

३. इनसे सम्प्रयुक्त धर्म स्वभावतः अकुशल हैं।

४. जिनका समुत्थान मूलादि से और इन मूलादि से सम्प्रयुक्त धर्मों से होता है ऐसे कायकर्म, वाक्कर्म, लक्षण (जाति आदि) और अकुशल धर्मों की प्राप्ति समुत्थानतः अकुशल हैं। उपमेय—व्याधि, अपथ्यौषध आदि।

किन्तु क्या यह आक्षेप होगा कि यत्किञ्चित् सास्रव है वह संसार में पर्यापन्न (अभ्यन्तर) हैं इसलिये किञ्चित् भी सास्रव अव्याकृत या कुशल न होगा।

परमार्थतः यह युक्त है। किन्तु इस सबको हम विपाक दृष्टि से देखते हैं, जो सास्रव धर्म दृष्टिविपाक उत्पादित करता है वह कुशल कहलता है; जो सास्रव धर्म विपाक के प्रति (विपाक प्रति) व्याकृत नहीं है, वह अव्याकृत कहलाता है—व्या० ३६३.२४, (२.५४), यदि कोइ प्रश्न करता है कि परमार्थतः अव्याकृत क्या है।

६ डी—परमार्थतः दो ध्रुव अव्याकृत हैं।[2]

[३६] अर्थात् दो असंस्कृत (१.५) आकाश और अप्रतिसंख्यानिरोध—असन्दिग्ध रूप से अव्याकृत हैं।

एक कठिनाई है। वैभाषिक की शिक्षा है कि काय या वाक्कर्म समुत्थानवश अर्थात् कुशल या अकुशल चेतनावश कुशल या अकुशल है। काय या वाक्कर्मात्मक (४.२ बी, ३डी) महाभूतों के लिये भी यही नियम होना चाहिये।

वैभाषिक का उत्तर है कि नहीं, क्योंकि कर्ता का अभिप्राय कर्म से है, महाभूतों से नहीं; कर्त्ता कर्म-विशेष करना चाहता है, महाभूत नहीं करना चाहता।[3]

किन्तु हमारा प्रश्न होगा कि किस प्रकार समाधिज अविज्ञप्ति (४.६ सी-डी) कुशल होगी? समाहितकर्ता का कोई अभिप्राय अविज्ञप्ति के विषय में नहीं होता और वह यह नहीं विचारता कि 'मैं अविज्ञप्ति करूँ।' हम यह भी नहीं स्वीकार कर सकते कि समाधि से पूर्व का असमाहित चित्त समाधिज अविज्ञप्ति का समुत्थापक है क्योंकि यह चित्त विसभाग

---

१. [तद्विरुद्धमकुशलम्]।

२. परमाव्याकृते ध्रुवे—कुशल, अकुशल, अव्याकृत पर कथावत्थ का मत १४.८ में व्याख्यात है, 'निब्बानं' अव्याकृत है, ११-१, १२-६, १४-८।

३. न महाभूतानि कुर्यामिति किं तर्हि इदं कर्म कुर्यामिति—(व्या० ३६३.३२)।

है, इसलिये समाधिज अविज्ञप्ति कुशल नहीं है। अथवा यदि वैभाषिक मत है कि यह कुशल है तो उन्हें दिव्य-चक्षु और दिव्य-श्रोत्र को जिन्हें वह अव्याकृत मानते हैं (२.७१ बी, अनुवाद, पृ०३२०, ७.४५), कुशल मानना पड़ेगा।

यह कठिनाई है जिसे दूर करने का यत्न वैभाषिक को करना चाहिये (कर्त्तयोऽत्र-यत्नः)।

यह ऊपर (४.८बी) कहा गया है कि दर्शन प्रहातव्यचित्त विज्ञप्ति का समुत्थापक नहीं है। भगवत् ने कहा है "मिथ्यादृष्टि से मिथ्यासंकल्प, मिथ्यावाक्, मिथ्याकर्मान्त, मिथ्या आजीन प्रवृत्त होते हैं।" किन्तु मिथ्तादृष्टि सत्यदर्शन से प्रहीण होती है (५ ४)। यह सूत्रवाद का निरोध नही करता वास्तव में—

समुत्थानं द्विधा हेतुतत्क्षणोत्थानसंज्ञितम्।
प्रवर्तकं तयोराद्यं द्वितीयमनुवर्तकम् ॥१०॥

१० ए-बी. समुत्थान दो प्रकार का है—हेतुसमुत्थान और तत्क्षणसमुत्थान।[1]

[३७] 'समुत्थान' वह है जिससे कर्म का आरम्भ होता है (समुत्तिष्ठते), जो हेतु और समुत्थान दोनों है यह 'हेतु समुत्थान' है। क्रियाक्षण में ही जो समुत्थान होता है वह 'तत्क्षणसमुत्थान' है।

१० सी-डी. यह यथाक्रम प्रवर्तक और अनुवर्तक हैं।[2]

हेतु समुत्थान आक्षेपक है अर्थात् उत्पादक है, इसलिये यह प्रवर्तक है। तत्क्षण-समुत्थान का क्रियाक्षण में सद्भाव है; इसलिये यह अनुवर्तक है (ऊपर पृ० २७ देखिये)।

किन्तु तत्क्षणसमुत्थान का विज्ञापन-क्रिया में (विज्ञप्ति) क्या सामर्थ्य है, जिस सामर्थ्य के कारण वह अनुवर्तक कहलाता है? यदि तत्क्षणसमुत्थान न होता तो प्रवर्तक से आक्षिप्त होने पर भी विज्ञप्ति-क्रिया नहीं होती; यथा, उदाहरण के लिये, जब कोई एक क्रिया को ("मैं ग्राम को जाऊँगा") आक्षिप्त कर अनन्तर मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसकी वह क्रिया नहीं होती। किन्तु यदि अनुवर्तक के अभाव में विज्ञप्ति नहीं होती तो जो अचिन्तक सत्व संवर का ग्रहण करता है उसके लिये विज्ञप्ति कैसे होती है?[3] (विभाषा, ११३,७)। इसलिए एक दूसरा विवेचन करना होगा। जो सचित्तक है, जिसमें विज्ञप्ति के क्षण में 'अनुवर्तक' चित्त होता है, उसमें विज्ञप्ति स्फुटतर (व्यक्ततर) होती है। इस चित्त का यह सामर्थ्य है।

---

1. समुत्थानं द्विधा हेतुतत्क्षणोत्थान संज्ञितम्।-(व्या०३६४.१०) विभाषा, ११७.१०
2. [प्रवर्तक द्वयोः पूर्वम् द्वितीयम्] अनुवर्तकम्॥
3. परमार्थ—"यदि ऐसा है तो जब एक अचित्तक सत्व अविज्ञप्ति-शील का उत्पाद करता है तो अनुवर्तक चित्त कहाँ होगा? शुआन् चाङ्—"यदि ऐसा है तो अचित्तक सत्वशील का उत्पाद कैसे करेगा?"

५

प्रवर्तकं दृष्टिहेयं विज्ञानं उभयं पुनः ।
मानसं भावनाहेयं पञ्चकं त्वनुवर्तकम् ॥११॥

११ ए-बी. दर्शनहेय विज्ञान केवल प्रवर्तक है ।[1]

[३८] दर्शनप्रहातव्य चित्त केवल विज्ञप्ति का प्रवर्तक है क्योंकि यह विज्ञप्ति के समुत्थापक वितर्क और विचार का निदान (हेतु) है ।

यह अनुवर्तक नहीं है (१) क्योंकि विज्ञप्ति के क्रिया-काल में इसका अभाव होता है । यह भावनाहेय अनुवर्तक' वहिर्मुख चित्त से प्रवर्तित होता है; (२) क्योंकि, यदि वह अनुवर्तक हो तो इसका फल यह होगा कि उससे समुत्थापित रूप (अर्थात् विज्ञप्ति) भी दर्शन प्रहातव्य होगा जिस प्रकार भावनाहेय चित्त से समुत्थापित विज्ञप्ति भावना प्रहातव्य होती है । किन्तु यह पक्ष अभिधर्म को बाधित करता है (१.४० सी-डी) ।

वास्तव में रूप (विज्ञप्ति) का विद्या या अविद्या से विरोध नहीं होता (विरुद्धयते) : इसलिये यह सत्य-दर्शन से प्रहीण नहीं हो सकता है ।[2]

सौत्रान्तिक का उत्तर है कि विद्या से रूप का अविरोध है । यह पक्ष साध्य है, क्योंकि जिसको यह इष्ट है कि दर्शन से रूप का प्रहाण होता है, वह यह ग्रहण नहीं करेगा कि विद्या से रूप का अविरोध है ।

वैभाषिक कहता है, कि यदि वह रूप (विज्ञप्ति) भी हो जो दर्शन-प्रहातव्यचित्त से समुत्थापित होता है, दर्शनप्रहातव्य हो तो इस रूप, इस विज्ञप्ति के आश्रयभूत, महाभूत भी दर्शन प्रहातव्य होंगे क्योंकि समान चित्त से उनका समुत्थान होता है । किन्तु यह अग्राह्य है क्योंकि

एक सत्व जो उपसंपाद्यमान हो तत्कालोचित काय-विज्ञप्ति को बाँधता है (काय-विज्ञप्तिमाबध्नन्, व्या० ३६५.३) । वह निरोध समापत्ति में समापन्न होता है और इसलिए अचित्तक होता है । कर्मवाचन के अवसान-काल में जब उसमें संवर की उत्पत्ति होती है तो संवरान्तर्गत काय-विज्ञप्ति कैसे होगी ?

१. प्रवर्तकम् दृष्टिहेयं विज्ञानम्—(व्या० ३६५.९) ।

२. रूप (विज्ञप्ति कर्म) का विद्या से अर्थात् दर्शन मार्ग से 'विरोध' नहीं होता अर्थात् 'प्रहाण' नहीं होता, जैसा कि सत्काय दृष्टि आदि का होता है । क्योंकि जिन्होंने सत्य का दर्शन किया है, वह भी रूप से 'समन्वागत' होते हैं । इसका अविद्या से विरोध नहीं होता जैसा कि अनास्रवमार्ग का होता है, क्योंकि क्लिष्ट अथवा अक्लिष्ट रूप (क्रिया) के समुदाचार की अवस्था में, इन रूपों की प्राप्ति (२.३६ बी०) के प्रवाह के होने पर अविद्या होती है और यह विपरीत अवस्था में भी होती है ।

इसलिये हम नहीं कह सकते कि रूप दर्शन हेय है, न यह कह कहते हैं कि यह अहेय है । यह पारिशेष्य से भावनाहेय सिद्ध होता है ।

यह महाभूत अक्लिष्टाव्याकृत धर्म हैं और यत्किञ्चित् दर्शनप्रहातव्य है वह क्लिष्ट है (२-४० सी-डी)।

[३६] आक्षेप करनेवाला कहता है कि ऐसा नहीं होगा। वास्तव में यह महाभूत अपने समुत्थापक चित्त के कारण कुशल या अकुशल नहीं होते जैसा कि विज्ञप्ति के विषय में है (४.६ डी)।

अथवा हम मान लेते हैं कि यह महाभूत दर्शनप्रहातव्य हैं। वैभाषिक फिर कहता है कि ऐसा नहीं हो सकता। महाभूत दर्शनहेय नहीं हो सकते; न वह अहेय ही हैं, क्योंकि अक्लिष्ट धर्म का विद्या या अविद्या से अविरोध है। [वास्तव में अक्लिष्ट धर्म का, चाहे वह अनिवृत्ताव्याकृत हो या कुशल सास्रव हो, विद्या से अर्थात् अनास्रव मार्ग से विरोध नहीं होता जैसा कि क्लिष्ट धर्म का होता है, जो उक्त मार्ग से प्रातिच्छेद होने के कारण नष्ट हो जाता है।]

इसलिये पूर्वोक्त सूत्र (पृ०३६, पंक्ति २५) का हमारे वद्ध से विरोध नहीं है; "दर्शनप्रहातव्य चित्त विज्ञप्ति का समुत्थापक नहीं है" क्योंकि यह सूत्र प्रवर्तकभूत मिथ्यादृष्टि का वर्णन करता है (विभाषा, ११७.१३)।

११ बी-सी. भावनाहेय मनस् द्विविध है।[1]

भावनाहेय मनोविज्ञान प्रवर्तक और अनुवर्तक दोनों है।[2]

११ डी. पाँच केवल अनुवर्तक हैं।[3]

चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच विज्ञानकाय केवल अनुवर्तक है क्योंकि वह अविकल्पक (४.१.३३) हैं (विभाषा, ११७,१०)।

इसलिये चार कोटि हैं:—

[४०] १. केवल प्रवर्त्तक, दर्शन प्रहातव्य मनोविज्ञान।
२. केवल अनुवर्तक, पाँचइन्द्रियविज्ञान आदि।
३. प्रवर्तक और अनुवर्तक, भावनाप्रहातव्य मनोविज्ञान।
४. न प्रवर्तक, न अनुवर्तक, अनास्रवचित्त।[4]

---

१. [उभयम्मनः। हेयमेव भावनया]

२. व्याख्या का निरूपण—"क्योंकि इसकी वृत्ति अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी है—(अन्तर्वहिर्मुखप्रवृत्त, व्या० ३६६-२३)।" शुआन्-चाङ्—"क्योंकि यह सविकल्पक है (सविकल्पकत्व), क्योंकि यह बहिर्मुख है"।

३. पंच कंत्वनुवर्तकम् (व्या. ३६६-२-४) शुआन्-चाङ् "क्योंकि यह बहिर्मुख प्रवृत्त होने से अविकल्पक हैं।"

४. व्याख्या का विवेचन—"क्योंकि यह चित्त समाहित है और इसकी प्रवृति अन्तर्मुखी है (समाहितान्तर्मुखप्रवृत, व्या० ३६६.२७]"—यहाँ शुआन्-चाङ् में ४.१२ डी.

क्या अनुवर्तक का वही स्वभाव है—कुशल, अकुशल, अव्याकृत जो प्रवर्तक का है ? इस विषय में कोई नियम नहीं है—

प्रवर्तके शुभादौ हि स्यात् त्रिधाप्यनुवर्तकम् ।
तुल्यं मुनेः शुभं वा तद् नोभयं तु विपाकजम् ॥१२॥

१२ ए-बी. शुभादि प्रवर्तक से त्रिविध अनुवर्तक ।[1]

शुभप्रवर्तक से शुभ अशुभ या अव्याकृत अनुवर्तक । इसी प्रकार अशुभ और अव्याकृत प्रवर्तक से समझिये ।

१२ सी. मुनि के लिये अनुवर्तक समान या शुभ होता है ।[2]

भगवत् के लिये अनुवर्तक, प्रवर्तक के समान होता है--शुभ प्रवर्तक से शुभ अनुवर्तक; अव्याकृत प्रवर्तक से अव्याकृत अनुवर्तक, अथवा अव्याकृत प्रवर्तक से शुभ अनुवर्तक होता है किन्तु शुभ प्रवर्तक से अव्याकृत अनुवर्तक कभी नहीं होता; बुद्धों की अनुशासनी म्लायमान नहीं होती ।[3]

[४१] अन्य निकायों[4] के अनुसार बुद्धों का चित्त कभी अव्याकृत नहीं होता । वह सदा समाहित होते हैं; उनकी चित्त सन्तति कुशलकैतान होती है । इसीलिये सूत्र वचन है; चलते, खड़े होते, सोते, बैठते, नाग समाहित होता है ।[5]

पठित है—"न प्रवर्तक, न अनुवर्तक, (१) अनास्रव चित्त, क्योंकि यह केवल समाधि की अवस्था में उत्पन्न होती है, (२) विपाकज चित्त, क्योंकि इसका उत्पाद बिना यत्न के आकस्मिक होता है (अनभिसंस्कारवाही)"।

१. [प्रवर्तकाच्छुभादेरनुवर्तकमपि त्रिधा ।]

२. [मुनेः समं शुभं वा तन्] शुआन्-चाङ् "सामान्यतः उसी प्रकार का अनुवर्तक, कभी दूसरे प्रकार का ।"

३. अम्लायमाना—'शिक्षा,' अनुशासनी । (व्या० ३६६-२८) शुआन् चाङ् "धर्म आदि की अनुशासनी में बुद्धों का चित्त या तो विपुल होता हैं या हीयमान नहीं होता ।"

४. जापानी सम्पादक के अनुसार महासांघिक आदि—विभाषा, ७९,१५; विभज्यवादिन् यह कह कर कि उनका चित्त सदा समाहित होता है भगवत् का स्तवन करते हैं क्योंकि स्मृति और सम्यक् ज्ञान ध्रुव हैं; वह कहते हैं कि बुद्ध में कभी सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह आवरणों से विमुक्त हैं ।

५. अंगुत्तर, ३-३४६ थेरगाथा, ६९६-६९७)—गच्छं समाहितो नागोठितो नागो समाहितो । समं समाहितो नागो निसिन्नोपि समाहितो । सब्बत्थ संवुतो नागो एस नागस्स सम्पदा ।--संस्कृत भाषान्तर में 'चरन् समाहितो' है (व्या ३६७.१) ।

व्याख्या व्यवस्थापित करती है कि सूत्र में बुद्ध भगवान् को नाग कहा है—तथागत उदायिन् सदेवकेलोके—आगो न करोति कायेन वाचा मनसा तस्मान्नाग इत्युच्यते, (व्या० ३६६.३०) आवेणिकों की द्वितीय सूची देखिये ७, ६६-६७

वैभाषिक कहते हैं कि सूत्र ऐसा इसलिये कहता है क्योंकि उनकी इच्छा के विना (अनिच्छया) भगवत् के चित्त का विसरण विषयों में नहीं होता। [भगवत् इस अर्थ में नित्य समाहित हैं कि उनकी स्मृति सदा उपस्थित रहती है—चलते वह जानते हैं कि मैं चलता हूँ।]—किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवत् अव्याकृतधर्मों से वियुक्त हैं—विभाकजधर्म ईर्यापथरूपी धर्म, निर्माणचित्त (२.६६)।

हम देख चुके हैं कि भावना प्रहातव्य मनोविज्ञान प्रवर्तक और अनुवर्तक दोनों है और कुशल, अकुशल, अव्याकृत हो सकता है। १२ डी. विपाकज उभय में से कोई नहीं है।[1]

विपाकज चित्त (१.३६, २.६०, ४.८५) विना यत्न के अकस्मात् उत्पन्न होता है (निरभिसंस्कारवाहिन्, व्या० ३६७.४)। यह न प्रवर्तक है, न अनुवर्तक।

क्या विज्ञप्ति (१) अपने प्रवर्तक के स्वभाव के अनुसार या (२) अपने अनुवर्तक के स्वभाव के अनुसार कुशल, अकुशल, अव्याकृत होती है ? इस प्रश्न का क्या उत्तर हैं ?

[४२] (१) प्रथम पक्ष सत्काय-दृष्टि और अन्तग्राह-दृष्टि प्रवर्तक हैं (४.११ ए-बी) वे निवृताव्याकृत हैं। यदि इनसे समुत्थापित विज्ञप्ति इनके स्वभाव की होती है तो कामधातु में निवृताव्याकृत कर्म होगा। किन्तु आप इसे अग्राह्य मानते हैं (४.८ बी)। यदि इस विषय में आप अपने मत पर स्थिर हैं तो आपको ४.११ ए-बी में वर्णित अपने वाद के विरुद्ध यह मानना पड़ेगा कि सब दर्शन प्रहातव्यचित्त प्रवर्तक नहीं हैं—सत्काय-दृष्टि और अन्तग्राह-दृष्टि प्रवर्तक नहीं हैं, केवल अन्य दृष्टियाँ प्रवर्तक हैं।

द्वितीय पक्ष—प्रातिमोक्षसंवर-विज्ञप्ति कुशल न होगी यदि उपसंपाद्यमान पुद्गल का चित्त किसी योग से कुशल या अव्याकृत है।

(२) वैभाषिक उत्तर देता है। जब प्रवर्तक चित्त भावनाप्रहातव्य होता है तब जिस स्वभाव का प्रवर्तक होता है उस स्वभाव की विज्ञप्ति होती है। इसका स्वभाव अपने प्रवर्तक का सा नहीं होता। जब प्रवर्तकचित्त दर्शन प्रहातव्य होता है, यथा 'आत्मा है' यह चित्त, क्योंकि इस अवस्था में प्रवर्तक और विज्ञप्ति को एक दूसरा प्रवर्तक अन्तरित करता है। यह भावनाहेय चित्त है, यह बहिर्मुख प्रवृत्त है, यह सवितर्क-सविचार है, इससे अस्त्यात्मा इत्यादि का उपदेश होता है। प्रथम प्रवर्तक अव्याकृत है; द्वितीय अकुशल है; विज्ञप्ति अकुशल है। दर्शनप्रहातव्य प्रवर्तक से भावना हेय प्रवर्तक जो कुशल, अकुशल या अव्याकृत है; इस दूसरे प्रवर्तक से उसी स्वभाव की विज्ञप्ति।

[४३] (३) किन्तु यदि अनुवर्तकवश विज्ञप्ति कुशल, अकुशल या अव्याकृत नहीं है तो सूत्र का जो विवेचन आपने दिया है (४.१० ए-बी) वह युक्त नहीं है। आपने यह कहा है कि

---

१. [नोभयं तु विपाकजम्।]

सूत्र 'दृष्टि' को प्रवर्तक मानता है और इसलिये जब सूत्र यह कहता है कि मिथ्या दृष्टि विज्ञप्ति का समुत्थापक है तो वह इस नियम का विरोध नहीं करता कि दर्शनप्रहातव्य चित्त विज्ञप्ति का समुत्थापक नहीं है और न इस उपनियम का कामधातु में निवृताव्याकृत-विज्ञप्ति नहीं होती, यह कहना चाहिये कि सूत्र के विचार में 'दृष्टि' प्रवर्तक है जिसके अनन्तर भावना हेय एक अन्य प्रवर्तक जो इसको विज्ञप्ति से व्यवहित करता है, उत्पन्न होता है। इस विषय में इतना कहना प्रर्याप्त है।

अविज्ञप्तिस्त्रिधा ज्ञेया संवरासंवरेतरा।
संवरः प्रातिमोक्षाख्यो ध्यानजोऽनास्रवस्तथा ।।१३।।

१३ ए-बी. अविज्ञप्ति त्रिविध है—संवर, असंवर नैवसंवरनासंवर।[1]

अविज्ञप्ति का व्याख्यान ऊपर (१-११, ४-३ डी) हो चुका है। यह तीन प्रकार की है—(१) संवर, यह संवर इसलिये कहलाती है क्योंकि यह दौःशील्य प्रबन्ध का संवरण करती है (संवृणोति), क्योंकि यह दौःशील्य-प्रबन्ध का विनाश या निरोध करती है; (२) असंवर, संवर का प्रतिपक्ष, संवर का अभाव (४, २४ सी-डी); (३) नैव संवरनासंवर, एक अविज्ञप्ति जिसका स्वभाव न संवर का है, न असंवर का।

१३ सी-डी. प्रातिमोक्षसंवर, अनास्रवसंवर, ध्यानज संवर।[2]

संवर त्रिविध है—(१) प्रातिमोक्ष संवर : यह कामावचरशील है, यह इस लोक के सत्वों का शील है; (२) ध्यानज, संवर रूपावचरशील है; (३) अनास्रव संवर, जो आर्य-मार्ग से उत्पन्न होता है, विशुद्ध शील है।

अष्टधा प्रातिमोक्षाख्यो द्रव्यतस्तु चतुर्विधः।
लिंगतो नामसंचारात् पृथक् ते चाविरोधिनः ॥१४॥

१४ ए. प्रातिमोक्ष अष्टविध है।[3]

[४४] इसमें भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा[4], श्रामणेर, श्रामणेरिका, उपासक (४-३०) उपासिका, उपवासस्थ (४-२८) के संवर संगृहीत हैं। यह आठ संवर प्रातिमोक्ष-संवर हैं इसलिये नाम के विचार से प्रातिमोक्ष-संवर आठ प्रकार का है।

---

१. अविज्ञप्तिस्त्रिविधेति संवरासंवरेतरा। [व्या० ३६७-२६]

२. [संवरः प्रातिमोक्षाख्यो, नास्रवो ध्यानजस्त था।]

३. [अष्टधा प्रातिमोक्षाख्यः]

४. शिक्षमाणा 'प्रोवेशनर' है। एक मत के अनुसार जिसका अर्थ तकाकासु (इत्सिंग, पृ० ३८, ९७) में दिया है 'शिक्षमाणा' वह स्त्री है जो श्रामणेरिका होने के उद्देश्य से नियमों का पालन करती है। (पालिसूचि में) यह श्रामणेरिकाओं में परिगणित

१४ वी, वास्तव में प्रातिमोक्षसंवर चार प्रकार का है।[1] चार प्रकार जिनके प्रति-नियतलक्षण हैं—भिक्षुसंवर, श्रामणेरसंवर, उपासकसंवर, उपवासस्थसंवर।

वास्तव में भिक्षुणीसंवर भिक्षुसंवर से भिन्न नहीं है, उससे पृथक् नहीं है; शिक्षमाणा और श्रामणेरिका का संवर श्रामणेर के संवर से भिन्न नहीं है; उपासिका का संवर उपासक के संवर से भिन्न नहीं है।

१४ सी, व्यञ्जन के साथ नाम वदलता है।[2]

व्यञ्जन लिङ्ग है जो पुरुप और स्त्री में विवेक करता है। व्यञ्जनवश नाम का सञ्चार होता है, भिक्षु. भिक्षुणी आदि।

[४५] जव उनका व्यञ्जन परिवृत्त होता है तव भिक्षु, भिक्षुणी हो जाता है; भिक्षुणी,

---

है। इससे हम देखते हैं कि शिक्षमाणा का विनय वही है जो श्रामणेरिका का है। किन्तु शिक्षमाणा का उद्देश्य भिक्षुणी होने का है। देखिये ४,२६ सी-डी और चुल्लवग्ग, १०.१.४. (विनय टेक्स्ट्स, १. पृ० २६६) योगाचार, प्रश्न होता है कि भगवत् ने भिक्षु-विनय के विषय में भिक्षु संवर और श्रामणेरसंवर, यह दो संवर क्यों व्यवस्थापित किये हैं जब कि भिक्षुणी-विनय के विषय में वह भिक्षुणी संवर, शिक्षमाणासंवर, श्रामणेरिकासंवर, यह तीन संवर व्यवस्थापित करते हैं। क्योंकि स्त्रियों में काम-राग का बाहुल्य होता है इसलिये वह शनैः-शनैः भिक्षुणी-संवर का समादान करती हैं। यदि वह श्रामणेरिका के नियमों के एक अल्पभाग में प्रीति और श्रद्धा दिखाती है तो उससे शिक्षमाणा के नियमों का पालन कराना चाहिये। यदि वह शिक्षमाणा के अधिकांश नियमों में प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न करती है तो उसको एकदम समस्त संवर प्रदान नहीं करना चाहिये। यह आवश्यक है कि वह दो वर्ष तक...पालन करे। ज्ञान प्रस्थान, १३, ३४ जिस श्रामणेर ने दस शिक्षापदों का समादान किया है उसे समस्त संवर प्रदान करते हैं। भिक्षुणी-धर्म में एक शिक्षमाणा क्यों हैं ? बुद्ध के समय में एक वणिक् की गर्भवती पत्नी ने, बिना जाने कि वह गर्भवती है, संसार का परित्याग किया और समग्र संवर का समादान किया...। यह व्यवस्थित हुआ कि स्त्रियाँ ६ धर्म का ग्रहण कर दो वर्ष तक नियम का पालन करें और पीछे समग्र संवर का समादान करें।

विनयमातृका सूत्र (८, २५) के अनुसार भिक्षु-संवर में २५० धर्म, भिक्षुणी-संवर में ५०० धर्म संगृहीत हैं। ज्ञान प्रस्थान, १३, ३४ के अनुसार भिक्षुणी के ५०० नियम हैं, यदि विस्तार करें तो ८०००० नियम होते हैं; भिक्षु के २५० नियम हैं, यदि विस्तार करें तो ८०००० होते हैं।

1. [द्रव्यतस्तु चतुर्विधः।]
2. [व्यंजनात् नाम संचारात्]

भिक्षु हो जाती है; इसी प्रकार श्रामणेर, श्रामणेरिका; श्रामणेरिका और शिक्षमाणा, श्रामणेर; उपासक, उपासिका; उपासिका, उपासक हो जाते हैं।

किन्तु व्यञ्जन-परिवृत्ति से पूर्व संवर के त्याग और अपूर्व संवर के प्रतिलाभ का कोई कारण नहीं है। व्यञ्जन-परिवृत्ति का यह प्रभाव नहीं हो सकता।[1]

इसलिये चार स्त्री-सम्बन्धी संवरों का तीन पुरुष-सम्बन्धी संवरों से साङ्कर्य होता है। जब आनुपूर्विक क्रम से संवर-ग्रहण होता है, पाँच शिक्षापदों (विरति) से उपासक-संवर, १० शिक्षापदों (विरति) से श्रामणेर-संवर, २५० शिक्षापदों से भिक्षुसंवर—तो क्या यह संवर एक दूसरे से केवल इसलिये भिन्न हैं कि इनकी विरति-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि का योग होता है, जिस प्रकार ५,१०,२० संख्या भिन्न हैं, जिस प्रकार एक दीनार और दो दीनार (सतेर) भिन्न हैं अथवा यह संवर प्रत्येक सकलरूप में उत्पन्न हो एक दूसरे से पृथक् हैं ?

१४ डी. संवर पृथक् हैं।[2]

यह व्यवकीर्ण नहीं हैं। उन भागों में जो इनको साधारण हैं—उपासक, श्रामणेर और भिक्षु, प्राणातिपात, अदत्तादान, काममिथ्याचार, मृषावाद, सुरामैरेय से विरत हैं—यह तीन संवर एक दूसरे से अन्य हैं।

[४६] इनका भेद अवध के निदान में है। वास्तव में जो सत्व बहुतर शिक्षापद का समादान करता है, वह इसलिये बहुतर मद (२.३३ सी-डी) और प्रमाद (प्रमादस्थान, २.२६ ए) निदान से भी निवृत्त होता है। इसी कारण वह बहुतर प्राणातिपातादि निदानों से निवृत्त होता है।[3] इसलिये तीन विरति-सन्तति मिश्रित नहीं हैं। यदि अन्यथा होता, यदि उपासक-संवर और श्रामणेर-संवर भिक्षु-संवर के अन्तर्गत होते (अन्तर्भाव) तो जो भिक्षु संवर का प्रत्याख्यान करता है (संवरं प्रत्याचक्षाणः, व्या० ३६९.४) वह एक ही समय में तीनों संवरों का परित्याग करेगा।

यह वाद किसी को ग्राह्य नहीं है। इसलिये संवर पृथक् हैं।

१४ डी. किन्तु वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।[4]

इसका सहभाव हो सकता है—उत्तर के समादान से पूर्व का परित्याग नहीं होता।[5]

---

१. जिन कारणों से संवर-च्युति होती है, उनका उल्लेख ४.३८ में है।

२. पृथक्ते।

३. व्याख्या एक उदाहरण देती है—जो भिक्षु 'त्रिकाल भोजन' से विरत होता है उसके लिये उपासक की अपेक्षा प्राणातिपात का निदान कम होता है।

४. न विरोधिनः॥

५. विभाषा, १२४.४ जो उत्तर संवर का ग्रहण करता है, वह पूर्व संवर का त्याग नहीं करता। जो उपासक श्रामणेर-संवर का समादान करता है वह उपासक की पाँच विरतियों

इस प्रकार यह निरूपित होता है कि जो भिक्षु अपनी भिक्षुता का परित्याग करता है वह उपासक और श्रामणेर संवर में स्थित रहता है।[1] उपासक, उपवासस्थ, श्रामणेर और भिक्षु कैसे होते हैं ?

पञ्चाष्टदशसर्वेभ्यो वर्ज्येभ्यो विरतिग्रहात् ।
उपासकोपवासस्थ श्रमणोद्देशभिक्षुता ॥१५॥

१५. पाँच, आठ, दस और सब वर्ज्यों के विरति-समादान से यथाक्रम उपासकत्व, उपवासस्थता, श्रमणोद्देशत्व और भिक्षुता का प्रतिलाभ होता है।[2]

[४७] १. प्राणातिपात, २. अदत्तादान ३. काममिथ्याचार, ४. मृषावाद, ५. सुरामैरेय प्रमादस्थान विरति -इन पाँच विरतियों के समादान से उपासक-संवर में प्रतिष्ठित होता है।

२. १. प्राणातिपात, २. अदत्तादान, ३. ब्रह्मचर्य, ४. मृषावाद, ५. सुरामैरेय प्रमाद-

---

का परित्याग नहीं करता; वह श्रामणेर की १० विरतियों का ग्रहण करता है; इसलिये वह एक ही समय में १५ संवरों से समन्वागत होता है...। इसलिये भिक्षु में २६५ संवर होंगे। अन्य आचार्यों का कहना है कि श्रामणेर का संवर ग्रहण कर उपासक, उपासक के ५ संवरों का त्याग नहीं करता और श्रामणेर के ५ संवर का समादान करता है। इसलिये वह १० संवरों से समन्वागत होता है...। यदि एक पुरुष एक ही समय में दो संवर, तीन संवर (उपासक, श्रामणेर, भिक्षु) से समन्वागत होता है तो वह अन्तिम संवर के अनुसार भिक्षु क्यों कहलाता है, उपासक क्यों नहीं कहलाता ?...

१. तिब्बती भाषान्तर और परमार्थ—"यदि अन्यथा होता तो जो भिक्षु के संवर का त्याग करता है, वह उपासक न होता।" ह्यू न्त्संग—सङ्घन "......उपासकादि।" जापानी सम्पादक का कथन है कि जो भिक्षु संवर का प्रत्याख्यान करता है, वह श्रामणेर हो जाता है; इसी प्रकार श्रामणेर उपासक हो जाता है।

२. पंचाष्टदशसर्वेभ्यो वर्ज्येभ्यो विरतिग्रहात् ।
उपवासकोपवासस्थ श्रमणोद्देशभिक्षुता ॥ (व्या० ३६७.३५)

दिव्य, १६० : रम्भक आरामिक ऋद्धिलमाता उपासिका श्रमणोद्देशिका चुन्दः श्रमणोद्देश उत्पलवर्णाभिक्षुणी...।

अङ्गुत्तर, २-७८ भिक्खुसु भिक्खुनीसु उपासकेसु उपासिकेसु अन्तमसो आरामिक समणुद्देसेसु।

सर्वास्तिवादियों का प्रातिमोक्ष, ५.५७ (जे० ए० एस० १९१४, ५१५)। श्रमणोद्देश जिस वाक्य का वाचन करता है, उसे व्याख्या ने नीचे (४.३० डी टिप्पणी) में दिया है। श्रमणोद्देश, श्रामणेर को कहते हैं।

६

स्थान, ६. गन्धमाल्य विलेपन, नृत्यगीतवादित, ७. उच्चशयन, महाशयन, ८. विकालभोजन— इन ८ विरतियों के समादान से उपवासस्थ संवर में प्रतिष्ठित होता है।[1]

३. इन्हीं विरतियों में जातरूप-रजत-प्रतिग्रहण-विरति को शामिल कर १० विरतियाँ होती हैं। इनके समादान से श्रामणेर-संवर में प्रतिष्ठा होती है। यह १० वस्तु होते हैं क्योंकि गन्धमाल्यविलेपन और नृत्यगीतवादित को पृथक् गिनते हैं।

४. सर्व वर्ज्य वाक्-काय-कर्म की विरति के समादान से भिक्षु होता है।

प्रातिमोक्ष-संवर—

शीलं सुचरितं कर्म संवरश्चोच्यते पुनः।
आद्ये विज्ञप्त्यविज्ञप्ती प्रातिमोक्षः क्रियापथः ॥१६॥

१६ ए० बी०—शील, सुचरित, कर्म, और संवर है।[2]

१. शील,[3] क्योंकि यह विषम का प्रतिसंस्थापन करता है, क्योंकि पाप कर्म करने वाले सत्वों के प्रति विषम आचरण करते हैं। निरुक्ति से यह शील इसलिये है कि यह शीतल करता है (शी) जैसा कि श्लोक में कहा है—"शील-समादान सुख है क्योंकि शी तप्त नहीं करता।"[4]

[४८] २. सुचरित, क्योंकि मुनियों ने इसकी प्रशंसा की है।

३. कर्म, क्योंकि इसका स्वभाव क्रिया का है।

आक्षेप—सूत्र क्या यह नहीं कहता कि अविज्ञप्ति 'अकरण' है (ऊपर पृ० १४, १७, १८ देखिये) ? अविज्ञप्ति क्रिया कैसे हो सकती है ? निस्सन्देह अविज्ञप्तिवश ह्री से समन्वागत संवरस्थ प्रतिज्ञा के कारण पाप से विरत रहता है; इसलिये यह 'अकरण' है।

---

१. महाव्युत्पत्ति २६८ देखिये, जहाँ छठी विरति का यह वाक्य है—'गन्धमाल्य-विलेपनवर्णकधारणविरति।'

२. [शीलं सुचरितं चैव कर्म संवर इत्यपि]

३. विभाषा (४४,१३) में शील के १० निर्वचन दिये हैं—शीतल या सुखप्रद; शान्त निद्रा, क्योंकि जो शील का आचरण करता है उसको शान्त निद्रा मिलती है, उसके शुभ स्वप्न होते हैं; अभ्यास, कुशल धर्मों के निरन्तर अभ्यास के कारण; समाधि; भूषण (सुमङ्गलविलासिनी, पृ० ५५ से तुलना कीजिये); सोपान या तीर्थ, इस श्लोक के अनुसार—"बुद्ध धर्म के निर्मल ह्रद में शील तीर्थ है, जहाँ आर्य अपने क्लशों का प्रक्षालन करते हैं और गुणों के दूसरे तट पर पहुँचते हैं।"—४·१२२ में 'शील' का व्याख्यान है।

४. [सुखम् शील-समादानं तेन कायो न तप्यते]

किन्तु यह निरुक्ति के अनुसार क्रिया है—क्रियत इति क्रिया: (व्या० ३६९.१२)। यह क्रिया, या तो कायिक-वाचिक विज्ञप्ति से होती है (क्रियते) या चित्त से।[1]

दूसरों के अनुसार अविज्ञप्ति क्रिया है क्योंकि यह क्रिया-हेतु और क्रिया-फल है।[2]

४. संवर, क्योंकि यह काय और वाक् को संवृत करता है।

'प्रातिमोक्ष-संवर' इस पद से अपने आद्यक्षण से लेकर अविशेषेण प्रातिमोक्षसंवर समझा जाता है।

१६ सी. डी.—प्रातिमोक्ष आद्यविज्ञप्ति और आद्य अविज्ञप्ति हैं; यह कर्म-पथ हैं।[3]

१. प्रातिमोक्ष से संवर-समादान की आद्य विज्ञप्ति और आद्य अविज्ञप्ति ज्ञापित होती हैं।

[४९] प्रातिमोक्ष, प्रातिमोक्ष इसलिये कहलाता है क्योंकि इससे प्रातिमोक्षण[4] होता है अर्थात् पाप का त्याग होता है; संवर-समादान के आद्य क्षण (विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति) का ऐसा प्रभाव है।

२. यह विज्ञप्ति और यह अविज्ञप्ति 'प्रातिमोक्ष-संवर' भी हैं क्योंकि यह काय और वाक् का संवरण करती हैं।

३. यह कर्म-पथ भी कहलाते हैं अर्थात् मौल कर्म-पथ (४.६६)। द्वितीयादि क्षणों में प्रातिमोक्ष नहीं होता क्योंकि प्रथम क्षण में ही पाप के प्रतिमोक्षित होने से द्वितीय क्षण में

---

१. जो अविज्ञप्ति प्रातिमोक्ष-संवर में संगृहीत है, वह विज्ञप्ति से होती है। ध्यानज अविज्ञप्ति और अनास्रव अविज्ञप्ति समाहित चित्त से, ध्यान भूमिक सास्रव चित्त से, अनास्रव चित्त से उत्पन्न होती है।

२. क्रिया-हेतु, क्योंकि संवरस्थ संवर की रक्षा के लिये (परिरक्षणार्थम् व्या० ३६९—१३) काय और वाग्विज्ञप्ति लक्षण वाली क्रिया का आरम्भ करता है।

क्रिया-फल, क्योंकि प्रातिमोक्ष अविज्ञप्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है यह विज्ञप्ति का फल है; क्योंकि समाधि-सम्भूत अविज्ञप्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है यह समाधिज चेतना का फल है।

३. आद्ये विज्ञप्त्यविज्ञप्ती प्रातिमोक्षः [क्रियापथः]।

४. इस निर्वचन के अनुसार प्रातिमोक्ष रूप सिद्ध होता है किन्तु स्वार्थे वृद्धि का विधान है जैसे वैकृतम् = विकृतम् और वैशसम् = विशसम् मारणम् (व्या० ३६९.२४)।

प्रातिमोक्ष के अर्थ के लिये कर्न का मैन्युअल, पृ० ७४ देखिये (वह वस्तु जो मानसिक कवच का काम दे); ओल्डनवर्ग, बुद्ध (१९१४) पृ० ४१९, टिप्पणी (प्रतिमुच्, दिव्य, ९४, १८; १३७, १५, मनु, १०.११८)—'प्रतिमुच्' का अर्थ 'बाँधना' भी है।

महावग्ग-निद्देस का अर्थ 'संवरण-प्रतिज्ञा' है। यह एक नैरुक्तिक निर्वचन भी देते हैं—सीलं पतिट्ठा आदिचरणं संयमो संवरो मुखं प्रमुखं कुसलानं धम्मानं समापत्तिया।

पाप प्रतिमोक्षित नहीं होता (प्रतिमोक्ष्यते)। प्रतिमोक्षसंवर[1] होता है अर्थात् 'प्रातिमोक्षजातीय' संवर अथवा 'प्रतिमोक्षजात' संवर। अब और मौल कर्म-पथ नहीं है किन्तु केवल 'पृष्ठकर्म' है (४.६८)। इन तीन संवरों में से किससे कौन समन्वागत होता है ?

प्रातिमोक्षान्विता चाष्टौ ध्यानजेन तदन्वितः।
अनास्रवेणार्यसत्त्वा अन्त्यौ चित्तानुवर्तिनौ ॥१७॥

१७ ए.—आठ निकाय प्रातिमोक्ष से समन्वागत होते हैं।[2]

केवल आठ निकाय, भिक्षु-भिक्षुणी...उपवासस्थ प्रतिमोक्ष-संवर से समन्वागत होते हैं।

[५०] क्या इसका यह अर्थ है कि बाह्यक समादानशील से समन्वागत नहीं हो सकते ?[3]—वह इस शील से समन्वागत हो सकते हैं किन्तु वह प्रातिमोक्ष संवर से समन्वागत नहीं हो सकते। वास्तव में उनका समादानशील ("मैं प्राणातिपातादि से विरत होता हूँ") भवसन्निश्रित है; जब उनको देवोपपत्ति भी इष्ट नहीं होती और वह मोक्षार्थी होते हैं तब भी वह मोक्ष को एक भव-विशेष के रूप में ही देखते हैं। इसलिये उनके समादानशील से पाप का सर्वथा प्रत्याख्यान, प्रातिमोक्षण नहीं होता।

१७ बी.—जो ध्यान से समन्वित होता है वह ध्यानज संवर से समन्वागत होता है।[4]

'ध्यानज' अर्थात् जो ध्यान से (पंचमी) या ध्यान द्वारा (तृतीया) उत्पन्न होता है।

---

१. किन्तु विसुद्धिमग्ग, पृ० १६ : पातिमोक्खमेव संवरो पातिमोक्ख-संवरो।

२. [प्रातिमोक्षान्विता अष्टौ],

३. अभिधम्म में (अत्थसालिनी, पृ० १०३) समादान विरति (सम्पत्तविरति के विपक्ष में) वह विरति है जो प्रातिमोक्ष से प्रतिलब्ध होती है। समादानशील और धर्मता-प्रातिलम्भिक शील में भेद करते हैं। [व्या० ३६९.३३]

समादानशील वह शील है जिसे प्रतिज्ञा ग्रहण से प्राप्त करते हैं, प्रणिधान से प्राप्त करते हैं, जैसे "मैं यह नहीं करूँगा, मैं वह नहीं करूँगा" (उदाहरण, प्रातिमोक्षशील)। धर्मताप्रातिलम्भिकशील वह शील है जो बिना समादान या वाग्विज्ञप्ति के प्रतिलब्ध होता है; यह संवर या तो ध्यान से समन्वागत होने के कारण प्राप्त होता है (क्योंकि ध्यान की प्राप्ति किसी को तभी होती है जब काम धातु के क्लेशों से वह अपने को विमुक्त करता है—४.२६) या मार्ग में प्रवेश करने से प्राप्त होता है (अनास्रवसंबर जिसमें कुछ कर्मों से एकान्त विरति संगृहीत है (अत्थसालिनी पृ० १०३ की समुच्छेदविरति)। ऊपर पृ० १७, टिप्पणी ३ और ४.३३ ए-बी देखिये।

४. [तद्वन्तो ध्यानजेन तु],

ध्यान से केवल चार मौल, ध्यान ही नहीं किन्तु सामन्तक-समापत्ति भी समझना चाहिये (८. २२ ए)। यथा—जब हम कहते हैं कि "इस ग्राम में एक धान्य का क्षेत्र है, एक गोधूम का क्षेत्र है" तो कहने का अभिप्राय ग्राम और उसकी परिसर भूमि से होता है।

१७ सी.—आर्य अनास्रव संवर से समन्वागत होता है।[1]

आर्य, शैक्ष और अशैक्ष अनास्रव संवर से अन्वित होते हैं (४. २६ बी-सी)।

हमने सहभूहेतु के व्याख्यान में (२.५१) देखा है कि दो संवर 'चित्तानुवर्त्ती' हैं। यह दो संवर क्या हैं?

१७ डी.—दो अन्तिम संवर चित्तानुवर्त्ती हैं।[2]

[५१] ध्यानज संवर और अनास्रव संवर चित्तानुवर्ती हैं; प्रातिमोक्ष संवर ऐसा नहीं है क्योंकि अकुशलचित्तक, अव्याकृतचित्तक, अचित्तक (अन्यचित्ताचित्तक १. ११) में उसकी अनुवृत्ति होती है।

अनागम्ये प्रहाणाख्यौ तावानन्तर्यमार्गजौ।
संप्रज्ञानस्मृती द्वे च मन इन्द्रियसंवरौ॥१८॥

१८ ए-बी.—आनन्तर्यमार्ग में उत्पन्न यह दो, अनागम्य में, 'प्रहाण' कहलाते हैं।[3]

---

१. [अनास्रवेणार्यसत्वाः]

यह अत्थसालिनी, पृष्ठ १०३ की समुच्छेदविरति है; इसमें अकरण नियम है जिसका अर्थ है 'पापकरण का असम्भव होना।'

२. [अन्त्यौ चित्तानुवर्तिनौ]

३. [प्रहाणमित्यनागम्ये तावानन्तर्यमार्गजौ]

ध्यानान्तर से प्रथम ध्यान तक की अवस्था अनागम्य (८. २२ सी) है। इसी अवस्था में योगी कामावचर क्लेशों से वैराग्य प्राप्त करता है, वह इन क्लेशों से प्रथम ध्यान में विरक्त नहीं होता क्योंकि प्रथम ध्यान में प्रवेश करने के लिये इन क्लेशों से विरक्त होना आवश्यक है। कामावचर क्लेशों के ९ प्रकार हैं:—अधिमात्र-अधिमात्र, अधिमात्र-मध्य, अधिमात्र-मृदु, मध्य-मृदु,......९ आनन्तर्य मार्गों से यह ९ प्रकार विनष्ट या प्रहीण होते हैं। इसलिये इन मार्गों में से प्रत्येक का अभ्यास 'प्रहाण' और 'संवर' दोनों है।

अनागम्य के ९ विमुक्ति मार्गों में प्रहाण नहीं है (६. २८, ६५ सी); मौल ध्यान और ध्यानान्तर (८ कोशस्थान) के आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग कामावचर क्लेशों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते क्योंकि वह ध्यान के क्लेशों से विरक्त करते हैं।

आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्गों में योगी या तो लौकिक-मार्ग का अभ्यास करता है और इस अवस्था में संवर 'ध्यानज' कहलाता है या वह लोकोत्तर-मार्ग का अभ्यास करता है, और इस अवस्था में यद्यपि संवर ध्यान से, ध्यान के कारण, उत्पन्न होता है तथापि वह अनास्रव कहलाता है (६.४९)।

पाप प्रतिमोक्षित नहीं होता (प्रतिमोक्ष्यते)। प्रतिमोक्षसंवर[1] होता है अर्थात् 'प्रातिमोक्षजातीय' संवर अथवा 'प्रतिमोक्षजात' संवर। अव और मौल कर्म-पथ नहीं है किन्तु केवल 'पृष्ठकर्म' है (४.६८)। इन तीन संवरों में से किससे कौन समन्वागत होता है ?

प्रातिमोक्षान्विता चाष्टौ ध्यानजेन तदन्वितः।
अनास्रवेणार्यसत्त्वा अन्त्यौ चित्तानुवर्तिनौ ॥१७॥

१७ ए.—आठ निकाय प्रातिमोक्ष से समन्वागत होते हैं।[2]

केवल आठ निकाय, भिक्षु-भिक्षुणी...उपवासस्थ प्रतिमोक्ष-संवर से समन्वागत होते हैं।

[५०] क्या इसका यह अर्थ है कि वाह्यक समादानशील से समन्वागत नहीं हो सकते ?[3]—वह इस शील से समन्वागत हो सकते हैं किन्तु वह प्रातिमोक्ष संवर से समन्वागत नहीं हो सकते। वास्तव में उनका समादानशील ("मैं प्राणातिपातादि से विरत होता हूँ") भवसन्निश्रित है; जब उनको देवोपपत्ति भी इष्ट नहीं होती और वह मोक्षार्थी होते हैं तब भी वह मोक्ष को एक भव-विशेष के रूप में ही देखते हैं। इसलिये उनके समादानशील से पाप का सर्वथा प्रत्याख्यान, प्रातिमोक्षण नहीं होता।

१७ बी.—जो ध्यान से समन्वित होता है वह ध्यानज संवर से समन्वागत होता है।[4]

'ध्यानज' अर्थात् जो ध्यान से (पंचमी) या ध्यान द्वारा (तृतीया) उत्पन्न होता है।

---

१. किन्तु विसुद्धिमग्ग, पृ० १६ : पातिमोक्खमेव संवरो पातिमोक्ख-संवरो।

२. [प्रातिमोक्षान्विता अष्टौ],

३. अभिधम्म में (अत्थसालिनी, पृ० १०३) समादान विरति (सम्पत्तविरति के विपक्ष में) वह विरति है जो प्रातिमोक्ष से प्रतिलब्ध होती है। समादानशील और धर्मता-प्रातिलम्भिक शील में भेद करते हैं। [व्या० ३६९.३३]

समादानशील वह शील है जिसे प्रतिज्ञा ग्रहण से प्राप्त करते हैं, प्रणिधान से प्राप्त करते हैं, जैसे "मैं यह नहीं करूँगा, मैं वह नहीं करूँगा" (उदाहरण, प्रातिमोक्षशील)। धर्मताप्रातिलम्भिकशील वह शील है जो बिना समादान या वाग्विज्ञप्ति के प्रतिलब्ध होता है; यह संवर या तो ध्यान से समन्वागत होने के कारण प्राप्त होता है (क्योंकि ध्यान की प्राप्ति किसी को तभी होती है जब काम धातु के क्लेशों से वह अपने को विमुक्त करता है—४.२६) या मार्ग में प्रवेश करने से प्राप्त होता है (अनास्रवसंबर जिसमें कुछ कर्मों से एकान्त विरति संगृहीत है (अत्थसालिनी पृ० १०३ की समुच्छेदविरति)। ऊपर पृ० १७, टिप्पणी ३ और ४.३३ ए-बी देखिये।

४. [तद्वन्तो ध्यानजेन तु]

ध्यान से केवल चार मौल, ध्यान ही नहीं किन्तु सामन्तक-समापत्ति भी समझना चाहिये (८. २२ ए)। यथा—जब हम कहते हैं कि "इस ग्राम में एक धान्य का क्षेत्र है, एक गोधूम का क्षेत्र है" तो कहने का अभिप्राय ग्राम और उसकी परिसर भूमि से होता है।

१७ सी.—आर्य अनास्रव संवर से समन्वागत होता है।[1]

आर्य, शैक्ष और अशैक्ष अनास्रव संवर से अन्वित होते हैं (४. २६ बी-सी)।

हमने सहभूहेतु के व्याख्यान में (२.५१) देखा है कि दो संवर 'चित्तानुवर्त्ती' हैं। यह दो संवर क्या हैं?

१७ डी.—दो अन्तिम संवर चित्तानुवर्त्ती हैं।[2]

[५१] ध्यानज संवर और अनास्रव संवर चित्तानुवर्ती हैं; प्रातिमोक्ष संवर ऐसा नहीं है क्योंकि अकुशलचित्तक, अव्याकृतचित्तक, अचित्तक (अन्यचित्ताचित्तक १. ११) में उसकी अनुवृत्ति होती है।

अनागम्ये प्रहाणाख्यौ तावानन्तर्यमार्ग जौ।
संप्रज्ञानस्मृती द्वे च मन इन्द्रियसंवरौ ॥१८॥

१८ ए-बी.—आनन्तर्यमार्ग में उत्पन्न यह दो, अनागम्य में, 'प्रहाण' कहलाते हैं।[3]

---

१. [अनास्रवेणार्यसत्वाः]

यह अत्थसालिनी, पृष्ठ १०३ की समुच्छेदविरति है; इसमें अकरण नियम है जिसका अर्थ है 'पापकरण का असम्भव होना।'

२. [अन्त्यौ चित्तानुवर्तिनौ]

३. [प्रहाणमित्यनागम्ये तावानन्तर्यमार्गजौ]

ध्यानान्तर से प्रथम ध्यान तक की अवस्था अनागम्य (८. २२ सी) है। इसी अवस्था में योगी कामावचर क्लेशों से वैराग्य प्राप्त करता है, वह इन क्लेशों से प्रथम ध्यान में विरक्त नहीं होता क्योंकि प्रथम ध्यान में प्रवेश करने के लिये इन क्लेशों से विरक्त होना आवश्यक है। कामावचर क्लेशों के ९ प्रकार हैं :—अधिमात्र-अधिमात्र, अधिमात्र-मध्य, अधिमात्र-मृदु, मध्य-मृदु,······९ आनन्तर्य मार्गों से यह ९ प्रकार विनष्ट या प्रहीण होते हैं। इसलिये इन मार्गों में से प्रत्येक का अभ्यास 'प्रहाण' और 'संवर' दोनों है।

अनागम्य के ९ विमुक्ति मार्गों में प्रहाण नहीं है (६. २८, ६५ सी); मौल ध्यान और ध्यानान्तर (८ कोशस्थान) के आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग कामावचर क्लेशों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते क्योंकि वह ध्यान के क्लेशों से विरक्त करते हैं।

आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्गों में योगी या तो लौकिक-मार्ग का अभ्यास करता है और इस अवस्था में संवर 'ध्यानज' कहलाता है या वह लोकोत्तर-मार्ग का अभ्यास करता है, और इस अवस्था में यद्यपि संवर ध्यान से, ध्यान के कारण, उत्पन्न होता है तथापि वह अनास्रव कहलाता है (६.४९)।

यह दो संवर, ध्यान-संवर और अनास्रव-संवर, अनागम्य के ६ आनन्तर्य मार्गों में 'प्रहाण संवर' (=प्रहाण और संवर) हैं क्योंकि इनसे दौःशील्य और तत्समुत्थापक (४.१२२ ए) क्लेशों का प्रहाण होता है।

इसलिए एक ध्यानज संवर है जो प्रहाण-संवर नहीं है। इसके चार कोटि हैं—

१. पहली कोटि :—अनागम्य के आनन्तर्यमार्गों से उत्पन्न होने वाले संवर को छोड़कर सास्रवध्यानज संवर—यह वह ध्यानज संवर है जो प्रहाण संवर नहीं है;

[५२] २. दूसरी कोटि :—अनागम्य के आनन्तर्यमार्गों में प्राप्त अनास्रव संवर—यह प्रहाण-संवर है किन्तु ध्यानज संवर नहीं है;

३. तीसरी कोटि :—अनागम्य के आनन्तर्यमार्गों में सास्रव संवर—यह ध्यान-संवर और प्रहाण संवर है;

४. चौथी कोटि—अनागम्य के आनन्तर्यमार्गों के बाहर उत्पन्न अनास्रव संवर—यह न ध्यान-संवर है और न प्रहाण-संवर है।

इन्हीं नियमों के अनुसार, जो अनास्रव संवर प्रहाण-संवर नहीं है, उसके सम्बन्ध में और जो प्रहाण-संवर अनास्रव-संवर नहीं है उसके सम्बन्ध में एवं अन्य के सम्बन्ध में, चार-चार कोटि व्यवस्थापित होंगी (विभाषा, ४४.१७)।

भगवत् में कहा है—"काय संवर, वाक् संवर, मनः संवर, सर्व संवर, साधु है"।[१] पुनः भगवत् कहते हैं "वह चक्षुरिन्द्रिय संवर से संवृत हो विहार करता है"।[२] प्रश्न होता है कि मनः संवर और इन्द्रिय संवर का स्वभाव क्या है ?

इनमें से कोई भी अविज्ञप्ति स्वभाव नहीं है। इसके विपरीत १८ सी-डी मनः संवर और इन्द्रिय संवर इनमें से प्रत्येक, दो स्वभाव का है—सम्प्रजन्य और स्मृति।[३]

---

१. संयुत्त, १.७३; धम्मपद, ३६१; उदान वर्ग, ७.११।

कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो॥

चीनी अनुवादक 'साधु' को एक उद्‌गार सूचक शब्द समझते हैं। प्रातिमोक्ष (एल० फिनो० जे० ए० १९१३, २.५४३) के अन्तिम श्लोकों का पाठ 'कायेन संवरः साधुः साधुर्वाचा च संवरः' है; किन्तु कुमारजीव का अनुवाद है "क्या सौभाग्य है" ?

२. अङ्गुत्तर, ३.३८७; चक्खुन्द्रिय संवरसंवुतो विहरति।

३. [द्वे स्मृतिः सम्प्रजन्यम् च मन-इन्द्रिय संवरः ॥]

विभाषा (१९७.६) में अन्य निर्वचन दिये हैं; "कुछ के अनुसार इन्द्रिय संवर स्मृति और सम्प्रजन्य है; दूसरों के अनुसार अप्रमाद है; किन्हीं के अनुसार ६ सतत विहार है; किन्हीं के अनुसार अपरिहाण और अपरिज्ञान की अप्राप्ति और प्रतिपक्ष-मार्ग की प्राप्ति है; दूसरों के अनुसार अक्लिष्ट धर्म है।"

[५३] जिसमें पाठक यह न समझें कि पहला संवर सम्प्रजान है और दूसरा स्मृति है। आचार्य कहते हैं कि इनमें से प्रत्येक दो स्वभाव का है[1]—[व्या० ३७०.३३ का पाठ 'सम्प्रज्ञान' है]।

अब हम परीक्षा करें कि कौन विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है और प्रत्येक कोटि में किस काल में यह होते हैं (४.१९-२२, २३-२४ बी)।[2]

प्रातिमोक्षस्थितो नित्यं आत्यागाद् वर्तमानया।
अविज्ञप्त्यान्वितः पूर्वक्षणाद् ऊर्ध्वम् अतीतया ॥१९॥

१९ ए-सी—जो प्रातिमोक्ष में स्थित है, वह सदा वर्तमान क्षण की अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है, जब तक कि वह उस अविज्ञप्ति का त्याग नहीं करता।[3]

वह आश्रय जिनको हमने प्रातिमोक्ष संवर में स्थित बताया है (४.१४ ए०), सदा वर्तमान अविज्ञप्ति से समन्वागत होते हैं जब तक वह इस संवर में संगृहीत अविज्ञप्ति का परित्याग नहीं करते।

१९ सी-डी—प्रथम क्षण से ऊर्ध्व वह अतीत अविज्ञप्ति से भी समन्वागत होता है।[4]

पूर्वक्षण जो प्रातिमोक्ष शब्द से ज्ञापित होता है (४·१६ सी-डी) उससे ऊर्ध्व, यह आश्रय पूर्व, अतीत की अविज्ञप्ति से भी समन्वागत होते हैं—तभी तक जब तक वह संवर का त्याग नहीं करते।[5] यथा—प्रातिमोक्षसंवरस्थ।

महासांघिक इन्द्रियसंवर को कर्म-स्वभाव मानते हैं। (कथावत्थु विसुद्धिमग्ग के विविध संवरों पर (पातिमोक्ख, सति, ञाण, खन्ति, विरिय संवर) वारन का विवरण, जे० पी० टी० एस० १८९१, ७७ और आगे तथा मूल पृष्ठ ७.११ देखिये।

१. इस वाद को सिद्ध करने के लिये व्याख्या आगम से उद्धृत करती है—"अन्तरा किल देवता भिक्षुं विषयेषु इन्द्रियाणि विचारयन्तमवोचत्। भिक्षो भिक्षो व्रणम् मा कार्षीरिति। भिक्षुराह। पिधास्यामि देवते। देवताह—कुम्भमात्रं भिक्षो व्रणम् कृत्वा कथं पिधास्यसि। भिक्षुराह—स्मृत्या पिधास्यामि सम्प्रजन्येन च।" [व्या० ३७१.२] अङ्गुत्तर, ५.३४७, ३५० जो सत्व अपनी इन्द्रियों का परिरक्षण नहीं करता वह 'न वणं पटिच्छादेता' है।

२. ...की प्राप्ति से समन्वागत होना—आत्मसामग्री में प्राप्ति (२·३६) नामक वियुक्त धर्म का होना। अतीत, वर्तमान, या अनागत धर्म की प्राप्ति (५.२५) हो सकती है।

३. यावन् न त्यजति [प्रातिमोक्षस्थो वर्तमानया। अविज्ञप्त्या सदा]

४. पूर्वक्षणादूर्ध्वमतीतया।

५. शुआन् चाङ् जोड़ते हैं—सङ्गीति से यह विदित होता है कि यह पुद्गल अनागत अविज्ञप्ति से समन्वागत नहीं होते। जो अविज्ञप्ति ध्यान की नहीं है वह अनागत अवस्था में प्राप्त नहीं होती।

[५४] २० ए तथा असंवरस्थ ।[1]

तथैवासंवरस्थोऽपि ध्यानसंवरवान् सदा ।
अतीताजातयाऽऽर्यस्तु प्रथमे नाभ्यतीतया ॥२०॥

असंवरस्थ (४. २४ सी-डी) जब तक वह उसका त्याग नहीं करता सदा वर्तमान क्षण की अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है; असंवर के द्वितीय क्षण से वह अतीत अविज्ञप्ति से भी समन्वागत होता है ।

२० बी-सी—जो ध्यान-संवर से समन्वित है वह सदा अतीत और अनागत अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है ।[2]

जो ध्यान-संवर से युक्त है, वह जब तक उसका त्याग नहीं करता तब तक सदा अतीत और अनागत अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है क्योंकि यह अविज्ञप्ति अर्थात् ध्यान-संवर चित्त का अनुवर्ती होता है । (४. १७ डी) । जिस प्रथम क्षण में वह ध्यान-संवर का लाभ करता है उस क्षण उसको जन्मान्तर में त्यक्त या इस जन्म में त्यक्त पूर्व ध्यान संवर का समादान करना होता है ।

२० सी-डी.—प्रथम क्षण में आर्य अतीत अविज्ञप्ति से समन्वागत नहीं होता ।[3]

आर्य पुद्गल उसी प्रकार अनास्रव अविज्ञप्ति से जो अनास्रव संवर के लक्षण की है, समन्वागत होता है; जिस प्रकार जो ध्यान संवर से युक्त होता है वह ध्यानज अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है । वह अपनी अतीत और अनागत अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है । विशेष यह है कि आर्य मार्ग के प्रथम क्षण में, प्रथम वार अनास्रव अविज्ञप्ति का ग्रहण कर, वह स्पष्ट ही अतीत अनास्रव अविज्ञप्ति से समन्वागत नहीं हो सकता ।

समाहितार्यमार्गस्थौ तौ युक्तौ वर्तमानया ।
मध्यस्थस्यास्ति चेद् आदौ मध्ययोर्ध्वं द्विकालया ॥२१॥

२१ ए-बी—जो पुद्गल समाधि की अवस्था में है, जो पुद्गल आर्य-मार्ग में स्थित है, वह प्रत्युत्पन्न क्षण की अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है ।[4]

---

१. [तत्समोऽसंवरस्थोऽपि]

२. ध्यान संवरवान् सदा । अतीताजातया (व्या० ३७१.९)

३. आर्यस्तु प्रथमेनाभ्यतीतया ॥ (व्या० ३७१.१.४)

४. समाहितार्यमार्गस्थान् [आधुनिक्या] (व्या० ३७१.३३) समाहित और आर्य-मार्गस्थ । यह अन्तिम शब्द कठिनाई उपस्थित करता है । यदि आर्यमार्गस्थ का अर्थ 'मार्ग समन्वित पुद्गल' है तो परिणाम यह निकलता है कि समाधि की अवस्था के बाहर भी, आर्य, जब वह प्रकृतिस्थ है, वर्तमान अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है । इसलिये 'स्थ' को 'अभिरूढ़' के अर्थ, में समझना चाहिये, जैसे कहते है 'नौस्थ, नौका में अभिरूढ़;' इसी न्याय

[५५] जो समाहित है और जो आर्यमार्ग में समापन्न है, वह यथाक्रम वर्तमान ध्यान संवर-अविज्ञप्ति और वर्तमान अनास्रव-संवर-अविज्ञप्ति से समन्वागत है। किन्तु जब वह ध्यान से व्युत्थित होते हैं तो वह इस वर्तमान अविज्ञप्ति से समन्वागत नहीं होते क्योंकि यह अविज्ञप्ति चित्तानुवर्त्तिनी है।

नैवसंवरनासंवरस्थ मध्यस्थ कहलाता है। वह भिक्षु के समान संवर से अन्वित नहीं होता और न पापी के समान असंवर से युक्त होता है।

२१ बी-सी—मध्यस्थ, प्रथम क्षण में, मध्य अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है जब अविज्ञप्ति का उत्पाद होता है।[1]

मध्य अर्थात् वर्तमान, अतीत और अनागत के मध्य में स्थित। कर्म (विज्ञप्ति) अवश्यमेव अविज्ञप्ति का उत्पादन नहीं करता। मध्यस्थ अवश्यमेव अविज्ञप्ति से समन्वागत नहीं होता। यदि उसके उत्पत्ति-क्षण में अविज्ञप्ति होती है—यह अविज्ञप्ति चाहे दौःशील्य (प्राणातिपातादि) में हो या शीलङ्ग (प्राणातिपातविरति) में संगृहीत हो या यह वह अविज्ञप्ति हो जो अन्य शुभ या अशुभ कर्म, स्तूपवन्दन, हस्तताड़न, चपेटादि क्रिया विज्ञप्ति से उत्पन्न होती है तो वह इस वर्तमान अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है।

२१. डी—पश्चात् वह वर्तमान और अतीत अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है।

[५६] वाक्यशेष: उस क्षण तक जब कि वह उसका त्याग करता है, क्या संवरस्थ अकुशल अविज्ञप्ति से समन्वागत हो सकता है? क्या असंवरस्थ कुशल अविज्ञप्ति से समन्वागत हो सकता है? और इन दो अवस्थाओं में अविज्ञप्ति की अवस्थिति कितने काल तक है?

असंवरस्थः शुभयाऽशुभया संवरे स्थितः।
अविज्ञप्त्यान्वितो यावत् प्रसादक्लेशवेगवान् ॥२२॥

२२. जब तक वह प्रसाद-वेग या क्लेश-वेग से समन्वागत होता है तब तक यथाक्रम असंवरस्थ कुशल अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है और संवरस्थ अकुशल अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है।[2]

जितने काल तक असंवरस्थ में प्रसाद-वेग का अनुवर्तन होता है (अनुवर्तते), जिससे स्तूपवन्दना ऐसी क्रियाएं सम्पन्न कर वह शुभ अविज्ञप्ति का उत्पाद करता है, जितने काल तक

से आर्यमार्गस्थ=मार्गमभिरूढः समापन्नः (व्याख्या ३७२.३)=वह आर्य जो वर्तमान में आर्यमार्ग में समापन्न है; वह ध्यान जो केवल समाधि की अवस्था में ही होता है।

अन्यमत का अनुसरण करना अधिक सुगम है (अन्यः पुनर...व्या ३७२.७)। इसके अनुसार कारिका का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—"समाहित और वह जो आर्य मार्गस्थ हो समाहित होता है" (समाहितार्यमार्गस्थौ समाहितः समाहितमार्गस्थश्च)—(व्या० ३७२.७)।

१. असंवरस्थः शुभयाऽशुभया संवरे स्थितः।
[अविज्ञप्त्यान्वितो यावत्] प्रसाद क्लेशवेग [वान्]॥

संवरस्थ में क्लेश-वेग का अनुवर्तन होता है जिससे प्राणातिपात, ताड़न, बन्धन ऐसी क्रियाएँ सम्पन्न कर वह अशुभ अविज्ञप्ति का उत्पाद करता है, उतने काल तक कुशल या अकुशल अविज्ञप्ति का अनुवर्तन होता है। उस क्रिया के क्षण में कर्त्ता वर्तमान अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है; अन्य क्षणों में वह वर्तमान और अतीत अविज्ञप्ति से अन्वित होता है।

विज्ञप्त्या तु युताः सर्वे कुर्वन्तो मध्यमान्विताः।
अतीतया क्षणादूर्ध्वम् आत्यागाद् नास्त्यजातया ॥२३॥

२३. ए-बी—जो विज्ञप्ति कर्म करते हैं, वह सर्वत्र वर्तमान विज्ञप्ति से अन्वित होते हैं।[1]

जो काय या वाग्-विज्ञप्ति कर्म करते हैं, चाहे वह संवरस्थ हों; असंवरस्थ हों या मध्यस्थ, वह वर्तमान विज्ञप्ति से उस काल तक समन्वागत होते हैं जिस काल तक वह इस कर्म को करते रहते हैं।

२३. सी-डी.—द्वितीय क्षण से त्याग-क्षण पर्यन्त वह अतीत विज्ञप्ति से समन्वागत होते हैं।[2]

द्वितीय क्षण से अर्थात् प्रथम क्षण के अनन्तर।[3]

[५७] २३ डी.—वह अनागत विज्ञप्ति से समन्वागत नहीं होता।[4] कोई पुद्गल अनागत विज्ञप्ति से समन्वागत नहीं होता क्योंकि विज्ञप्ति चित्तानुपरिवर्तिनी नहीं है।

निवृतानिवृताभ्यां च नातीताभ्यां समन्वितः।
असंवरो दुश्चरितं दौःशील्यं कर्म तत्पथः ॥२४॥

निवृत और अनिवृत अतीत विज्ञप्तियों से वह समन्वित नहीं होता।[5] अर्थात् क्लिष्टाव्याकृत, अक्लिष्टाव्याकृत कर्म (२.६६ इत्यादि देखिये), जब कर्म अतीत हो जाते हैं तब वह

---

१. [विज्ञप्तिकृत् कुर्वन्नेव सर्वत्र वर्तमानया।]

२. अतीतया क्षणादूर्ध्वम् आत्यागात्—(व्या० ३७२.२४)।

३. विज्ञप्ति (१) संवर लक्षण हो सकती है, यथा एक भिक्षु के भिक्षु संवरानुरूप सब कर्म। भिक्षु इन सब अतीत विज्ञप्तियों से शिक्षा-विक्षेपण तक समन्वागत होता है—(शिक्षा-निक्षेपणादिभि; ४. ३८)।

(२) संवर लक्षण हो सकती है, सब प्राणातिपात जिन्हें एक घातक करता है। घातक इन सब अतीत विज्ञप्तियों से असंवरत्याग और प्राणातिपात विरति-समादान के क्षण तक समन्वित होता है।

(३) नैवसंवरनासंवरलक्षणा हो सकती है, स्तूपवन्दना, आदि जब प्रसाद-वेग का छेद होता है तब इन कर्मों से इन विज्ञप्तियों का त्याग होता है।...

४. [नत्वजातया।]

५. [नाप्यतीताभ्यां निवृतानिवृताभ्यां समन्वितः।]

इनसे समन्वित नहीं होता। क्योंकि एक दुर्बल धर्म की प्राप्ति स्वयं दुर्बल होने के कारण अनुबन्धिनी नहीं होती।—यह धर्म अर्थात्, अव्याकृत कर्म दुर्बल क्यों है? जो चित्त उसका उत्पादक है उसकी दुर्बलता के कारण। किन्तु तब इस चित्त की प्राप्ति भी अनुबन्धिनी न होगी—नहीं; अवस्था भिन्न है। वास्तव में विज्ञप्ति जड़ है क्योंकि यह अनालम्बन है (अनालम्बनत्वात्, व्या० ३७३.३); इसके अतिरिक्त यह परतन्त्र है क्योंकि यह चित्त पर आश्रित है। चित्त स्वयं ऐसा नहीं है, इसलिए अव्याकृत चित्त से उत्थापित विज्ञप्ति इस चित्त से भी दुर्बलतर होती है; विज्ञप्ति की प्राप्ति अनुबन्धिनी नहीं है; चित्त की प्राप्ति अनुबन्धिनी है।

हमने असंवरस्थ का, वह पुद्गल जो असंवर में स्थित है, उल्लेख किया है। असंवर क्या है?

२४ सी-डी—असंवर, दुश्चरित, दौःशील्य, कर्म, कर्मपथ।[1]

[५८] १. असंवर, क्योंकि यह काय और वाक् का असंवरण है।

२. दुश्चरित, क्योंकि प्रज्ञावान् पुरुष इसकी निन्दा करते हैं; क्योंकि इसका विपाक दुःख है।

३. दौःशील्य, क्योंकि यह शील (४.१२२) का विपक्ष है।

४. कर्म, जहाँ तक काय और वाक् से उत्थापित है।

५. कर्मपथ, क्योंकि मौलकर्म में संगृहीत है, (मौलसंगृहीतत्वात्[2], व्या० ४.६८) जो विज्ञप्ति से समन्वित होता है वह अविज्ञप्ति से भी समन्वित हो सकता है। इनकी चार कोटि हैं।

विज्ञप्त्यैवान्वितः कुर्वन् मध्यस्थो मृदु चेतनः।
त्यक्तानुत्पन्न विज्ञप्तिरविज्ञप्त्यार्यपुद्गलः ॥२५॥

२५ ए-बी—मध्यस्थ. मृदुचेतना से कर्म करते हुए केवल विज्ञप्ति से ही अन्वित होता है।[3]

जो केवल नैवसंवरनासंवर में स्थित है और जो कुशल या अकुशल विज्ञप्तिकर्म मृदुचेतना से करता है वह केवल इस विज्ञप्ति से अन्वित होता है, वह अविज्ञप्ति से अन्वित नहीं होता[4]—जब कर्म अव्याकृत हो तो और भी कारण है कि कर्त्ता अविज्ञप्ति से समन्वागत न हो।

मृदुचेतना से भी (१) औपाधिक पुण्यक्रियावस्तु (४.११२) और (२) कर्मपथ (४.६८) करते हुए सदा अविज्ञप्ति से समन्वागत होता है।

---

१. [असंवरो दुश्चरितं दौःशील्यं कर्म तत्पथः।]

२. शुआन्-चाङ: जोड़ते हैं—"उत्पत्ति-क्षण में ही असंवर कर्मपथ है।"

३. विज्ञप्त्यैवान्वितः कुर्वन् मध्यस्थोमृदुचेतनः—(व्या० ३७३-७)।

४. किन्तु जब यह तीव्र चेतना से क्रिया करती है तो यह अविज्ञप्ति को समुत्थापित (समुत्थापयति) करती है और उससे अन्वित होती है।

२५ सी-डी—आर्य पुद्गल केवल अविज्ञप्ति से ही समन्वागत होता है जब वह विज्ञप्ति की उत्पत्ति या त्याग नहीं करता।[1]

[५६] जब आर्य-पुद्गल ने जन्म परिवृत्त कर या तो अभी विज्ञप्ति का उत्पाद नहीं किया है (यथा जब वह कललादि अवस्था में है या जब वह आरूप्यधातु में उपपन्न हुआ है) या वह कृत विज्ञप्ति (अव्याकृत चेतना से उत्थापित विज्ञप्ति)[2] से विहीन हुआ है तो वह केवल अविज्ञप्ति (पूर्वजन्म में प्राप्त अनास्रव अविज्ञप्ति) से समन्वागत होता है, विज्ञप्ति से नहीं।

इसी प्रकार अन्य दो कोटियाँ भी—विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति की प्राप्ति, दोनों की अप्राप्ति व्यवस्थित होती हैं।[3]

संवरलाभ कैसे होता है?

ध्यानजो ध्यानभूम्यैव लभ्यतेऽनास्रवस्तया।
आर्यया प्रातिमोक्षाख्यः परविज्ञापनादिभिः ॥२६॥

२६ ए-बी—ध्यानज संवर ध्यानभूमिक चित्त से प्रतिलब्ध होता है।[4] ध्यानभूमिक चित्त से अर्थात् मौलध्यान (चार ध्यान) और सामन्तक (चार समापत्ति जो चार ध्यानों के पूर्व होती हैं) की भूमियों के चित्त से, सास्रव-चित्त से अर्थात् उस चित्त से जो आर्यमार्ग में संगृहीत नहीं हैं, ध्यानसंवर का लाभ होता है; यह संवर इस प्रकार के चित्त के साथ होता है (सहभूत)—(व्या० ३७४.६)।

२६ बी-सी—इसी चित्त से अनास्रव-संवर जब यह आर्य है।[5] आर्य अर्थात् अनास्रव, आर्यमार्ग में संगृहीत (४.१७०)। नीचे (८.२२) यह बताया जायगा कि आर्य-चित्त ध्यान की ६ भूमियों में अर्थात् चार ध्यान, ध्यानान्तर और अनागम्य (प्रथम सामन्तक) में होता है।

२६ सी-डी—जिसे प्रातिमोक्ष कहते हैं वह पर विज्ञापन आदि से।[6]

---

१. [त्यक्तानुत्पन्न विज्ञप्तिरविज्ञप्त्यार्यपुद्गलः।]

पृथग्जन के लिये भी यह विधि है। पृथग्जन भी विज्ञप्ति से समन्वागत हुए बिना अविज्ञप्ति से अन्वित होता है—(व्या० ३७३-२६)।

२. भाष्यः येनार्यपुद्गलेन परिवृत्तजन्मना न तावद् विज्ञप्तं भवति विज्ञप्तं वा पुनर्विहीनम्—(व्या० ३७३-२०)।

३. व्याख्याः तृतीया संवरासंवरमध्यस्थास्तीव्रया चेतनया कुशलं अकुशलं वा कुर्वन्तः। चतुर्थी येन जन्मान्तरपरिवृत्तो पृथग्जनेन [न] तावद् विज्ञप्तं वा विहीनम्—(व्या० ३७४-३)।

४. [ध्यानजो ध्यानभूम्यैव लभ्यते]

५. [आर्यया तया। निर्मलः]

६. प्रातिमोक्षाख्यः परविज्ञापनादिभिः।

[६०] परविज्ञापन, दूसरे का विज्ञापन, दूसरे द्वारा विज्ञापन; प्रतिपन्नक अर्थी दूसरे को कुछ विज्ञापित करता है और दूसरा उसको कुछ विज्ञापित करता है।[1] भिक्ष, भिक्षुणी और शिक्षमाणा के संवर के ग्रहण के लिये 'पर' सङ्घ है; प्रातिमोक्ष के अन्य ५ संवरों के समावान के लिये 'पर' पुद्गल है।

वैभाषिक निकाय के वैनायिकों के अनुसार उपसंपदा (उपसंपद्) दश विघ है।

सव को अपने प्रातिमोक्ष के लक्षण में संगृहीत करने के लिये आचार्य कहते हैं "...पर विज्ञापन आदि से।"

१. स्वतः उपसंपदा,[2] बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध की।

२. पञ्चक अर्थात् आज्ञात कौण्डिन्य और उनके सब्रह्मचारियों की उपसम्पदा नियामावक्रान्ति से (४.२६ ए)।[3]

३. आज्ञात की उपसम्पदा "एहि भिक्षो" ! इस वचन से।

[६१] ४ महाकाश्यप की उपसम्पदा, भगवत् को शास्ता मानने से।[4]

---

१. परोविज्ञापयतीति प्रत्याययति। तिब्बतीभाषान्तर—"प्रातिमोक्षसंवर में यदि दूसरा विज्ञापन करता है तो यह दूसरे को विज्ञापित कर के भी लब्ध होता है"; परमार्थ कारिका में—"दूसरे को अन्योन्यविज्ञापन से; भाष्य— "यदि दूसरा उसको विज्ञापित करता है तो वह दूसरे को विज्ञापित करता है।" शुआन्-चाङ्— "दूसरे का विज्ञापन जो दूसरे को विज्ञापित करता है वह 'पर' कहलाता है।" (इसलिये कहते हैं "दूसरे का विज्ञापन = दूसरा जो स्वयं विज्ञापित करता है उसका विज्ञापन")।

२. स्वाम उपसम्पदा, महावस्तु, १, पृ० २; महावग्ग, १.६,२८-२९; मिलिन्द, पृ० ७६,२६५।

३. तिब्बती भाषान्तर में केवल "पंचकानाम्" है व्याख्या निरूपण करती है—अर्थात् आज्ञात कौण्डिन्य आदि।

परमार्थ—"कौण्डिन्य आदि पाँच भिक्षुओं के लिये, दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति के लाभ के क्षण में (६.२५ डी)।" होअर्न्ले द्वारा प्रकाशित अंश (मैन्युस्क्रिप्ट रिसेन्स, १. पृ० १३) में इस प्रकार है—पञ्चकानाम् ज्ञानाभिसमयेन उपसम्पदा।

४. तिब्बती भाषान्तर के अनुसार—"आज्ञात के बारे में" महावग्ग, १.६,३२ में आज्ञात कौण्डिन्य की उपसम्पदा इस वाक्य से होती है—"(एहिभिक्षो) आओ, भिक्षु !..." किन्तु परमार्थ और शुआन्-चाङ् के अनुसार "यश आदि के बारे में।"

इस उपसम्पदा का पारिभाषिक नाम "ऐहि भिक्षुकया उपसम्पदा" है; ऐहि भिक्षुका द्वारा आभाषित पुद्गल (एहिभिक्षुकया आभाषित) भिक्षु होता है। यह वचन एक पुरुष या कई पुरुषों के प्रति होता है—एहि भिक्षो चर ब्रह्मचर्यं...एत भिक्षवः चरत ब्रह्मचर्यम्; यह एक ऋद्धिप्रातिहार्य से अनुगत होता है जिसका वर्णन व्याख्या में है (श्लोक से मिलता-जुलता पाठ दिव्य, ४८, २८१, ३४२ में है):—

५. सोदामिन् की उपसम्पदा, प्रश्नों के उत्तर से भगवान् को आराधित कर।[१]

६. महा प्रजापति की उपसम्पदा, भिक्षुओं के गुरु धर्मों को स्वीकार करने से।[२]

७. धर्म दिन्ना की उपसम्पदा, दूतद्वारा।[३]

८. प्रत्यन्तिक जनपदों में विनयधर जो पञ्चम है उससे अर्थात् पाँच भिक्षुओं के सङ्घ के सन्मुख उपसम्पदा।[४]

९. मध्य देश में, १० भिक्षुओं से।[५]

१०. ६० भद्रवर्ग जिन की उपसम्पदा समूह में हुई—इन्होंने शरणगमन का तीन बार वाचन कर उपसम्पदा प्राप्त की।[६]

एहीति चोक्तस्तथागतेन तायिना। मुण्डश्च काषायधरो बभूव...(महावस्तु, ३-४३ से तुलना कीजिये; धम्मपद, अट्ठकथा, २१-१३ फ़ौसबोल, १८५५, पृ० १६७, बर्लिंग में, १, पृ० २८० इत्यादि)—महावस्तु, १.२, अवदानशतक, १'३३०,२.११३, दिव्य, कोश में 'एहिभिक्षुका' है; होअर्न्ले के खण्ड में एहिभिक्षुकता है; एहिभिक्खुपब्बज्जा। धम्मपद, १८५५, पृ० ११९ एहिभिक्षुणीवाद, दिव्य, ६१६। महावग्ग, १.६.३२, मज्झिम, ३-२ के वाक्य देखिये पाराजिक। १.८.१ (विनयपिटक ३पृ०२४) शतपथ, १.१,४२ से तुलना कीजिये।

शास्तुरभ्युपगमात् महाकाश्यपस्येति —(व्या० ३७४.११)

जिन-जिन देवप्रतिमाओं की काश्यप ने वन्दना की, वह खण्ड-खण्ड हो गयीं। वह भगवान् के पास जाते हैं और वन्दना नहीं करते, इस विचार से कि कहीं इनके रूप का नाश न हो (मास्य रूपविनाशो भूदिति)। इस अभिप्राय को जान कर भगवत् कहते हैं "तथागत की वन्दना करो।" काश्यप ने वन्दना की और यह देखकर कि भगवत् का रूप अविकोपित है उन्होंने कहा कि "यह मेरे शास्ता हैं" (अयं मे शास्ता)। यह इनकी उपसम्पदा थी। महावस्तु ३.५१, ४४६ से तुलना कीजिये; सूत्रालङ्कार ह्यूबर का अनुवाद, पृ० १६१।

१. प्रश्नाराधनेन—भगवत् प्रश्नविसर्जन से आराधित हुए...। होअर्न्ले के खण्ड में यह पढ़ना चाहिये—[सोदा] यिनः प्रश्न व्याकरणेन उपसम्पदा—(व्या० ३७४-१६)।

२. गुरुधर्माभ्युपगमेन (व्या० ३७४-१८), चुल्लवग्ग, १०, अङ्गुत्तर ४.७६, भिक्षुणीकर्मवाचना (बुलेटिन आव दि स्कूल ऑव ओरियण्टल स्टडिज, १९२०)।

३. वह अन्तःपुर में थी और उसने प्रव्रज्या के लिये बुद्ध के पास दूत भेजा। धम्मदिन्ना पर मज्झिम, १.२९९ और थेरीगाथा १२ देखिये जहाँ यह वस्तु बहुत भिन्न है।

४. विनयधर ज्ञप्तिवाचक है। प्रत्यन्त के जनपद–प्रत्यन्तिकेषु जनपदेषु (व्या० ३७४-२८) महावग्ग, ५-१३, ११; ९.४१ दिव्य, २१, १८ (प्रत्यन्तिकेषु); महावस्तु पञ्चवर्गेण गणेन उपसंपदा।

५. मिनायेव रिसर्चेज, २७२ देखिये। तकाकसू, हेस्टिंग्ज़, ७.३२० में।

६. शरणगमनत्रैवाचिकेन षष्टिभद्रवर्गपूगोपसम्पादितानाम्। व्याख्या (३४७.३१) —बुद्धं शरणं गच्छामि इति त्रिर्वचनेनोपसम्पत्—परमार्थ —"त्रिशरण का तीन बार वाचन।" यह अनुवाद ६-३० डी से पुष्ट होता है।

[६२] हम देखते हैं कि इन विनयधरों के अनुसार प्रातिमोक्ष-संवर अवश्यमेव विज्ञप्ति के अधीन नहीं है, यथा बुद्ध प्रभृति की उपसम्पदा।

जब कोई प्रातिमोक्ष-संवर का समादान करता है तो कितने काल के लिये करता है ?

यावज्जीवं समादानम् अहोरात्रं च संवृतेः।
नासंवरोऽस्त्यहोरात्रं न किलैवं स गृह्यते ॥२७॥

२७ ए-बी—संवर-समादान यावज्जीवन होता है या एक अहोरात्र के लिये[1]। प्रातिमोक्ष-संवर के प्रथम सात प्रकार का समादान जीवन के लिये होता है; उपवासस्थ का संवर-समादान एक अहोरात्र के लिये होता है, ऐसा नियम है।

क्योंकि दो कालावधि हैं—जीवन-काल, अहोरात्र-काल। पक्ष और अन्य कालावधि अहोरात्रकाल की वृद्धिमात्र हैं। 'काल' नाम का यह कौन सा धर्म है ? यह एक नित्य पदार्थ नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों का मत है। 'काल' शब्द अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न संस्कारों के परिदीपन के लिये एक अधिवचन है—(१.७,५.२५) जब चार द्वीपों में प्रकाश होता है तब दिन है; जब अन्धकार होता है तब रात्रि है—(३.८० सी)।

विवाद—सौत्रान्तिक कहते हैं कि हम स्वीकार करते हैं कि प्रातिमोक्ष-संवर यावज्जीवन के लिये ही उत्पादित होता है। वास्तव में यदि अनागतभव में शिक्षापदों के पालन की कोई प्रतिज्ञा पालन करे तो इस दूसरे जीवन के लिये वह संवर का उत्पाद नहीं कर सकेगा—१. इतर आश्रय विसभाग होगा (निकाय सभाग, २.४१); २. यह नवीन आश्रय समादान में प्रयुक्त न हो सकेगा; ३. इसको समादान का स्मरण न होगा।[2]

[६३] किन्तु यदि कोई एक अहोरात्र से अधिक काल के लिये उपवासस्थ के व्रत का समादान करता है, ५ दिन के लिये, १० दिन के लिये, तो इसमें क्या आपत्ति है यदि वह उपवास के कई संवर का समादान करता है ?

इसमें आपत्ति है, क्योंकि भगवत् सूत्र में कहते हैं कि उपवास-ग्रहण एक अहोरात्र के लिये होता है।

प्रश्न होता है कि भगवत् ने ऐसा क्यों कहा, क्या उनका यह विचार था कि उपवास संवर का उत्पाद अधिक काल के लिये नहीं हो सकता ? या उन्होंने यह सोचा कि यदि सत्व जिनकी इन्द्रियों का दमन करना कठिन है, एक अहोरात्र के लिये उपवास-व्रत का ग्रहण

महावग्ग १.१४ में ६० की उपसम्पदा' एहि ..''आओ'...से होती है। डायलाग्ज, २.१६९ में सुभद्द की उपसम्पदा देखिये।

१. [यावज्जीवम् समादानमहोरात्रं च] संवृतेः। संवृतेरिति संवरस्य—(व्या० ३७५-३)

२. भाष्य—विसभागाश्रयत्वात् तेन च तत्राप्रयोगादस्मरणाच्च। व्याख्या—तेन विसभागाश्रयेण तत्र समादानेऽप्रयोगात्। अस्मरणाच्चेतराश्रयेण तत् समादानं न स्मरति—(व्या ३७५.८)।

कर तो यह भली प्रकार अभ्यास करने में समर्थ होंगे। क्योंकि यथार्थ में एक दिन से अधिक काल के लिये उपवास-संवर के उत्पाद करने में कोई युक्ति विरुद्ध नहीं है। क्योंकि भगवत् अधिक काल के लिये उपवास-समादान का वर्णन नहीं करते, इसलिये वैभाषिक इस युक्ति को स्वीकार नहीं करते।

प्रश्न यह है कि असंवर की कालावधि क्या है?

२७ सी—असंवर अहोरात्रिक नहीं है।[१]

जैसा उपवास-संवर के लिये अहोरात्र का नियम है, वैसा असंवर में नहीं है क्योंकि इसका उत्पाद यावज्जीवन पापधर्म के अभ्युपगम से होता है।

यह कैसे है?

२७ डी—क्योंकि निकाय वचन है कि इसका लाभ इस प्रकार नहीं होता।[२] जिस प्रकार उपवास-संवर का समादान होता है उस प्रकार कोई आश्रय यह कहकर कि "मैं अहोरात्र असंवर में रहना चाहता हूँ" असंवर का समादान नहीं करता। वास्तव में वह गर्हित कर्म करता है।

आक्षेप—कोई आश्रय यह कह कर कि "मैं यावज्जीवन असंवर में रहना चाहता हूँ" असंवर का ग्रहण नहीं करता। इसलिये कोई यावज्जीवन के लिये असंवर का समादान नहीं करेगा।

उत्तर—वास्तव में इस प्रकार असंवर का समादान नहीं होता। विधिपूर्वक असंवर का कोई ग्रहण नहीं करता। सदा पाप-क्रिया के अभिप्राय से कर्म करने से असंवर का लाभ होता है। एक नियत काल के लिये (कालान्तरविपन्न) पाप-क्रिया की अभिसन्धि से असंवर का लाभ नहीं होता।

उपवास में 'सदा के लिये' ऐसा अभिप्राय नहीं होता; तिस पर भी इस वाक्कर्म के बल से कि "मैं एक अहोरात्र उपवास-संवर में रहना चाहता हूँ" संवर का लाभ होता है और इस कर्म का अनुष्ठान इसलिये होता है, क्योंकि वह इस संवर का प्रतिलाभ करना चाहता है। यदि कोई असंवर की इच्छा करता तो वह निःसन्देह एक कालावधि के लिये असंवर का समादान कर सकता और उस काल के लिये असंवर का लाभ करता, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये हम 'कालान्तरविपन्न' असंवर नहीं मानते। सौत्रान्तिकों के अनुसार चेतना से व्यतिरिक्त असंवर कोई द्रव्य (द्रव्यतः) नहीं है। असंवर पाप-क्रिया की अभिसन्धि (पापक्रियाभिसन्धि, व्या ३७५.१७) अर्थात् सानुबन्ध (सवासन) चेतना-विशेष है, जिस अनुबन्ध से वह इस चेतना से संयुक्त होता है। और जब तक तद्विरुद्ध चेतना द्वारा यह चेतना-विशेष

१. [नाहोरात्रिकोऽसंवरः]

२. [स किलैवं न लभ्यते।] शुआन् चाङ्—"इसका ग्रहण उस प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कुशल [संवर] का होता है।"

वासना सहित निराकृत नहीं होता तब तक—जब कि उसका कुशल चित्त होता है उस समय भी वह असंवर से समन्वागत (असंवरवान् व्या० ३७५.१९) रहता है, आसंवरिक रहता है।

अहोरात्र-संवर या उपवास-संवर का समादान कैसे होना चाहिये ?[1]

काल्यं ग्राह्योऽन्यतो नीचैः स्थितेनोक्तानुवादिना।
उपवासः समग्राङ्गो निर्भूषेणाऽनिशाक्षयात् ॥२८॥

२८. भूषण रहित हो, दूसरे के बाद वाचन करते हुए, विनीत भाव से, दूसरे दिन के प्रातःकाल तक पूर्ण उपवास का दूसरे से समादान होना चाहिए।[2]

[६५] १. विनीत भाव से, उकड़ूं बैठकर (उत्कुटुक) या घुटने टेककर[1] हाथों को कपोतक[2] रूप में विन्यस्त कर (एक हाथ की चार अंगुलियों को दूसरे हाथ के अंगुष्ठ और प्रदेशिनी के अन्तराल में रख कर) या अञ्जलिबद्ध हो; व्याधि की अवस्था छोड़कर गौरव प्रदर्शन के अभाव में संवर का उत्पाद नहीं होता।

२. विधायक या दाता अर्थात् जो आश्रय उपवास 'देता है' (समादान कराता है) उसके पूर्व अर्थी नहीं करता, न साथ-साथ। इस प्रकार दूसरे से उपवास का समादान होता है; अन्यथा न प्रतिग्रह होगा, न दान।[3]

---

[1] उपवास पर वीगर, चाइनीज् बुद्धिज्म, १.१४९ (दशसङ्गीति विनय) देखिये; ओल्डनवर्ग : बुद्ध, द्वितीय संस्करण, ३७२; रजिडेविड्स : बुद्धिज्म, १९०७, पृ० १३-१४१; मिनापेफ : रिसर्चेज्, पृ० ६१६—अङ्गुत्तर, १.२०५; सुत्तनिपात, ४००। पुनः-पुनः उपवास या दीर्घकाल का उपवास, द ग्रूत, कोड आव महायान, ६३—६ दिन का उपवास, वैटर्स, शुआन्-चाङ्, १.२०५, शावनेः सैकं सांत कांत, १.२६, टिप्पणी २; उपवसथ के चार दिन और उनकी तिथि, तकाकूसु, इत्सिग, ६३,१८८।

[2] परमार्थ और शुआन् चाङ् कारिका और भाष्य में तिब्बती भाषान्तर के क्रम से व्यावृत्त होते हैं।

—"कहने के पश्चात् गुड़गुड़ाना" (?) परमार्थ-अनुपश्चात् वादिन्; भाष्यः "[उपवास के] दाता के पश्चात्, उसके कथन के पश्चात्...।"

[1] तिब्बती [नीचासना]—उत्कुटुकस्थ भी है (महाव्युत्पत्ति, २८१,७५)।—परमार्थ और शुआन् चाङ् तिब्बती भाषाकार के "घुटनों को [भूमि पर] टेककर" का अनुवाद यह देते हैं—घुटनों को झुकाना, घुटनों के बल बैठना।

[2] अंगुष्ठरहितस्यांगुलिचतुष्कस्य इतर हस्ताङ्गुष्ठ प्रदेशिन्योरन्तराले विन्यसनात् कपोतकः। St. Petersburg. देखिये।

[3] विभाषा (१२४, ६) : उपवास-संवर किससे लेना चाहिये ? सात प्रकार के आश्रय से (सात 'परिषद्'—ताकाकूसु इत्सिङ्ग, पृ० ९६ भिक्षु, श्रामणेर, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेरिका, उपासक, उपासिका) संवर-लाभ क्यों होता है ?—जिन्होंने यावज्जीवन के लिये संवर का समादान नहीं किया है वह 'विनय धर' होने की योग्यता नहीं रखते।

३. वह आभूषण नहीं पहनता; वह नित्य का आभूषण पहने रहता है क्योंकि इससे गर्व नहीं होता।[४]

४. यह संवर-समादान दूसरे दिन के सूर्योदय तक के लिये होता है।

५. वह पूर्ण उपवास का ग्रहण करता है, उसके आठ अङ्गो के साथ, कम अङ्गो के साथ नहीं (ताकाकूसू, इत्सिग, पृ० १८८, शावने : सैकं सांत कांत, पृ० १३६)।

६. प्रात:काल, सूर्योदय के समय, क्योंकि यह संवर अहोरात्रिक है। (विभाषा, १२४, ७)।

[६६] जिसने पहले यह संवर-समादान किया है कि "मैं पक्ष की अष्टमी आदि को सदा उपवास करूँगा" वह भोजन करके भी उपवास ग्रहण करेगा।[१]

७. स्वयं नहीं, दूसरे से, पाप हेतु के होने पर, दाता के गौरव से लज्जावश वह गृहीतव्रत का भंग नहीं करेगा।

जब इन नियमों का आचरण नहीं होता तब वह सुचरित करता है किन्तु उसे उपवास-संवर का लाभ नहीं होता। जब इन नियमों का पालन होता है तब उस पुरुष के लिये भी जो दिन-रात पाप कर्म करता है (मृगया, प्राणातिपात; अदत्तादान, परस्त्रीगमन) उसका बड़ा महत्व है।

१. इसे उपवास[२] कहते हैं क्योंकि अर्हत् के आजीव के अनुसार (तदनुशिक्षणात्) इसका आजीव होने से यह अर्हत्[३] के समीप (उप) है। एक दूसरे मत के अनुसार यह उपवास कहलाता है क्योंकि यह यावज्जीव-संवर के समीप है (विभाषा, १२४, ११)।

---

४. परमार्थ--जो आभूषण पुराने नहीं हैं, उन्हें वह अस्वीकार करता है। क्यों? जिन आभूषणों का नित्य व्यवहार होता है वह नये आभूषणों की तरह गर्व नहीं उत्पन्न करते, जिस शब्द का अनुवाद Habitual करते हैं, वह 'नित्यक' होता है, नित्यक भोजन, महावस्तु। (५·६०३,२५३) का अर्थ 'साधारण' है।

१ उपवास-संवर (उसके लिए) सूर्योदय के समय उत्पन्न होता है। इस संवर को उत्पादित करने का सामर्थ्य समादान नियम चित्र को होता है। व्याख्या में है—"सभुक्त्वाऽपि गृह्णीयात्" इति। सूर्योदय एवं संवर उत्तिष्ठते समादाननियमचित्तस्योत्पादकत्वात् भुक्त्वाव ग्रहणं त्वभिव्यक्त्यर्थम्—(व्या० ३७५-२२)।

परमार्थ—"सभुक्त्वाऽपि गृह्णीयात्" का अक्षरार्थ देते हैं। शुआनचाङ् "यदि कोई विघ्नप्रत्यय" (१) होता है तो 'भी वह पूर्ण उपवास का लाभ करता है।'

२. विविध पाठ और अर्थ के लिये उपोसथ, उपोवध (ललित, महावस्तु, २.१७, अवदान-कल्पलता, ५.७६), पोषध (महाव्युत्पत्ति २६६), पोसह (जैन) देखिए।

Gsa-Sbyein="जो [गुणों का] संग्रह करता है, जो [पापों का] क्षालन करता है।" उपोषधिका, मायावती वारण के गर्भ में प्रवेश करने के समय उपोषधिका थीं—नियमवती ४·७४ ख — ब—३ पोषधिक, महाव्युत्पत्ति २७०.१३।

२. जिनके कुशलमूल स्वल्प हैं, उनके कुशलमूल का पोषण (पोष) करना (धा) इसका उद्देश्य है। क्योंकि यह कुशल का पोषण करता है, इसलिए भगवद् वचन है कि "इसे पोषध कहते हैं"।[४]

[६७] उपवास-संवर का समादान आठ अङ्गों के साथ क्यों है ?[१]

शीलाङ्गान्य प्रमादाङ्गं व्रताङ्गानि यथाक्रमम्।
चत्वार्येकं तथा त्रीणि स्मृतिनाशो मदश्च तैः ॥२६॥

२६ ए. सी. शीलाङ्ग, अप्रमादाङ्ग, व्रताङ्ग यथाक्रम चार, एक, तीन अङ्ग हैं।[२]

चार अङ्ग—प्राणातिपात, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, मृषावाद विरति यह शीलाङ्ग हैं। इनसे प्रकृति सा वद्य[३] का प्रहाण होता है।

एक अङ्ग—सुरामैरेयविरति अप्रमादाङ्ग हैं। इससे प्रमाद का निरोध होता है क्योंकि जिस पुरुष ने शील का ग्रहण किया है वह भी यदि सुरामैरेय का पान करे तो प्रमत्त होगा—(२.२५,२६, ४. ३४ सी. डी.)।

तीन अङ्ग—उच्चशयन, गीतादिविरति और विकाल भोजन विरति व्रताङ्ग[४] हैं क्योंकि वह संवेग के अनुकूल और अनुरूप हैं।

अप्रमादाङ्ग और व्रताङ्ग के ग्रहण की क्या आवश्यकता है ?

२६ डी. स्मृति-संभोष और मद के त्याग के लिये।[५]

[६८] जब कोई सुरामैरेय का पान करता है तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की स्मृति का प्रभाव होता है। जब कोई महाशयन और उच्चशयन का उपयोग करता है, जब कोई 'नृत्य-गीत' और वादित में भाग लेता है तो चित्त में मद उत्पन्न

---

३. उपोसक सुत्त (विसुद्धिमग्ग २२७), अङ्गुत्तर १.२११ देखिये।

४. परमार्थ और शुआन्-चाङ्, श्लोक उद्धृत करते है "क्योंकि यह अपने और दूसरे के कुशल अनास्रव चित्त की वृद्धि करता है। इसलिए भगवत् (बुद्ध सुगत) इसे 'पोषध' कहते हैं।"

१. अङ्गुत्तर ४.३८८ में उपोसथ के ६ अङ्ग हैं—मैत्री-भावना अधिक है।

२. [शीलाङ्गमप्रमादाङ्गम् व्रताङ्गं च यथाक्रमम्। चत्वार्येकम् तथा त्रीणि।]

३. व्याख्या, ३७५-२६; 'शील' पाराजिकाभावः संघावशेवाद्यभावः। पाराजिक (= पाराचिक), संघावशेष, संघादिसेस (= संघातिशेष) पर, सिलवां लेवी, लाङ्ग प्रीकैनानिक व बुद्धिज्म, जे० ए० एस० १९१२; २.५०३-५०६—संघावशेष वह आपत्ति है "जिनमें आपत्ति करने वाला संघ में रह सकता है।" किन्तु पाराजिक आपत्ति करने वाले का 'संघ से आत्यन्तिक निष्कासन होता है।"—सकाकी रिओसाबुरो (व्युत्पत्ति, २५५-२५६) बर्नूफ़, कर्न, लेवी को उद्धृत करते हैं। चीनी अनुवाद—"जो संघ का नाश करता है।"

होता है। दोनों अवस्थाओं में वह शीलभङ्ग से दूर नहीं है। जब कोई सकाल भोजन के नियम का पालन करता है, जब वह विकाल भोजन का त्याग करता है तो उपवास के नियमों की स्मृति बनी रहती है और संवेग उत्पन्न होता है। आठवें अङ्ग के अभाव में स्मृति और संवेग दोनों न होंगे।

१. आचार्यों के अनुसार उपवास उपवासमात्र है, विकाल भोजन-विरति है; अन्य विरतियाँ उपवास का अङ्ग हैं (उपवासाङ्ग)। अनशन अङ्ग नहीं है; इसलिए ८ अङ्गों की संख्या की पूर्ति के लिये ७वें अङ्ग को दो में विभक्त करते हैं—नृत्य-गीत, वादित-विरति और गंधमाल्य विलेपन विरति। [सौत्रान्तिक कहते हैं] कि यह विवेचन सूत्र के विरुद्ध है क्योंकि सूत्र के अनुसार विकाल भोजन विरत्ति के अनन्तर ही उपवासस्थ को कहना चाहिये कि "इस आठवें अङ्ग से मैं अर्हत् के नियम का अनुकरण करता हूँ, मैं उसके अनुसार आचरण करता हूँ।"[१]

२. इसलिए वह उपवास क्या होगा जो अपने अङ्गों से भिन्न है और जिसके आठ अङ्ग हैं? सौत्रान्तिकों के अनुसार यह अङ्गों का समुदाय ही है जिसके बारे में कहते हैं कि इसके अङ्ग हैं, यह स्वयं समुदाय है जो अङ्गों का होता है।

'अष्टाङ्ग उपवास' का अर्थ उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे 'रथाङ्ग', 'चतुरङ्गबेल', 'पञ्चाङ्गदिष्ट'[२] इन पदों को समझते हैं।

३. वैभाषिकों के अनुसार विकाल भोजन-विरति उपवास भी है और उपवास का अङ्ग भी है। यथा समग्दृष्टि मार्ग भी है और मार्गाङ्ग भी है; जैसे धर्मप्रविचयबोधि और बोध्यङ्ग दोनों है (६.६८), जैसे समाधि ध्यान भी है, ध्यानांग भी है (८.७८)।

[६९] ४. किन्तु हम [सौत्रान्तिकों के साथ] कहेंगे कि यह असम्भव है, सम्यक् दृष्टि धर्म प्रविचय, समाधि अपने ही अङ्ग हैं। क्या आप कहेंगे कि पूर्वक सम्यक् दृष्टि आदि उत्तर सम्यक् दृष्टि आदि के अङ्ग हैं? इस कल्पना में प्रथम क्षणोत्पन्न आर्य मार्ग के आठ अङ्ग नहीं होंगे। बोध्यङ्गों में भी पश्चिम क्षण बोध्यङ्ग न होगा।[१] क्या उपवास संवर का लाभ केवल उपासकों के लिये है?[२]

---

४. व्रताङ्ग = नियमाङ्ग।

५. [स्मृतिमोषमदौ ततः ॥]

१. अङ्गुत्तर, ४.२४८ से तुलना कीजिए जहाँ अङ्गों का क्रम भिन्न है।

२. 'पिष्ट' पर हर्षचरित, ४५, २,१२३, २, २७३ (एफ० डब्लू० टामस) देखिये।

१. संघभद्र इस आक्षेप का निराकरण करते हैं।

२. उपासक और उनका संघ के साथ स्थान; इसके लिये बर्नूफ, इंट्रोडक्शन, २७९-२८२; स्पेन्स हार्डी, ईस्टर्न मोनैकिज्म; ओल्डनबर्ग, बुद्ध, १९१४, पृ० १८२, ३१७, ४२९; मिनयेव, रिसर्चेज, २९६; फूशे, आर्ट ग्रेको-बुद्धीक द गन्धार, २.८६; प्रिजिलुस्की, लिजेण्ड आव अशोक, २०७-८ देखिये।

चुल्लवग्ग, ५.२०, अङ्गुत्तर, ३.३६६, ४.३४४, संघ और उपासक के सम्बन्ध के लिये महत्त्व के हैं।

प्रधान सूत्र महानाम सूत्र है जिसके कई परिच्छेदों का विचार कोश में हुआ है। अन्य परिच्छेदों का उल्लेख बुद्धघोष की टिप्पणियों में है—(सुमङ्गलविलासिनी, पृ० २३५)।

उपासक को 'भिक्षु' माना है (अङ्गुत्तर, २.८) क्योंकि उसको उपवास 'दान' का अधिकार है (विभाषा, ऊपर पृ० ६५, टिप्पणी संख्या ३), क्योंकि पापदेशना के लिये वह आमन्त्रित होता है (४.३४ ए-बी.) वह 'तृतीय' है—किन्तु उपासक का अर्थ है "वह जो (त्रिरत्न) की पूजा करता है" (सुमङ्गल विलासिनी, पृ० २३४) और हम देखेंगे कि सौत्रान्तिकों के अनुसार शिक्षापदों के समादान के बिना भी उपासक हो सकता है। केवल शिक्षापदों के अनुसार आचरण करने से उपासक परिपूर्ण होता है (कोश ६ पृ० ७० टिप्पणी २)।

क्या उपासक 'श्रामण्य-फल' और विशेषकर अर्हत्व की प्राप्ति कर सकता है। इस सम्बन्ध में कथावत्थु, ४.१, मिलिन्द २४२, २६५,३४८ देखिये।

कुछ के अनुसार कामभोगी उपासक भी आर्यमार्ग में प्रवेश कर सकता है यदि लोक में रहते हुए भी वह ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है—(ब्रह्मचारिन्; उदाहरण के लिये राल्स्टन, टिबेटन टेल्स, १९७)। वह अनागामिफल का लाभ कर सकता है, किसी अवस्था में भी वह अर्हत् नहीं होता (इसी अर्थ में धम्मपद, १४२ को समझना चाहिए; उदान, ७.१०; मज्झिम, १.४६६, ४८३, ४९०; [सूत्र स्पष्ट रीति से नहीं कहते कि कामभोगी उपासक स्रोतापन्न और सकृदागामी के फल का लाभ कर सकता है या नहीं।] किन्तु अङ्गुत्तर, ३.४५१ में बीस ऐसे उपासक गिनाये गये हैं जिन्होंने अर्हत्व की प्राप्ति की है (संयुत्त, ५.४१० देखिये)। कोश के समान मिलिन्द का विश्वास है कि उपासक अर्हत् हो सकता है। जिस क्षण में वह अर्हत् होता है उसी क्षण में वह भिक्षु होता है; उसी दिन वह संघ में प्रवेश करता है; यदि संघ नहीं है तो किसी श्रमण सम्प्रदाय में प्रवेश करता है [वासीलीफ, पृ०२४८ के तिब्बती ग्रन्थों का अर्थ समझने में भूल की है। मिनापेव रिसर्चेज़, पृ० २२० उनका अनुसरण करते हैं; कोश ६.३० देखिये]।

साधारणतः उस मनुष्य को स्वर्ग का लाभ होता है जो कामसुख की अनित्यता का ज्ञान रखते हुए भी उनका प्रहाण करने में समर्थ नहीं है—(थेरगाथा, १८७), जो ब्रह्मचर्य के समादान से विमुख होता है—(सुत्तनिपात ३९६, दिव्य, ३०३), जो पंचशील और उपवास की रक्षा से ही सन्तुष्ट है। उपासकों को जो शिक्षा दी जाती है, दानकथा, शीलकथा, स्वर्ग-कथा आदि पर मज्झिम, १.३७९ देखिये; चुल्लु; ६.४१, ५, महावग्ग, १.७, ५ आदि दीघ २.११३, संयुत्त ४.३१४, दिव्य, ३००, ६१७; प्रिज़िलुस्की, लिजेण्ड ऑव् अशोक, १९६, ३५३; सेना, पियदासं, २.२०८। व्याधित या मरणासन्न उपासक के यहाँ आवासिक (विहार में निवास करने वाला भिक्षु) का जाना, इत्यादि, अङ्गुत्तर, ३.२६१, मज्झिम, ३.२६१; भिक्षुओं के न होने पर उपासकों का जाना, संयुत्त, ५.४०८, उपासक भिक्षुओं को सूत्र का व्याकरण कर सकते हैं, महावग्ग, ३.५.९। कौतुक मङ्गलादि दृष्टि, उपासकों को इससे भय (कोश, ४.८६)।

अन्यस्याप्युपवासोऽस्ति शरणं त्वगतस्य न।
उपासकत्वोपगमात् संवृद्दुक्तिस्तु भिक्षुवत् ॥३०॥

[७०] ३० ए. बी. अन्य भी उपवास-परिग्रह कर सकते हैं किन्तु त्रिशरणगमन के विना नहीं।[1]

यदि कोई पुद्गल जो उपासक नहीं है, उपवास के नियमों का समादान करने से पूर्व उसी अहोरात्र में त्रिशरण का परिग्रह करता है तव उपवास-संवर का उसमें उत्पाद होता है। त्रिशरण-परिग्रह के विना ऐसा नहीं होता तथा अज्ञानादि से अन्यत्र ही होता है—(अन्यत्राज्ञानात्व्या ३७६.७; ४. ३१ डी.)'।

महानाम सूत्र में कहा है—हेमहानामन्! अवदातवसन, गृही, पुरुष, पुरुषेन्द्रिय से समन्वागत, जो बुद्ध-धर्म संघ की शरण में जाकर इस वाक्य का वाचन करता है कि "मुझे उपासक करके मानिये" वह इसी से उपासक होता है।"[2] क्या इसका अर्थ यह है कि केवल त्रिशरण-प्रतिग्रह से ही उपासक होता है।

[७१] अपरान्तक उत्तर देते हैं; "हाँ"—(विभाषा, १२४,१)।

---

1. [उपवासोऽन्येष्वपि न] शरणगमनैर्विना।

2. (१) महानामसूत्र अङ्गुत्तर, ४.२२० और संयुत्त, ५.३९५ (सुमङ्गल विलासिनी, २३४) के संस्करण—यतो रवो महानाम बुद्धं सरणं गतो होति धम्मं सरणं गतो होति संघं सरणं गतो होति एत्तावता रवो महानाम उपासको होति—त्रिशरण-प्रतिग्रह से उपासक होता है।

(२) महानाम सूत्र के संस्कृत संस्करण में (संयुक्त, ३३, ११) त्रिशरणगमन के अतिरिक्त एक छोटा सा वाक्य और है—"मुझे उपासक करके मानिये।"(दिव्य ४७) में यही है—उपासिकांश्चास्मान् भगवान् धारयतु—व्याख्या (३७६-३०) में इस सूत्र का एक अंश उद्धृत है—कियता भवन्त उपासको भवति, यतः खलु महानामन् गृही अवदातवसनः पुरुषः पुरुषेन्द्रियसमन्वागतः...उपासकं मां धारय इयतोपासकोभवति। (व्याख्या—गृहीत्युद्देशपदम्। अवदातवसन इति निर्देशपदम्। पुरुष इति उद्देशपदम्। पुरुषेन्द्रियसमन्वागत इति निर्देशपदम्—(व्या० ३७६-९)।

शुआन्-चाङ् प्रार्थी की प्रार्थना में यह शब्द जोड़ते हैं—करुणाम् उपादाय...धारय।

(३) इससे विस्तृत वाक्य, क्षुद्रपाठान्तर के साथ, अङ्गुत्तर, १-५६, संयुत्त ४.११३; ५.१२, चुल्ल, ६.४,५, दीघ, १.८५, सो अहं भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसंघं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतगो पाणुपेतं सरणं गतं।...सुमङ्गलविलासिनी की टीका—भगवा उपासको अयं ति एवं धारेतु जानातु: "भगवत् जानें कि मैं उपासक हूँ।"—पाणुपेतं ति पाणे हि उपेतं, अर्थात् "जब तक मेरा जीवन है तब तक भगवत् मुझे 'उपेत' (उनके समीप

काश्मीरक कहते हैं कि विना उपासक-संवर का परिग्रह किये कोई उपासक नहीं हो सकता।

आया हुआ) करके जानें, मेरा दूसरा शास्ता नहीं है। उपासक ने त्रिशरण-परिग्रह पहले ही किया है। वह योग-विहित (कप्पिय) कर्म करता है। यदि मैं बुद्ध के सम्बन्ध में कहूँ कि वह बुद्ध नहीं हैं तो मेरा सिर काट लिया जाय...।"—देखिये पृ० ७४ टि० २।

(४) वह वाक्य जिससे वसुबन्धु दृष्टसत्य सूत्र का बताते हैं (देखिये पृ० ७४, टि० १) और जिसके प्रथम अंश को वैभाषिक (पृ० ७२ पंक्ति ६) उद्धृत करता है, इसमें 'प्राणोपेत' के स्थान में 'प्राणापेत' पठित है ('प्राणोपेत' का अर्थ और तत्सम्बन्धी विवाद, पृ० ७२, पंक्ति ६ और पृ० ७५, पंक्ति ६ में दिया है)। यह वाक्य इस प्रकार है—उपासकं मां धारय अद्याग्रेण यावज्जीवम् प्राणापेतम् [शरणं गतं अभिप्रसन्नम्]।

(५) सर्वास्तिवादी वाक्य (नंजिओ, ११६६, इसका सम्पादन और अनुवाद वीगर ने 'बुद्धिज्म शिन्वा' १.१४६-७ में दिया है)—"मैं एवं नामा आज से जीवनपर्यन्त पुरुषों में उत्तम, बुद्ध की शरण में जाता हूँ...मुझे उपासक करके जानिये, मैं आत्यन्तिक रूप से बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में गया हूँ, बुद्ध शाक्य मुनि के धर्म में अभिप्रसन्न हूँ, मैंने पञ्चशील का प्रतिग्रह किया है।" तीन वार इसका वाचन और अन्त में पञ्चशील का व्याख्यान होता है तथा प्रार्थी उत्तर में कहता है कि वह इनकी रक्षा करेगा।—'पञ्चशील का परिग्रह कर' यह शब्द (४) में दिये वाक्य के 'प्राणापेत' के स्थान में हैं।

(६) "पञ्चशील का परिग्रह कर" इन शब्दों का संस्कृत रूप अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता, पृ० १३७ की टीका करते हुए अभिसमयालङ्कारालोक में दिया है। हम जानते हैं कि विनय में दो पाठ हैं। पहले पाठ के अनुसार प्रार्थी आचार्य (जो उसे उपासकत्व प्रदान करता है) से निवेदन करता है कि मुझे त्रिशरण-परिग्रह करने वाला उपासक समझिये। दूसरे पाठ के अनुसार प्रार्थी निवेदन करता है कि मुझे उपासक करके स्वीकार कीजिये; मैंने त्रिशरण-परिग्रह और पञ्च शिक्षा पद का परिग्रह किया है।

त्रिशरण परिग्रहात् (पढ़िये—गमनात्) पञ्चशिक्षापदपरिग्रहाच्चोपासकस्तथोपासिकेति-द्विधा भेदः। त्रिशरणपरिगृहीतम् (पढ़िये—गतम्) उपासकं मां आचार्यो धारयतु। तथा त्रिषरणगतं पंचशिक्षापदपरिगृहीतम् उपासकं मामाचार्यो धारयत्विति विनयद्विधापाठात्—(राजेन्द्र लाल, बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृ० १६४, कलकत्ते की एक अशुद्ध हस्तलिखित पोथी के अनुसार)।

इसलिए दो प्रकार के उपासक हैं—एक वह जिसने केवल त्रिशरण-परिग्रह किया है, दूसरा जिसने त्रिशरणगमन किया है और पांच शिक्षापदों का परिग्रह किया है।

(७) नैपाली वाक्य—यह आकुल है (१० पापों की विरति पाँच शिक्षा पदों के परिग्रह के पहले आती है)। यह वाक्य आदिकर्मप्रदीप में (बुद्धिज्म, १८९८ के मेरे संस्करण में पृ० १८६ देखिये) दिया है। यह मिनयेव के रिसर्चेज; पृ० २६६ में भी दिया है।

[७२] किन्तु क्या यहाँ सूत्र से विरोध नहीं है ?

नहीं ।[१] क्योंकि—

३० सी.-डी. उपासकता के उपगत होने से ही संवर का उत्पाद होता है ।[२]

उसमें उपासक संवर उपासकता के उपगत होने से ही उत्पन्न होता है, जब वह कहता है कि "आज से मुझे यावज्जीवन प्राणापेत उपासक करके जानिये ।"[३]

'प्राणापेत' का क्या अर्थ है ?

'प्राणापेत' से 'प्राणातिपातापेत' समझना चाहिये, मध्यमपद के लोप से ऐसा रूप सिद्ध होता है प्राणातिपात से विरत, जो प्राणातिपात से अति विरत है (पृ० ७५ टिप्पणी १ देखिये) । इसलिये उपासकता का ग्रहण कर संवर-ग्रहण होता है (क्योंकि प्राणातिपात से मैं विरत हूँ, यह कहकर प्रार्थी आचार्य के अभिमुख होता है) । किन्तु शिक्षापद का ज्ञान करने के लिये, ३० डी. जैसा भिक्षु के लिये होता है, उसी प्रकार उपासक के लिये शिक्षापद की उक्ति है ।[४]

ज्ञप्तिचतुर्थ कर्म से भिक्षु, भिक्षु-संवर का लाभ कर चुका है तथाति स्थूल शिक्षापद का उसे ग्रहण कराते हैं । "तुमको इससे, इससे प्रतिविरत रहना चाहिये, तुम्हारे ब्रह्मचारी अन्य शिक्षापद तुम्हें बतावेंगे" ।[५] इसी प्रकार श्रामणेर और इसी प्रकार उपासक भी ।[६]

[७३] उपासक एक वार, दोवार, तीन वार, त्रिशरण-परिग्रह कर संवर का लाभ करता है, पश्चात् उसे शिक्षापद ग्रहण कराते हैं (ग्राह्यते)—"प्राणातिपात का परित्याग कर मैं प्राणातिपात से विरत होता हूँ" । इसलिये उपासक संवर का ग्रहण किये बिना उपासक नहीं होता ।

सर्वेचेत् संवृता एकदेशकार्यादयः कथम् ।
तत्पालनात् किल प्रोक्ता मृद्वादित्वं यथामनः ॥३१॥

---

१. परमार्थ नहीं, क्योंकि वह पाँच विरतियों का उत्पाद करता है।

२. =[उपगम्योपासकताम् दमः] ४.३८ में हमने देखा है कि 'दम' 'संवर' है। किन्तु तिब्बती 'दम' का अनुवाद hdul-ba करते हैं।

३. ऊपर पृ० ७१, टिप्पणी २, ४ देखिये ।

४. उक्तिस्तु भिक्षुवत्—(व्या० ३७६.१४) ।

५. यथैव हि भिक्षुर्लब्धसंवरोऽपि ज्ञप्तिचतुर्थेनकर्मणा-शिक्षापदानि यथास्थूलं ग्राह्यते प्रज्ञाप्यते । इतश्चामुतश्च पाराजिकादिभ्यस्तव संवरः । अन्यानि च ते सब्रह्मचारिणः कथयिष्यन्तीति—(व्या० ३७६-१५) ।

६. जब श्रामणेर कहता है—"अहं एवं नामा तं भगवन्तं तथागतं अर्हन्तं सम्यक्सम्बुद्धं शाक्यमुनिं शाक्याधिराजं प्रव्रजितमनुप्रव्रजामि गृहस्थलिंगं परित्यजामि प्रव्रज्यालिङ्ग समाददामि श्रमणोद्देशं मां धारय" और इस वाक्य को दुहराता है—(एवं यावत् त्रिरपि) । तब वह श्रामणेर-संवर का लाभ करता है, जिसे विस्तार से उसे पीछे बताते हैं ।

३१ ए-बी. यदि सब उपासक उपासक-संवर का लाभ करते हैं तो उपासक एकदेश-कारी आदि कैसे हो सकता है ?[1]

यदि सब उपासक उपासक-संवर में समारूढ़ होते हैं तो भगवत् चार प्रकार के उपासकों का वर्णन कैसे कर सकते हैं—एक शिक्षापद का उपासक (एक देशकारी), दो शिक्षापदों का उपासक (प्रदेशकारी), तीन या चार शिक्षापदों का उपासक (यद्भूयस्कारी), पाँच शिक्षापदों का उपासक (परिपूर्णकारी) ?[2]

३१ सी. निकाय का कहना है कि यह आख्यायें शिक्षापदों की रक्षा की दृष्टि से हैं।[3] जो उपासक वास्तव में एक शिक्षापद की रक्षा करता है। [उसने सब का परिग्रह किया है] उसके लिये कहा जाता है कि वह इस शिक्षापद का रक्षक (कर) है। [यह नहीं समझना चाहिए कि एक देशकारी वह उपासक है जिसने केवल एक शिक्षापद के अभ्यास का समादान किया है]। सब उपासक समान रूप से संवरस्थ होते हैं।[4]

---

१. [सर्वे चेत् संवृता एकदेशकार्यादयः कथम्।]

२. महाव्युत्पत्ति, ८४ में 'परिपूर्णकारिन्' के पूर्व 'अपरिपूर्णकारिन्' अधिक है। चीनी और तिब्बती भाषान्तरों में 'प्रदेशकारिन्' का यह अनुवाद दिया है—जो दिन में पालन करता है (='एक दिन' और प्रदेश भी)। व्याख्या सूत्र (महानाम सूत्र, संयुक्त, ३३, ११) उद्धृत करती है—कियता भदन्त उपासक एकदेशकारी भवति...परिपूर्णकारी। इह महानाम-न्नुपासकः प्राणातिपातं प्रहाय प्राणातिपाताद्विरतो भवति। इयता महनामन्नुपासकः शिक्षा-यामेकदेशकारी भवति...द्वाभ्यां प्रतिविरतः प्रदेशकारी भवति। त्रिभ्यः प्रतिविरतश्चतुर्भ्यो वा यद्भूयस्कारी भवति। पञ्चभ्यः प्रतिविरतः परिपूर्णकारी भवति। शावनेः सैकं सांतकान्त, १.२४४ में इस सूत्र का व्याख्यान है।

३. [ते किल रक्षकाख्याताः] १—परमार्थः "क्योंकि वह रक्षा करते हैं, इसलिये ऐसा कहलाते हैं।" शुआन्-चाङ्: "रक्षा की दृष्टि से ऐसी आख्या है।"

४. शुआन्-चाङ् आगे कहते हैं; यदि अन्यथा होता तो एक शिक्षापद का परिग्रह करने वाला उपासक "एक शिक्षापद का परिगृहीता कहलाता"।

यह जानता है कि ऐसे उपासक तो नहीं हैं जो पञ्चाङ्ग-संवर से समन्वागत नहीं हैं और जिन्होंने एक, दो, तीन, चार शिक्षापदों की रक्षा का समादान किया है। वैभाषिकों के अनुसार, नहीं; एक देशकारी वह उपासक है जो परिगृहीत शिक्षापदों में से चार का व्यतिक्रम करता है। अंगुत्तर, ३.२१५ में उपासक गवेसिन् (सीलेसु अपरिपूरकारिन्) अपने साथियों से कहता है; "आज से मुझे सीलेसु परिपूरकारिन् समझो।" तत्पश्चात् वह भिक्षु के नियमों का एक-एक करके परिग्रह करता है [केवल भिक्षु का शील परिपूर्ण होता है]—अंगुत्तर, ४.३८०, ५.१३१।

[७४] सौत्रान्तिक आक्षेप करता है : आपका वादसूत्र विरुद्ध (उत्सूत्र) है—

(१) आप कहते हैं कि केवल प्राणापेत उपासक के भाव के समादान से संवर का लाभ होता है—"मुझे प्राणापेत उपासक करके स्वीकार कीजिए"। सूत्र का पाठ ऐसा नहीं है। वास्तव में महानाम सूत्र जो उपासक का लक्षण देता है, हमको इष्ट है, कोई दूसरा सूत्र नहीं। और महानाम सूत्र में 'प्राणापेत' शब्द नहीं है।

[७५]. आपका दावा है कि सूत्रान्तर[1] का प्रमाण आपके पास हैं जिसका पाठ है कि "आज से यावज्जीवन [मुझे उपासक करके मानिए] प्राणों को भी संशय में डालकर (प्राणोपेत[2]), शरण-गत हो, पूर्ण श्रद्धा रखते हुए (अभिप्रसन्न)। "किन्तु यह वचन उन पुद्गलों को अभिसन्धान करके कहा गया है जिन्होंने सत्य का दर्शन किया है जिन्होंने अवेत्यप्रसाद (६.७३) का प्रतिलाभ किया है और जो इसलिये प्राणपण से सद्धर्म को उपगत होते हैं।

"हम अपने प्राणों की रक्षा के लिये भी धर्म का परित्याग नहीं कर सकते।" इस सूत्र से उपासक-संवर का लक्षण नहीं अपदिष्ट होता।

इसके अतिरिक्त 'प्राणापेत' पद जिसके आधार पर आप अपना वाद व्यवस्थापित करते हैं, कहीं नहीं पठित है, न महानाम सूत्र में, न दृष्टसत्य सूत्र में। ऐसे पद को कौन स्वीकार करेगा जिसका अर्थ परिपुष्ट नहीं है।[1] इस पद के आधार पर कौन स्वीकार

---

१. व्याख्या के अनुसार दृष्टसत्यसूत्रः यथार्थ है जैसा कि वसुबन्धु के भाष्य से भी सिद्ध होता है; देखिये पृष्ठ ७५, पंक्ति ६, "इसके अतिरिक्त..." दृष्टसत्यसूत्र से, मैं समझता हूँ, वह सूत्र इष्ट है "जिसमें दृष्टसत्य पुद्गल उपासकत्व का प्रार्थी है।" यह दिव्य, ७५ या सदृश सूत्र हैं—भगवत् इन्द्र ब्राह्मण की सत्यकाय दृष्टि का विनाश करते हैं और इन्द्र स्रोत आपन्न फल का लाभ करता है।...स दृष्टसत्यः कथयति अतिक्रान्तोऽहम् भदन्तातिक्रान्तः (पालिपाठ 'अभिक्कन्तं'...है)। 'एषोऽहम् भगवन्तं बुद्धं शरणं गच्छामि धर्मं च भिक्षुं संघं च। उपासकं च मां धारय अद्याग्रेण यावज्जीवं प्राणोपेतम् शरणं गतं अभिप्रसन्नम् (Edition : गतम्। अभिप्रसन्नोऽथेन्द्रो ब्राह्मण...। यही वचन दिव्य, ४६२ का है जिसका पाठ सुष्ठु है)। कोश के जापानी सम्पादक गृहपतिपुत्र श्रोण के सूत्र (संयुक्त, १·२०) को दृष्टसत्यसूत्र बताते हैं; "श्रोण! सर्वरज का निरसन कर, सर्वक्लेश का प्रहाण कर, धर्म का विशुद्ध चक्षु प्राप्त कर, जिस क्षण में वह धर्म का दर्शन करता है... वह व्युत्थान कर सारिपुत्र से कहता है—"मैं आज से शरण में जाता हूँ..."चक्षु से समन्वागत उपासकता के प्रार्थी उदेनराज और श्रोण हैं (संयुक्त ४·११३) किन्तु वह साधारण वाक्य का प्रयोग करते हैं; उपासकं मां भारद्वाजो धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं यहाँ संस्कृत पाठ का अभिप्रसन्न छोड़ दिया गया है—अभिप्रसन्न पर संयुक्त ५·२२५, ३७८)।

२. 'प्राणोपेत' का यह अर्थ है—"प्राणोपेत=जीवन को संशय में डालना" (तिब्बती) "जीवन का परित्याग करना" (शुआन्-चाङ्)। बुद्धघोस का विवेचन हम पृ० ७१ टिप्पणी २, ३७ में देख चुके हैं।

करेगा कि उपासक ने पाँच विरतियों का परिग्रह उनके विधिपूर्वक ग्रहण करने के पूर्व किया है ?

(२) यदि 'एक देशकारिन्' का अर्थ उस पुद्गल से है जो संवर का व्यतिक्रम करता है तो सूत्रोक्त प्रश्न (पृ० ७३ टि०२) युक्त नहीं है, फिर उसका विसर्जन कैसे युक्त होगा ? वास्तव में वह कौन है जो उपासक-संवर को जानता हुआ और यह भी जानता हुआ कि इसके पाँच अङ्ग हैं; "जो एक शिक्षापद का अतिक्रम नहीं करता वह एक शिक्षापद की रक्षा करता है" इत्यादि वाक्य का व्याख्यान करने में असमर्थ होगा ?

इसके विपरीत जो पुद्गल उपासक-संवर की इयत्ता को नहीं जानता, जिसका अभिसन्धान उन पुद्गलों से है जो एक, दो, तीन, सब शिक्षापद की रक्षा करते हैं (तन्मात्र शिक्षाक्षमान् प्रति, व्या० ३७७.१३) वह इस प्रश्न को पूछ सकता है कि "एक शिक्षापद का उपासक होने के लिए क्या करना चाहिये...सब शिक्षापदों का उपासक होने के लिये क्या करना चाहिए ?"

वैभाषिक का उत्तर है कि यदि उपासक-संवर के बिना भी कोई उपासक प्रज्ञपित होता तो वह अपरिपूर्ण-संवर के साथ भिक्षु या श्रामणेर भी हो सकता।

उत्तर—हम उपासक श्रामणेर भिक्षु-संवर की इयत्ता और उसकें अङ्गों की संख्या कैसे जानते हैं ? स्पष्ट है कि शास्ता की अनुशासनी से किन्तु शास्ता ऐसे उपासकों का वर्णन करते हैं जो परिपूर्ण-संवर से समन्वित नहीं हैं।

[७६] वह अपूर्ण-संवर के भिक्षु या श्रामणेरों का वर्णन नहीं करते,[१] काश्मीर वैभाषिक इस मत को स्वीकार नहीं करते।

३१ डी. सब संवरचित्त के अनुसार मृदु आदि होते हैं।[२] आठ संवरों का मृदुत्व, मध्यत्व, अधिमात्रत्व उस चित्त के मृदुत्व, मध्यत्व, अधिमात्रत्व पर आश्रित है जिससे उनका समादान होता है। यदि ऐसा है तो एक अर्हत् का प्रातिमोक्ष-संवर मृदु हो सकता है और पृथग्जन का अधिमात्र हो सकता है।

यदि कोई त्रिशरण-परिग्रह के बिना केवल संवर का समादान करता है तो क्या वह उपासक होता है ?

---

१. प्राणापेतम् = प्राणेभ्योऽपेतम्, प्राणैरपेतम्, प्राणातिपातादिभ्योऽपेतम्। यह अन्तिम निर्वचन "प्राणातिपातादि से विरत" वैभाषिकवाद को युक्त सिद्ध करता है। यह कहना कि "जानो कि मैं प्राणातिपात से विरत उपासक हूँ" प्राणातिपातविरति का समादान करना है।

१. खुद्दानुखुद्दक संवर में संगृहीत नहीं हैं; अंगुत्तर, १.२३१।

२. = [मृद्वादयो मनो यथा।]

नहीं, दाता और ग्रहीता के अज्ञान को छोड़कर (न अन्यत्राज्ञानात्)। जो पुद्गल बुद्ध, धर्म, संघ की शरण में जाता है वह किसकी शरण में जाता है ?

बुद्धसंघकरान् धर्मान् अशैक्षान् उभयांश्च सः।
निर्वाणं चैति शरणं यो याति शरणत्रयम् ॥३२॥

३२. जो त्रिशरण-गमन करता है वह बुद्धकारक अशैक्षधर्मों में, दो प्रकार के संघकारक धर्मों में और निर्वाण में शरण लेता है।[३]

[७७] (१) जो बुद्ध की शरण में जाता है वह अर्हत् के बुद्धकारकधर्म, जो बुद्ध-प्रज्ञप्ति के हेतु हैं अर्थात् जिनके कारण प्रधानतया एक आत्मभाव बुद्ध की प्रज्ञप्ति प्राप्त करता है,[१] उनती शरण में जाता है अथवा यह वह धर्म है जिनके प्रतिलाभ से एक आश्रय-विशेष सर्वधर्म का ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध कहलाता है। यह धर्म क्षय-ज्ञान, अनुत्पादज्ञान, सम्यग् दृष्टि (६.५०,६७) और वह धर्म है जो इन ज्ञानों के परिवार हैं अर्थात् अनास्रव पञ्चस्कन्ध।[२]

बुद्ध के रूपकाय[३] में बुद्धत्व की प्राप्ति से विशेष नहीं होता। इसलिये बुद्ध के रूपकाय की शरण में नहीं जाते। वस्तुतः बोधि-सत्व की अवस्था में जैसा कि रूपकाय होता है, वैसा पश्चात् भी होता है--(रूपकायस्य पूर्वम् पाश्चाच्चाविशेषात्)।

---

३. बुद्धं [संघ] करान् धर्मानशैक्षानुभयांश्च सः। निर्वाणं चैति शरणं यो याति-शरण-त्रयम् ॥—संघभद्र की टीका, २३·४, फोलियो ८४ आदि का अनुवाद भूमिका में देखिये।

विभाषा,३४,७—कुछ का कहना है कि बुद्ध की शरण में जाना तथागत काय जिसके अङ्ग—सिर, ग्रीवा, उदर, पृष्ठ, हाथ और पैर हैं, उसकी शरण में जाना है। इसलिये कहते हैं कि यह काय जो पिता और माता से जात है सास्रव धर्म हैं, इसलिये यह शरण का स्थान नहीं है। शरण धर्म काय है, यह बुद्ध के अशैक्ष धर्म हैं जो बोधिकारक हैं। कुछ का कथन है कि धर्म शरण-गमन [दुःख, समुदय, मार्ग] इन तीन सत्यों की शरण में जाना है; अथवा कुशल, अकुशल, अव्याकृत आदि धर्मों की शरण में जाना है; अथवा भिक्षु के नियमों की शरण में जाना है : "यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है।" इसलिये यह कहा जाता है कि यह सब धर्म संस्कृत हैं, सास्रव हैं, इसलिये यह शरण नहीं हैं केवल निरोध-सत्य, तृष्णा का अन्त, निर्वाण ही शरण है। कुछ का कहना है कि संघशरण-गमन चार वर्ण के प्रव्रजितों के संघ में शरण लेना है। इसलिए यह व्याख्यान है कि इस संघ के ईर्यापथ आदि सास्रव हैं। शरण वह शैक्ष और अशैक्ष धर्म हैं जो संघकारक है।

१. येषां प्राधान्येन स आत्मभावो बुद्ध इत्युच्यते (व्या० ३७७.२१) बुद्ध-प्रज्ञप्ति के आश्रय अन्य धर्म, अन्य गुण हैं किन्तु प्रधान रूप से नहीं (अप्राधान्येन)।

२. यह धर्मकाय है—१·४८, ६·२९७, सिद्धि ७६७ देखिये।

३. शुभ्रान् चाङ्: रूपादिकाय—७·३१ देखिये।

क्या सब बुद्धों की शरण में जाते हैं या एक बुद्ध की? कण्ठोक्ति के अभाव में लक्षणतः सब बुद्धों की शरण में जाते हैं क्योंकि सब बुद्ध एक ही लौकिक और लोकोत्तर मार्ग का अनुसरण करते हैं[४] (७.३४)।

[७८] (२) जो संघ की शरण में जाता है वह शैक्ष और अशैक्ष संघकारक धर्मों की शरण में जाता है अर्थात् उन धर्मों की शरण में जाता है जिनके लाभ से आठ आर्यपुद्गल संघ होते हैं (संघी भवन्ति, व्या० ३७७.३२); समग्र रूप होते हैं क्योंकि मार्ग के प्रति अभेद्य हैं (अभेद्यत्वात् व्या० ३७७.३२)।

सब संघों में या एक संघ में शरण-परिग्रह होता है? लक्षणतः सब में, क्योंकि आर्यों से अनुसृत मार्ग सदा अविलक्षण होता है।

निस्सन्देह बुद्ध ने दो बनियों से कहा था—"जो अनागत अध्व में संघ होगा उसकी शरण में भी जाओ[१]" किन्तु शास्ता संघरत्न के गुणों के उद्भावन के लिये जिसका वह बनिये प्रत्यक्ष करेंगे, इस प्रकार कहते हैं।[२]

(३) जो धर्म की शरण में जाता है वह निर्वाण अर्थात् प्रतिसंख्या निरोध (१.५,२. ५५ डी.) की शरण में जाता है, वह सर्व निर्वाण की शरण में जाता है क्योंकि निर्वाण का यह एक लक्षण है कि वह स्वसन्तान और परसन्तान के क्लेश और दुःखों को शान्त करता है

---

४. व्याख्या—लौकिकमार्गस्य पुण्यज्ञानसंभारलक्षणस्य लोकोत्तरस्य च क्षयज्ञानादि-लक्षणस्याविलक्षणत्वात् तुल्यत्वात् (व्या० ३७७.२९) विभाषा, ३४,११—यदि एक बुद्ध की शरण में जाते हैं तो शरण आंशिक होगा; यदि सब बुद्धों की शरण में जाते हैं तो यह क्यों कहते हैं कि "मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ" यह क्यों नहीं कहते कि सब बुद्धों की शरण में ?...बुद्ध की शरण में जाना उन सब बुद्धों की शरण में जाना है जिनकी संख्या गङ्गा जी की बालुका-कण की संख्या से अधिक है...। 'बुद्ध' शब्द में सब बुद्ध अन्तर्भूत हैं क्योंकि वह तुल्य लक्षण के हैं। क्या संघ की शरण में जाना बुद्ध के एक श्रावक या सब श्रावकों की शरण में जाना है?...

१. विभाषा, ३४,१२ इस सूत्र को उद्धृत करती है—तत्र भगवांस्त्रपुसभल्लिकौ वणिजावामन्त्रयते स्म। एते युवाम् बुद्धं शरणं गच्छतम्, धर्मं च। योऽसौ भविष्यत्यनागतेऽध्वनि संघोनाम तमपि शरणं गच्छतम् [संघभेद—वस्तु की भूमिका से उद्धृत इसका एक अंश जो तुर्किस्तान (मीरन) में मिला था जे. आर. ए. एस, १९१३, पृ० ८५० में प्रकाशित हुआ है]। महावग्ग १.४ से तुलना कीजिये; महावस्तु ३,३०४; ललित, पृ० ३८६, तुल्वा, ४.४५ की अनेक पाठभेद।

२. तत्प्रत्यक्षभाविनः संघरत्नस्योद्भावनार्थम् = यत् संघरत्नम् तयोस्त्रपुसभल्लिकयो धर्मचक्रप्रवर्तनानन्तरम् प्रत्यक्षीभविष्यति तस्य गुणतः प्रकाशनार्थम् (व्या० ३७८-६)।

(शान्त्येकलक्षणत्वात्, व्या० ३७८.६) धर्मे 'अवेत्यप्रसाद' के धर्म शब्द के अर्थ के लिये (६.७३ सी. देखिए)।

(४) विवाद; यदि बुद्ध अर्हत् के अशैक्ष धर्मों से भिन्न नहीं हैं तो दुष्ट चित्त से बुद्ध के रुधिर-उत्पाद करने से आनन्तर्य (४.९६) कैसे हो सकता है ? वैभाषिक(विभाषा ३४.९) उत्तर देते हैं—जब इन धर्मों के आश्रयभूत रूप स्कन्ध का कोई विपादन करता है (आश्रयविपादनात्, व्या० ३७८.१२) तो यह धर्म भी विपादित होते हैं।"

[७९] किन्तु शास्त्र (विभाषा, ३४.८) का यह वचन नहीं है कि अशैक्ष-धर्म ही बुद्ध है।[1] इसका कथन है कि बुद्धकारक धर्म बुद्ध है[2] अर्थात् वह लौकिक, लोकोत्तर धर्म, जो बुद्ध-प्रज्ञप्ति के हेतु हैं, बुद्ध हैं। इसलिए शास्त्र लौकिक पञ्चस्कन्ध लक्षण वाले आश्रय के बुद्धत्व का प्रतिषेध नहीं करता (बुद्धत्वाप्रतिषेध, व्या० ३७८.१८)। इसलिए बुद्ध के लोहितोत्पाद के आधार पर जो आक्षेप किया गया है, वह सारहीन है।

यदि अन्यथा होता, यदि अशैक्ष धर्म ही बुद्ध होते, यदि शैक्ष और अशैक्ष धर्म ही संघ (अर्थात् आर्य, शैक्ष और अर्हत्) होते तो लौकिकचित्रस्थ न बुद्ध होता और न संघ होता। और इसी प्रकार यह कहना होगा कि भिक्षु केवल शील, भिक्षु-संवर है, किन्तु वैभाषिक कहता है कि यदि आश्रय भी बुद्धिकारक धर्मों में संगृहीत हो तो शास्त्र क्यों कहता है कि "जो बुद्ध की शरण में जाता है, वह बुद्धकारक अशैक्ष धर्मों की शरण में जाता है ?"[3]

हम उत्तर देंगे कि यथा जो भिक्षु की पूजा करता है वह भिक्षुकारक शील की पूजा करता है।

एक-दूसरे के मत के अनुसार जो बुद्ध की शरण में जाता है, वह बुद्ध के १८ आवेणिक धर्मों की (७. २८) शरण में जाता है।

शरण-ग्रहण का क्या स्वभाव है ?
यह वाग्विज्ञप्ति है (४. ३ डी)।[4]
शरण का क्या अर्थ है ?

त्रिशरण इसलिये शरण कहलाते हैं, क्योंकि इनकी शरण में जाने से सर्व दुःख से सर्वथा मोक्ष होता है।

---

1. अशैक्षाधर्मा एव बुद्धः (व्या० ३७८·१५)।
2. बुद्धकारकाः (व्या० ३७८·१५)।
3. यो बुद्धं शरणं गच्छत्यशैक्षानसौ बुद्धकारकान् धर्मान् शरणं गच्छति (व्या० ३७८-३०)।
4. कई मत, विभाषा ३४, १०।

[८०] वास्तव में भगवत् कहते हैं[1] कि "भय से अर्दित पुद्गल बहुबार[2] पर्वत, वन, उपवन, चैत्य, वृक्ष[3] की शरण में जाते हैं। यह क्षेम[4] शरण, श्रेष्ठ शरण नहीं हैं; इनकी शरण लेने से सर्व दुःख से प्रमोचन नहीं होता। किन्तु जो बुद्ध धर्म और संघ की शरण में जाता है वह प्रज्ञा से चार आर्य सत्य, दुःख, दुःख समुदय, दुःख निःसरण, शान्त निर्वाण संवर्तनीय अष्टांगिक आर्य मार्ग — का दर्शन करता है। यह क्षेम शरण है, यह श्रेष्ठ शरण है। इनकी शरण में जाने से पुद्गल सर्व दुःख से वियुक्त होता है।"—(विभाषा ३४, पृ० १७७, कालम १; शारिपुत्राभिधर्म, ४३)। इसीलिये सब संवरों के समादान में त्रिशरण-समादान द्वारभूत हैं। अन्य संवरों में अब्रह्मचर्य-विरति होती है; उपासक-संवर में केवल काम-मिथ्याचार (४. ७४) विरति होती है। क्यों?

मिथ्याचाराविगर्ह्यत्वात् सौकर्याद् अक्रियाप्तितः।
यथाभ्युपगमं लाभः संवरस्य न संततेः ॥३३॥[5]

३३ ए. बी. काममिथ्याचार, क्योंकि यह अति सावद्य है, क्योंकि इससे प्रतिविरत होना सुगम है, क्योंकि आर्यों ने अकरण का लाभ किया है।

१. काममिथ्याचार लोक में अतिनिन्द्य है क्योंकि यह परस्त्री का दूषण है, क्योंकि यह आपायिक है (आपायिकत्वात्, व्या० ३७६.८)।

२. गृहपतियों के लिये इससे प्रतिविरत होना सुगम है; अब्रह्मचर्य से प्रतिविरत होना उनके लिये दुष्कर है। गृहपति संसार का परित्याग नहीं करते क्योंकि वह दुष्करकर्म नहीं कर सकते (दुःकर)। (दिव्य, ३०३)

[८१] ३. काममिथ्याचार के लिये आर्य अकरण-संवर से समन्वागत होते हैं। अर्थात् उन्होंने अक्रिया-नियम का लाभ किया है; वास्तव में अनागत भव में वह शिक्षापद का व्यतिक्रम नहीं कर सकेंगे। अब्रह्मचर्य के लिये ऐसा नहीं है, इसलिये उपासक-संवर में केवल काममिथ्याचार-विरति होती है। यह वास्तव में अयुक्त है कि अपरभव में आर्य उपासक-संवर का व्यतिक्रम करें। ऐसा हो सकता था, यदि इसमें अब्रह्मचर्य विरति होती

---

१. धम्मपद १८८-१९२; उदान वर्ग, २७.२८-३० दिव्यावदान, पृ० १६४; विभाषा, ३४, ८।

२. बहुं वे सरणं यन्ति..., दिव्य—बहवः शरणं यान्ति, परमार्थ इसका अनुवाद करते हैं। तिब्बती उदानवर्ग में phalchar है।

३. चैत्यवृक्ष = चैत्यकल्पित वृक्ष।

४. खेम, दिव्यः श्रेष्ठ; उदानवर्ग और चीनी भाषान्तर—"प्रधान"

५. = [मिथ्याचारोऽतिसावद्यसुखाकरणलाभतः।]

'अकरण-संवर' से 'अक्रिया-नियम' समझना चाहिये [अर्थात् अक्रियायां एकान्तता, किसी कर्म की ऐकान्तिक अक्रिया]।[1]

जो उपासक-संवर का परिग्रह कर विवाह करता है, क्या उसने अपनी परिणीता-स्त्री के प्रति भी संवर का प्रतिलाभ किया था ?

वैभाषिक कहता है, हाँ, क्योंकि विपक्ष में इस पुद्गल का संवर प्रादेशिक होगा (४·३६ ए-बी)। किन्तु तब यह पुद्गल संवर का व्यतिक्रम करता है जब वह अपना विवाह करता है।

३३. सी-डी—जैसे उन्होंने संवर का समादान किया है, वैसे उन्होंने उसका लाभ किया है। उन्होंने सन्तान के प्रति समादान नहीं किया है।[2]

[८२] जैसे उन्होंने संवर का समादान किया है वैसे उन्होंने उसका लाभ किया है। "मैं काममिथ्याचार से विरत होता हूँ" अर्थात् "मैं सर्व अगम्याचार से प्रतिविरत होता हूँ" यह कह कर उन्होंने समादान किया है। "अमुक सन्तान[1] के साथ मैं अब्रह्मचर्य का आचार न करूँगा" यह कहकर उन्होंने समादान नहीं लिया है। इसलिये काममिथ्याचार से न कि अब्रह्मचर्य से, प्रतिविरत हो वह अपना विवाह कर संवर का व्यतिक्रम नहीं करते।

---

[1] भाष्य—अक्रियानियमोऽप्यकरणसंवरः—व्याख्या (३७६·६)। अक्रियायां अकरणे नियम एकान्तता अक्रियानियमः। सोऽकरणसंवरः अकरण लक्षणः संवरः। न समादानिकः संवर इत्यर्थः। स च सौत्रान्तिक नयेनावस्था विशेष एव। वैभाषिकनयेन तु शीलांगम विज्ञप्तिरिति।

ऊपर पृ० १७ की टिप्पणी में पालि के हवाले देखिये, सेतुघातविरति = समुच्छेदविरति, सम्पत्तविरति, समादान-विरतिः, पृ० ४८। समादानशील और धर्मताप्रातिलम्भिकशील का विशेष। अभिधम्म का अभिधर्म से कई जगह साम्य है किन्तु पूर्ण साम्य नहीं है।

वैभायिक के अनुसार आर्य का संवर अनास्रव-संवर (४·१७ सी) है जो केवल अकरण नहीं है किन्तु रूपविशेष, अविज्ञप्ति, सेतु (पृ० १ देखिये) है। सौत्रान्तिक अविज्ञप्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आर्यसन्तान कतिपय कर्म के करने के अभव्य हो गया है (पृ० ८४, टिप्पणी २ देखिये) क्योंकि इन कर्मों के बीज अपगत हो चुके हैं। अकरण संवर, अकोप्य अविज्ञप्ति, जिसका वैभाषिक उल्लेख करते हैं, द्रव्यसत् नहीं है, पर 'अक्रियायामेकान्तता' है। यह अकरण विशेष है जो आश्रयपरावृत्ति से होता है।

[2] [संवरो यथोपगतो लभ्यते न तु तानतः]

[1] अत्र सन्ताने (व्या० ३७६-२०) शुआन-चाङ्: उन्होंने सब सन्तानों के बारे में यह नहीं कहा है कि "मैं अब्रह्मचर्य से प्रतिविरत होता हूँ"।

परमार्थ—"उन्होंने इस सन्तान के बारे में (अस्मात् सन्तानात्) नहीं कहा है कि मैं विरत होता हूँ...।"

वाग् सावद्यों में मृषावाद का त्याग उपासक की शिक्षा का अङ्ग क्यों है जब कि अन्य वाग्सावद्य छोड़ दिये गये हैं ? इसके भी वही कारण हैं क्योंकि लोक में मृषावाद अतिनिन्द्य है, क्योंकि गृहपति सुगमता के साथ इससे प्रतिविरत होते हैं, क्योंकि आर्य मिथ्याभाषण नहीं कर सकते। एक चतुर्थ कारण भी है—

मृषावादप्रसंगाच्च सर्वशिक्षाऽभ्यतिक्रमे।
प्रतिक्षेपणसावद्याद् माद्याद् एवाऽन्यगुप्तये ॥३४॥

३४ ए. बी. क्योंकि सर्वशिक्षा का अतिक्रमण करने पर मृषावाद का प्रसङ्ग होगा।[२]

[यदि मृषावाद का प्रतिषेध न होता], तो जब किसी शिक्षापद का वह अतिक्रमण करता और उससे पूछा जाता तो वह मिथ्या कहता कि "मैंने ऐसा नहीं किया है"। इसलिये उपासक को यह विचार कर कि "जैसे मैंने अतिक्रमण किया वैसे मैं पाप को आविष्कृत करूँगा" मृषावाद से विरत होना चाहिये।

[८३] उपासक—संवर में प्रतिक्षेपणसावद्य[१]-विरतियाँ क्यों नहीं संगृहीत हैं ? प्रश्न अयुक्त है :—

३४ सी. डी. मद्य जो प्रतिक्षेपणसावद्य है उससे विरति।[२]

उपासक केवल इस प्रतिक्षेपणसावद्य से क्यों प्रतिविरत हो और अन्य से न हो ?

३४ डी. जिसमें अन्य शिक्षापदों की रक्षा हो।[३]

जो मद्यपान करता है वह अन्य शिक्षापदों की रक्षा नहीं करेगा।

---

२. [सर्वशिक्षा अतिक्रान्तो मृषावादी प्रसज्यते = सर्वशिक्षातिक्रमणे मृषावाद-प्रसंगतः]।

शुआन्-चाङ् का अनुवाद "मृषावाद का प्रतिषेध न होने से वह सर्व शिक्षापदों का अतिक्रमण करेगा। यदि मृषावाद का प्रतिषेध न होता तो जब वह शिक्षा का अतिक्रमण करता और उससे प्रश्न होता तो वह कहता कि "मैंने ऐसा नहीं किया है" और इस कारण शिक्षा के कई अतिक्रमण होते। इस इच्छा से भी कि शिक्षापदों की रक्षा हो, भगवत् सब संवरों में मृषावादविरति को स्थान देते हैं और पूछते हैं कि "क्या किया जाय जिससे उपासक शिक्षा का अतिक्रमण होने पर स्वयं उसकी देशना करे और नये व्यतिक्रम को रोके ?"

मृषावाद पर राहुल सूत्र से तुलना कीजिये, मज्झिम, १·४१५; भाब्रालेख; विज्ञानकाय, २३·६,६ बी।

१. प्रतिक्षेपणसावद्य, प्रतिषेधं, प्रज्ञप्ति, प्रकृति सावद्य के विपक्ष में। उसका पाप जो प्रतिषिद्धकर्म करता है, क्योंकि वह भगवत्-शासन का अनादर करता है ४.१२२ सी।

२. प्रतिक्षेपणसावद्य [आत्मद्यात्]

१०. अभिधार्मिकों का मत है कि मद्य प्रकृतिसावद्य नहीं है। जिस पुद्गल का चित्त क्लिष्ट होता है वही प्रकृतिसावद्य का आचरण करता है; किन्तु ऐसा होता है कि औषध के रूप में कोई अमदनीय मात्रा में मद्यपान करता है। यदि यह जानकर पिया जाय कि यह मात्रा मदनीय है तो चित्त क्लिष्ट होता है। यदि यह जानकर कोई मद्य पीता है कि इस मात्रा में यह अमदनीय है तो चित्त क्लिष्ट नहीं होता—अमदनीयमात्रं विदित्वा, (व्या० ३७९-२४)।

विनयधरों का यह मत नहीं है, उनके अनुसार मद्य प्रकृतिसावद्य है।

(१) "व्याधि की चिकित्सा कैसे होनी चाहिये" उपालि के इस प्रश्न के उत्तर में भगवत् ने कहा—"हे उपालि ! प्रकृतिसावद्य को छोड़कर[३]"। और दूसरी ओर भगवत् ने ग्लान शाक्यों को मद्यपान की अनुज्ञा न दी।

[८४] "जो मुझको अपना शास्ता मानते हैं उनको कुशाग्रमात्र भी मद्य न पीना चाहिये"[१] क्योंकि भगवत् ने व्याधि की अवस्था में केवल प्रकृतिसावद्य का प्रतिषेध किया है (उपालिसूत्र) और मद्यपान की आज्ञा नहीं दी है। इससे स्पष्ट है कि मद्य प्रकृति-सावद्य है।

(२) जन्मान्तर में भी आर्य मद्यपान नहीं करते जैसे वह प्राणिवध आदि प्रकृतिसावद्य कर्म का आचरण नहीं करते।[२]

---

३. कथं भदन्त, चिकित्स्यः। प्रकृतिसावद्यं उपाले स्थापयित्वा। 'जलोगि' पर कान्सिल बुद्धीक, म्यूसिओं १९०५, पृ० २९०; लेवी, जेएएस, १९१२,२ पृ० ५०८।

१. जापानी सम्पादक के अनुसार मध्यमागम, ३८,९—व्याख्या में सूत्र उद्धृत है: मां शास्तारमुद्दिश्यद्भिः कुशाग्रेणापि मद्यं न पातव्यम् (व्या-३७९-३०)। दिव्य,१९१ में है मां भो भिक्षवः शास्तारम् उद्दिश्यद्भिर्मद्यम् अपेयं अदेयं अन्ततः कुशाग्रेणापि। स्पेयर इस पाठ को इस प्रकार शोधते हैं—उद्दिश्य [भव] द्भिर्।

ह्यूबर, सोर्सेज आव् दिव्य बी ई एफ ई ओ, १९०६,३१ इस शोध का समर्थन करते हैं और ७९ वे प्रायश्चित्तिक से दिव्य का सम्बन्ध दिखाते हैं।

भगवत् ने केवल मदनीय मात्रा में मद्य का प्रतिषेध नहीं किया है। जो ग्लान उपासक कुत्ते का माँस खाना स्वीकार करता है, किन्तु मद्य पीना स्वीकार नहीं करता और जो 'गृह्यसूत्र' उद्धृत करता है उसके लिये सूत्रालङ्कार ह्यूबर, ४३४ देखिये। शावने, सैंक सांत कांत ३,१४।

चार उपक्किलेसः सुरामेरयपान, मैथुन, जातरूप, मिच्छाजीव (अङ्गुत्तर, २.५३ अत्थसालिनी, ३८०)।

२. ऊपर पृ० ८१ देखिये। यदि कोई उनके मुँह में सुरामिश्रित दुग्ध डालता है तो दुग्ध मुंह में जाता है, सुरा नहीं। सुमङ्गलविलासिनी, पृ० ३०५।

नन्दिकासूत्रादि[३] में आगम मद्य को कायदुश्चरितो[४] में गिनाता है।

(३) आभिधार्मिक उत्तर देते हैं :—

(१) साधारणत: व्याधि की अवस्था में प्रतिक्षेपणसावद्य की अनुज्ञा है जैसा कि उपालि के प्रश्न के विसर्जन से सिद्ध होता है। सदा मद्य का अपवाद है। यद्यपि यह केवल प्रतिक्षेपण सावद्य है तथापि ग्लानावस्था में भी यह प्रतिषिद्ध है और यह इसलिये है जिसमें मद्यपान से जो बुरे परिणाम होते हैं उनके प्रसङ्ग का परिहार हो—(प्रसङ्गपरिहारार्थम्, व्या ३८०.६)।[५]

[८५] क्योंकि मदनीयमात्रा नियत नहीं है।[१]

२. यदि आर्य मद्य से एकान्तः प्रतिविरत (अनध्याचरण) होते हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि यह प्रकृतिसावद्य है किन्तु इसलिये कि वह ह्री-बल से[२] समन्वागत होते हैं; [यदि वह अज्ञात में नहीं पीते][३] तो इसका कारण यह है कि मद्य से स्मृति का नाश होता है; यदि वह स्वल्प भी नहीं पीते तो इसका कारण यह है कि मदनीय मात्रा विषवत् नियत नहीं है।

३. आगम के विचार में मद्य दुश्चरित है, क्योंकि मद्य प्रमाद-स्थान है। वास्तव में मद्य सम्बन्धी शिक्षापद में ही 'प्रमादस्थान' का ग्रहण है; "सुराभेरेय मद्यप्रमादस्थान का प्रहाण कर मैं प्रमादस्थान से प्रतिविरत होता हूँ"। अन्य सावद्यों में 'प्रमादस्थान' का ग्रहण नहीं है। ऐसा पाठ नहीं है कि "मैं प्राणातिपात प्रमादस्थान से प्रतिविरत होता हूँ"; और यह इसलिये है क्योंकि अन्य सावद्य प्रकृति-सावद्य हैं। सूत्र वचन है कि

---

३. ए म डी ओ (सोमा) २६,४२५।

४. चार कायदुश्चरित—प्राणातिपात, अदत्तादान, मिथ्याकामाचार सुरामैरेय प्रमादस्थान। कायदुश्चरितों की प्रसिद्ध सूची में सुरामैरेय नहीं है, महाव्युत्पत्ति, ६१ आदि।

५. शुआन्-चाङ् का अनुवाद : "क्योंकि इस शिक्षापद के अतिक्रमण के कारण प्रकृतिसावद्य का आचरण होगा।" व्याख्या कहती है—एक बार पीने से भी मद्य का व्यसन हो जाता है (व्यसनीभवेत्) क्योंकि भगवत् ने कहा है—त्रीणि स्थानानि प्रतिषेवमाणस्य नास्ति तृप्तिर्वा अलंता वा पर्याप्तिर्वा। मद्यमब्रह्मचर्यं स्त्यानमिद्धंचेति(व्या० ३८०,१०)।

अङ्गुत्तर, १.२६ में यही शिक्षा है। सोप्पस्स भिक्खवे परिसेवनाय नत्थितित्ति, सुरामेरयपानस्स..., मेथुनधम्मसमापत्तिया...।

१. मद्य की वही मात्रा अवस्थानुसार मदनीय या अमदनीय होती है।

२. शैक्षों के पाँच बल—श्रद्धा, वीर्य, ह्री, अपत्राप्य, प्रज्ञा। अङ्गुत्तर, ३.१ का क्रम भिन्न है।

३. (व्याख्या ३८०'१६); यदि ह्री मत्वात् तदनध्याचरणम् अज्ञातमुदकादिवत् कस्मान्न पिबन्ति।

मद्य के अयासेवन से पुद्गल नरक में उपपन्न होता है।[४] मद्यत्पान-प्रसङ्ग से (प्रसङ्गेन) अकुशल चित्तों की सन्तति अजस्र प्रवृत्त होती है (अभीक्ष्णमकुशलसन्तति प्रवृत्तेन); जिससे या तो एक अपूर्व आपांगिक कर्म का आक्षेप (अवेध) होता है या एक पूर्वोपचित कर्म का मरणावस्था में वृत्तिलाभ होता है।

सुरामैरेय मद्यप्रमादस्थान का क्या अर्थ है ?[५]

[८६] सुरा अन्नासव है; मैरेय द्रव्यासव (द्रव्यः इक्षुरसादि) है। कदाचित् सुरामैरेय मद्यभाव को प्राप्त नहीं होते; कदाचित् उनका मद्यभाव प्रच्युत हो जाता है; इसीलिये 'मद्य' शब्द का ग्रहण है। पूगफल को द्रव आदि भी जब मदनीय होते हैं सुरा और मैरेय की संज्ञा प्राप्त करते हैं।[१]

---

४. नन्दिक सूत्र का वचन है—सुरामैरेयमद्यप्रमादस्थानेनासेवितेन भावितेन बहुलीकृतेन कायस्य भेदान्तरकेषूपपद्यते। दीघ, ३.१८२ से तुलना कीजिये: सुरामैरेयप्रमाद-ट्ठानामुयोगो अपायनिको। इसी प्रकार 'जूनप्पपादट्ठान'।

५. दीघ, ३.१९५, २३५; अङ्गुत्तर, ३.२१२; संयुक्त २.१६७।

१. पालिमर कार्डिएर की टिप्पणियाँ।

ए. सुरा=अन्नासव। व्याख्या, ३८१.०८, अन्नासव इति तण्डुलकृतः। तण्डुल का आसव। इसे हेमाद्रि, अष्टाङ्ग हृदय, १,५,६७ में 'शालिविष्टकृतं मद्यम्' बताते हैं। इसका समर्थन वाग्भट के वैडूर्यकभाष्य से भी होता है, जहां 'सुरा' अन्न का आसव, गोधूम का आसव, धान्यों का आसव है। यह महाव्युत्पत्ति, २३०,३६ के अनुसार है (अमर कोश, २,१०,३९)।

सुरा=Arrack है (शालि के सार का उदक, यह फ़ारसी शब्द है। इसका संस्कृत रूप अर्क है। यह शब्द इस अर्थ में आयुर्वेद के कोश को छोड़कर अन्य कोशों में नहीं मिलता)।

बी. मैरेय=द्रव्यासव, व्याख्या, ३८१-८; द्रव्यासवं इतीक्षुरसादिकृतः।

अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार अरुणदत्त, १,७,४० से अनुसार मैरेय=खजूरासव। वैडूर्यक भाष्य के अनुसार यह 'rum' या tafia है। चन्द्रनन्दन (पदार्थचन्द्रिका) और हेमाद्रि का कहना है कि यह 'धान्यासव' है। महाव्युत्पत्ति, २३०,३८; अमरकोश, २,१०,४२ 'मैरेय' को 'आसव' का पर्याय बताता है। आसव पुष्प और सीधु की शराब है;

सी. पूगफल को द्रवादयोऽपि...व्याख्या ३८१.११,१२ आदिशब्देन निष्पावादयोऽपिगृह्यन्ते (पाठभेद-नैष्पाव)।

पूगफल सुपारी है। संस्कृत के समानार्थक शब्द पूगीफल=क्रमुक पोहल=गुवाक। महाव्युत्पत्ति, २३१.३४ पूगफल=क्रमुक, अष्टाङ्गहृदय ४,१२,२५ और अष्टाङ्ग निघण्टु १२१—अमरकोश, ३,४,३।

मद्य केवल प्रतिक्षेपण-सावद्य है। इसीलिये वाक्य में 'प्रमाद-स्थान' शब्द इस बात के बताने के लिये रहता है कि मद्य से प्रतिविरत होना चाहिये, क्योंकि यह सर्व स्मृति प्रमोष का हेतु है। (सर्वप्रमादानामास्पदत्वात्, व्या० ३८१-१४)। तीनों संवरों का क्या एक ही विषय है ?

सर्वोभयेभ्यः कामाप्तो वर्तमानेभ्य आप्यते।
मौलेभ्यः सर्वकालेभ्यो ध्यानानास्रवसंवरौ ॥३५॥

[८७] ३५ ए. बी. कामधातु का संवर सब कर्मों के सम्बन्ध में, दो प्रकार के वस्तु और दो प्रकार के कर्मों के सम्बन्ध में, वर्तमान धर्मों के सम्बन्ध में, प्रतिलब्ध होता है।[1]

कामधातु का संवर प्रातिमोक्ष-संवर है।

यह संवर प्रयोग कर्म, मौलकर्म, पृष्ठकर्म (४·६८) सब कर्मों से सम्बन्धित है।[2]

यह संवर सत् और असत् दोनों से सम्बन्ध रखता है, यथा पुद्गल और वृक्ष।

यह संवर प्रकृति-सावद्य और प्रतिक्षेपण-सावद्य से सम्बन्ध रखता है; दोनों का अधिष्ठान सत्व (प्राणातिपात; भिक्षुका स्त्री हस्त-ग्रहण) और असत्व (वृक्ष पत्र का छेद; भिक्षुका जातरूप प्रतिग्रह) हो सकते हैं।

वर्तमान धर्म—स्कन्ध, आयतन, और धातु ही संवर के अधिष्ठान होते हैं क्योंकि अतीत और अनागत धर्म न सत्वसंख्यात हैं, न असत्वसंख्यात[3]।

३५ सी. डी. ध्यान-संवर और अनास्रव-संवर का लाभ मौल-कर्म और त्रैकालिक धर्मों के सम्बन्ध में होता है।[4]

इन दो संवरों का लाभ मौलकर्म, न कि प्रयोग और पृष्ठकर्म, के सम्बन्ध में और न प्रतिक्षेपण-सावद्य के सम्बन्ध में होता है; इनका लाभ अतीत, वर्तमान और अनागत के स्कन्ध, आयतन और धातु के सम्बन्ध में होता है।

कोद्रव, अष्टाङ्गनिघण्टु, १९८; महाव्युत्पत्ति, २२.८१४।
निस्पाव, सामान्य 'lablab' अर्थात एक प्रकार 'की फली' यह महाव्युत्पत्ति में नहीं है और अमरकोश में कम-से-कम वनस्पति के अर्थ में नहीं है।

१. =[कामाप्तः] सर्वोभयेभ्यो [वर्तमानेभ्य आप्यते]।

२. वैभाषिक के अनुसार प्रातिमोक्ष-संवर-समादान (४.६९ सी-डी) के प्रयोग, मौल कर्म और पृष्ठ का यथाक्रम उद्देश्य प्राणातिपातादिक प्रयोग, मौलकर्म और पृष्ठ का 'संवरण' (बाँधना) करना है। प्रातिमोक्ष का प्रयोग प्राणातिपात के प्रयोग का जिसका यह प्रतिपक्ष है, विचार करता है और मानों उससे कहता है कि "मैं तुम्हें बांधता हूं (संवृणोमि) तुम उत्पन्न न हो।"

३. अतीत और अनागत के अस्तित्व के बाद का आवश्यक वस्तु, ५.२५ (१.३४ डी, अनुवाद, पृ० ६२ भी देखिये)।

४. मौलेभ्यः सर्वकालेभ्यो ध्यानानास्रव संवरौ।

[८८] इसलिये ऐसे स्कन्ध, आयतन, और धातु हैं जिनसे प्रातिमोक्ष संवर का लाभ होता है, अन्य दो संवरों का नहीं—चार कोटि है।

१. वर्तमान प्रयोग और पृष्ठकर्म तथा वर्तमान प्रतिक्षेपण-सावद्य से जो संवर होता है वह प्रातिमोक्ष-संवर है। २. अतीत और अनागत मौलकर्म पथ से दो अन्तिम संवर होते हैं। ३. प्रत्युत्पन्न मौलकर्म-पथ से तीन संवर होते हैं। ४. अतीत और अनागत प्रयोग और पृष्ठकर्म—इनके सम्बन्ध में तीन संवरों में से किसी भी संवर का समादान नहीं हो सकता।

आक्षेप—यह कहना यथार्थ नहीं है कि वर्तमान कर्मपथ के सम्बन्ध में संवर का समादान होता है। क्योंकि संवर लाभ के समय कोई अकुशल कर्म-पथ वर्तमान नहीं होता जिसके सम्बन्ध में संवर-लाभ किया जा सके। यह कहना चाहिये कि "उस कर्मपथ के सम्बन्ध में संवर का समादान होता है जिसका अधिष्ठान वर्तमान है।" मैं अनागत कर्म का संवरण कर सकता हूँ यदि उसका अधिष्ठान एक वर्तमान आश्रय या वस्तु है, मैं अतीत या वर्तमान कर्म का संवरण नहीं कर सकता। क्या संवर और असंवर का लाभ सब सत्वों के सम्बन्ध में, सब अङ्गों के सम्बन्ध में, सब कारणों से होता है ?

संवरः सर्वसत्त्वेभ्यो विभाषात्वंगकारणैः।
असंवरस्तु सर्वेभ्यः सर्वाङ्गेभ्यो न कारणैः ॥३६॥

३६ ए. बी. सब सत्वों के सम्बन्ध में संवर का लाभ होता है, अङ्ग और कारण के विषय में भेद है।[1]

१. सब सत्वों के सम्बन्ध में संवर का लाभ होता है, कुछ के सम्बन्ध में नहीं होता। भिक्षु-संवर का लाभ सब अङ्गों के सम्बन्ध में होता है—१० कर्मपथों से विरति। अन्य संवरों का लाभ चार अङ्गों के सम्बन्ध में होता है—

प्राणातिपात, अदत्तादान, काममिथ्याचार, मृषावाद का वर्जन, क्योंकि संवर के अङ्गों से अभिप्राय कर्मपथ के वर्जन से है। यदि संवर लाभ के कारण से अभिप्रेत तीन कुशल-मूल हैं (अलोभ, अद्वेष, अमोह)। तो सब कारणों से संवर का लाभ होता है।

[८९] यदि कारण से समुत्थापक हेतु (४.९ बी) इष्ट है अर्थात् वह चित्त जिससे संवर का लाभ होता है तो यह कारण त्रिविध माना जाता है—अधिमात्रचित्त, मध्यचित्त, मृदुचित्त। इन तीन चित्रों में से एक के कारण संवर का लाभ होता है।

इस अन्तिम पर्याय में चार पक्ष हो सकते हैं (विभाषा, ११७,४)।

---

१. =[संवरः सर्वसत्वेभ्यो भेदस्त्वस्त्यंगकारणे।]

१. एक पुद्गल-संवर स्थायी होता है, यह सव सत्वों में संवृत है किन्तु न सब अङ्गों से, न सव कारणों से, संवृत है। यह वह है जिसने अधिमात्र, मध्य या मृदु चित्त से उपासक, उपवासस्थ या श्रामणेर संवर का लाभ किया है। २. एक पुद्गल-संवर स्थायी होता है। यह सव सत्वों में और सब अंगों में संवृत है किन्तु सब कारणों से संवृत नहीं है। यह वह है जिसने अधिमात्र, मध्य या मृदु चित्त से भिक्षु-संवर का समादान किया है। ३. एक पुद्गल-संवर स्थायी होता है। यह सव सत्वों में, सब अङ्गों से और सव कारणों से संवृत हैं। यह वह है जिसने उपासक, श्रामणेर और भिक्षु-संवर का समादान यथाक्रमं मृदु, मध्य, अधिमात्र चित्त से किया है। ४. एक पुद्गल-संवर स्थायी होता है। यह सव सत्वों में, सब कारणों से संवृत है किन्तु सव अङ्गों से संवृत नहीं है। यह वह है जिसने उपासक, उपवासस्थ और श्रामणेर-संवर में से एक का समादान यथाक्रम मृदु, मध्य, अधिमात्र चित्त से किया है।

जो सब सत्वों में संवृत नहीं है वह संवर स्थायी नहीं होता। सर्वसत्वानुगत कुशल-चित्त होने से संवर का लाभ होता है। जो पुद्गल परिच्छेद करता है वह पाप के अध्याशय से सर्वथा विमुक्त नहीं है।

प्रातिमोक्ष-संवर का ग्रहण इन पाँच नियमों के साथ नहीं होता। १. सत्वों के सम्बन्ध में—"मैं कतिपय सत्वों के प्रति सावद्य से प्रतिविरत होता हूँ"—२. संवर के अङ्ग के सम्बन्ध में—"मैं कतिपय कर्म से प्रतिविरत होता हूँ"—३. देश के सम्बन्ध में—"मैं देशविशेष में सावद्य कर्म करने से प्रतिविरत होता हूँ"—४. काल के सम्बन्ध में—"मैं एक मास के लिये पाप से विरत होता हूँ"—५. समय के सम्बन्ध में—"मैं कलह-विग्रह को छोड़कर सावद्य से प्रतिविरत होता हूँ।" जो इस प्रकार संवर का ग्रहण करता है वह संवर का लाभ नहीं करता; वह संवर लाभ के सदृश सुचरित करता है।[1]

२. सब सत्वों के सम्बन्ध में सत्वों मा लाभ कैसे हो सकता है; जो सत्व अशक्य हैं, जिन सत्वों का घात शक्य नहीं है, उनके सम्बन्ध में संवर-लाभ कैसे हो सकता है? क्योंकि हमारा मत है कि संवर-लाभ सब सत्वों के जीवित के अनुपघात के अध्याशय से होता है (सर्वसत्वजीवितानुपघाताध्याशयेनाभ्युपगमात्, का ३६३-२८)। वैभाषिक (विभाषा, १२०, द्वितीय आचार्य) इस प्रश्न का एक दूसरा परिहार बताते हैं। यदि शक्य सत्वों के सम्बन्ध में ही संवर का लाभ होता तो संवर का चय: अपचय (वृद्धि, ह्रास) सम्भव होता क्योंकि जो सत्व शक्य हैं वह देवलोक में उपपन्न होते हैं और देव अशक्य हैं; और इसका विपर्यय। इसलिये संवर के लाभ या परिहाणि का कोई हेतु न होते हुए भी

---

[1] योग सूत्र, २·३१ से तुलना कीजिये। दिव्यावदान, पृ० १० में हम देखते हैं भेड़ों का बधिक एक रात्रि के लिये शीलसमादान का परिग्रह कर बहुलाभ का प्रतिलाभी होता है—दिन में नरक का आवास, रात्रि में स्वर्ग।

मनुष्यत्व प्राप्त देवों के सम्बन्ध में संवर का लाभ होगा और देवत्व को प्राप्त मनुष्यों के सम्बन्ध में संवर की हानि होगी। ऐसा नहीं होगा, शक्य और अशक्य सत्वों के संचार से संवर चय-अपचय से युक्त नहीं होगा। क्योंकि तृणादि के सम्बन्ध में जो संवर लिया जाता है उसकी वृद्धि अपूर्व तृणादि की उत्पत्ति से नहीं होती, पूर्वतृणादि के शोषण से उसका ह्रास नहीं होता। वैभाषिक इस दृष्टान्त की युक्तता का प्रतिषेध करते हैं। अस्तित्व के पूर्व और पश्चात् तृणादि का अभाव होता है। इसके विपरीत सत्वों का संचार के पूर्व और पश्चात् भाव होता है; वह कभी मनुष्य होते हैं और कभी देव। मनुष्य देव होकर अशक्य हो जाते हैं; तृणादि विनष्ट हो जाते हैं। किन्तु सत्व जब परिनिर्वृत्त हो जाते हैं तब उनका अस्तित्व नहीं होता। (यदा परिनिर्वृतान् सन्त्येव, व्या—३८४·१३), जैसे तृणादि।

[६१] इसलिये सत्वों के सम्बन्ध में प्रतिलब्ध-संवर का ह्रास हो सकता है और इसलिये वैभाषिकों का विवेचन असाधु है।

यदि यह आक्षेप है कि "यदि सब सत्वों के सम्बन्ध में प्रातिमोक्ष-संवर का लाभ होता है तो पूर्व बुद्धों के संवर और शील की अपेक्षा पश्चात् बुद्धों का संवर, उनका शील, न्यून होगा, क्योंकि यह परिनिर्वृत, पूर्वबुद्ध और उनके श्रावक के सम्बन्ध में नहीं है।"[1] तो हमारा उत्तर है कि सब सत्वों के सम्बन्ध में सब बुद्धों को संवर-लाभ होता है। यदि पूर्वबुद्ध अपरिनिर्वृत होते तो पश्चात् बुद्ध सम्प्रति उनके सम्बन्ध में भी संवर का लाभ करते होते।

३६ सी-डी. असंवर सबके सम्बन्ध में, सब अङ्गों से, सब कारणों से नहीं।[2] सब सत्वों के सम्बन्ध में और सब कर्म-पथों के सम्बन्ध में असंवर का लाभ होता है। विकल असंवर से पुद्गल असंवृत नहीं होता। सब कारणों से पुद्गल असंवृत नहीं होता; असंवर का लाभ मृदु, मध्य या अधिमात्र चित्त से होता है। मान लीजिये कि एक असंवृत ने मृदुचित्त से असंवर का लाभ किया है और वह अधिमात्र चित्त से प्राणातिपात करता है। उसका असंवर मृदु रहता है किन्तु वह अधिमात्र प्राणातिपात विज्ञप्ति से समन्वागत होता है। आसंवरिक शब्द का निर्वचन इस प्रकार है—"जो असंवर में स्थायी है, जो असंवर से समन्वागत है।"

और भ्रिक, व्याध, शूकरघातक, मत्स्यघातक, आखेटक, लुण्ठक, चाण्डाल, काराध्यक्ष, हस्तिदक, कौक्कुटिक और वागुरिक आसंवरिक हैं। राजा, अधिकरणस्थ, दण्डनेतृक आदि भी अर्थतः आसंवरिक हैं।

---

१. तिब्बती भाषान्तर में इस प्रकार है—"पूर्व सत्वों के सम्बन्ध में जो बुद्ध होकर परिनिर्वृत हो गये हैं।" मूल पाठ—पूर्वबुद्धपरिनिर्वृतेभ्यः।

२. =[असंवरस्तु सर्वेभ्यः सर्वाङ्गैश्च न कारणैः]

[९२] औरभ्रिक वह पुद्गल है जिसका व्यवसाय भेड़ों का वध करना है। अन्य व्यवसाय के लोगों के लिये भी इसी प्रकार निर्वचन की योजना करनी चाहिये।[1]

२. हम जानते हैं कि सर्वमैत्री के अध्याशय से संवर-समादान होता है वह सत्वों के सम्बन्ध में प्रतिलब्ध होता है, किन्तु औरभ्रिक का आशय अपने माता-पिता, अपनी सन्तान, अपने दास-भृत्य के उपघात करने का नहीं होता; वह अपने जीवन के लिए भी उनका वध नहीं करना चाहेंगे। [सौत्रान्तिक पूछता है] कि हम कैसे कह सकते हैं कि वह सब सत्वों के सम्बन्ध में आसंवरिक है ? (विभाषा, ११७,५)।

वैभाषिक—क्योंकि उनके जो माता-पिता जन्मप्रबन्धवश भेड़ हो गये हैं उनके सम्बन्ध में उनका प्राणातिपात का अध्याशय होता है।[2] किन्तु वह यह जानते हुए कि यह उनके माता-पिता हैं उन माता-पिता का घात नहीं करते जो इस जन्म में भेड़ हो गये हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनके माता-पिता आर्यत्व का लाभ करते हैं तो उनके उरभ्र या अन्य पशु होने का अवकाश नहीं होता। इसलिये उनके सम्बन्ध में वधिक आसंवरिक नहीं है। अन्ततः तर्क आपके विरुद्ध हैं। यदि वधिक अपने माता-पिता के वर्तमान आश्रय के सम्बन्ध में आसंवरिक है क्योंकि वह अपने उन माता-पिता का घात करेगा जो इस जन्म में उरभ्र हैं, तो हम यह भी कह सकते हैं कि वह उरभ्र के सम्बन्ध में आसंवरिक नहीं है, क्योंकि वह उन उरभ्रों का घात नहीं करना चाहता जो अनागत जन्म में मनुष्य-गति में उत्पन्न होंगें, उसके ही पुत्र होंगें।

वैभाषिक—जो अपने माता-पिता के, जो उरभ्र हो गये हैं, घात का आशय रखता है वह अवश्य ही उनके सम्बन्ध में आसंवरिक है।

[९३] किन्तु हम कहेगें कि जो पुत्रीभूत उरभ्रों के घात का आशय नहीं रखता वह अवश्य ही उनके सम्बन्ध में आसंवरिक नहीं हैं।

---

१. नागबन्धका हस्तिपकाः (व्या० ३८४-३१) "जो हाथी का शिकार करते हैं, जो हाथी का आघात करते हैं" (चुल्ल,१·३२ के 'गद्ध्रबाधिन्' से तुलना कीजिये)। कुक्कुटान् घ्नन्ति कौक्कुटिकाः (व्या० ३८५.२); महाव्युत्पत्ति, १८६,९३ से तुलना कीजिये—"जो कुत्तों का आखेट करते हैं; उनको पीड़ा पहुँचाते हैं।" कुक्कुर और कुक्कुट में गड़बड़ी है ? वागुरिक, महाव्युत्पत्ति, १८६,९२ के अनुसार वह है जो जाल से शिकार करता है, अमरकोश २, १०, २७ के अनुसार (वागुरा = मृगबन्धिनी; वागुरिक = जालिक) यह जाल में शिकार फँसाने वाला, शिकार चुराने वाला है। किन्तु व्याख्या के अनुसार 'वागुरा' एक प्राणिविशेष है; पम्पा (?) नाम प्राणिजातिर्वागुराख्या तां घ्नन्तीति वागुरिकाः (व्या० ३८४-३१)।

अङ्गुत्तर, १.२५१, २.२०७, ३.३०३, ३८३ की सूचियों से तुलना कीजिये।

२. शावाने, सैंक सांत कान्त एता पोलोग, ३, पृ० ११७, संख्या ४१५ (नैनजिओ, १३२९)।

एक दूसरा हेतु—जो बधिक चोरी नहीं करता, जो काम मिथ्याचार नहीं करता, जो मूक है, वह कैसे सावद्यों के सम्बन्ध में आसंवरिक हो सकता है ?

वैभाषिक—क्योंकि उसका अध्याशय विपन्न है। मूक शरीर-चेष्टा से अपने भावों को व्यक्त कर सकता है।

किन्तु उस पुद्गल के बारे में क्या कहना चाहिये जिसने शील के दो या तीन अङ्गों का समादान किया है ?

वैभाषिकों के अनुसार असंवर कभी विकल नहीं होता अर्थात् केवल कुछ ही अङ्गों के सम्बन्ध में नहीं होता और न प्रादेशिक होता है अर्थात् सावद्य-विशेष के आचार में (काल-देशादि) नियम नहीं होते।

सौत्रान्तिकों के अनुसार प्रातिमोक्ष-संवर को छोड़कर संवर और असंवर दोनों विकल और प्रादेशिक हो सकते हैं। यह उस प्रकार पर आश्रित है जिस प्रकार से संवर या असंवर का ग्रहण होता है। तन्मात्र दौःशील्य को, तन्मात्र शील को वह प्रतिबद्ध करता है।

असंवर का कैसे लाभ होता है ? उन अविज्ञप्तियों का कैसे लाभ होता है जो न संवर है, न असंवर ?

असंवरस्य क्रियया लाभोऽभ्युपगमेन वा।
शेषाविज्ञप्तिलाभस्तु क्षेत्रादानादरेहणात् ॥३७॥

३७ ए. बी. असंवर का लाभ क्रिया अथवा प्रतिग्रह से होता है।[1] आसंवरिकों के कुल में उत्पन्न पुद्गल (तत्कुलीन, व्या० ३८५-१९) असंवर का लाभ तब करते हैं जब वह प्राणातिपात के प्रयोग कर्म (४·६८ सी.) सम्पादित करते हैं। अन्य कुलों में उत्पन्न पुद्गल असंवर का लाभ तब करते हैं जब वह उस आजीविका का ग्रहण करते हैं—"हम भी इस व्यवसाय को करेंगे"।

३७ सी. डी. क्षेत्र, समादान और आदरपूर्वक क्रियारम्भ के कारण शेष अविज्ञप्तियों का लाभ होता है।[2]

[९४] १. आश्रय-विशेष इस स्वभाव के क्षेत्र होते हैं कि आराम आदि का उन्हें दान देने से अविज्ञप्ति का उत्पाद होता है। नीचे (४-११२) औपधिकपुण्यक्रियावस्तु का सिद्धान्त देखिए।

२. प्रतिज्ञा का समादान कर अविज्ञप्ति का उत्पाद होता है यथा "मैं जब तक बुद्ध

---

१. परमार्थ "दो से असंवर का लाभ होता है—स्वकीय क्रिया, प्रतिग्रह"।

२. [शेषाविज्ञप्तिलाभस्तु] क्षेत्रादानादरेहनात् ॥ ४·४१ सी. डी. देखिये।

की बन्दना नहीं करूँगा तब तक भोजन ग्रहण नहीं करूँगा"—"मैं उपवास के दिन एक पक्ष तक, एक मास तक, एक वर्ष तक पिण्डपात की भिक्षा दूँगा" इत्यादि।[१]

३. तीव्रप्रसाद के साथ, तीव्र क्लेश के साथ (४.२२ डी.) आदरपूर्वक क्रियारम्भ अविज्ञप्ति का उत्पाद करता है।

संवर का त्याग कैसे होता है?

प्रातिमोक्षदमत्यागः शिक्षानिक्षेपणाच्च्युतेः।
उभयव्यञ्जनोपत्तेर्मूलच्छेदात् निशात्ययात् ॥३८॥

३८. प्रातिमोक्षसंवर का त्याग शिक्षा-निक्षेपण से, च्युति से, उभय-व्यञ्जनोत्पत्ति से, कुशलमूल-समुच्छेद से, और निशा के अत्यय से होता है।[२]

कारिका में प्रातिमोक्ष-संवर को 'दम' कहा है क्योंकि यह षडिन्द्रियों का दमन करता है।

उपवासस्थ संवर को वर्जित कर अन्य प्रातिमोक्ष-संवर का त्याग, १. शिक्षानिक्षेपण से, समझदार पुद्गल के सन्मुख शिक्षा के प्रत्याख्यान से[३]; २. च्युति से या निकायसभाग (२.४१) के परित्याग से; ३. अवस्था के अनुसार, पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय की उत्पत्ति से; ४. कुशलमूल (४.७९) के समुच्छेद से, होता है। उपावासस्थ संवर का त्याग पूर्वोक्त चार कारणों से तथा निशात्यय से होता है। शिक्षानिक्षेपण समादान के विरुद्ध विज्ञप्ति का उत्पाद है।

[९५] च्युति और उभयव्यञ्जनोत्पत्ति में उस आश्रय का त्याग, और उस आश्रय का विकोपन होता है जिस आश्रय से संवर गृहीत हुआ है (देखिये ४.२७ ए)। मूलच्छेद संवर के निदान का समुच्छेद है। अन्त में, उपवासस्थ-संवर का उत्पाद, आक्षेप एक अहोरात्र के लिये हुआ है; जब निशा का अन्त होता है तब इसका अन्त होता है।

पतनीयेन चेत्येके सद्धर्मान्तर्धितोऽपरे।
धनार्णवेत्तु काश्मीरैरापन्नस्येष्यते द्वयम् ॥३९॥

३९. ए. कुछ का कहना है कि पतनीय से।[१]

---

१. चीनी भाषान्तरों के अनुसार मालूम होता है कि मूल में इस प्रकार है—"मैं तिथिभक्त, मासभक्त, अर्धमास-भक्त दूँगा" व्याख्या (३८५-२३) आदिशब्देन मण्डलकरणादि गृह्यते। नीचे पृ० १०२, टि० २, देखिये।

२. प्रातिमोक्ष दमत्यागः शिक्षानिक्षेपणाच्च्युतेः।
उभयव्यञ्जनोत्पत्तेर्मूलच्छेदात् निशात्ययात् ॥

३. महावग्ग २.३६,१ इत्यादि से तुलना कीजिये; पाराजिक, १.८,२।

१. पतनीयेन चेत्य [एके] (व्या. ३८५·३४)।

एक दूसरे निकाय के अनुसार अर्थात् सौत्रान्तिकों के अनुसार भिक्षु और श्रमण के संवर का त्याग इनके अतिरिक्त चार पतनीयों में से किसी से होता है। पतनीय वह पाप कर्म हैं जिनसे पतन होता है।[२]

३९ बी. अन्य आचार्यों का कहना है कि सद्धर्म की हानि से।[३] धर्मगुप्तों के अनुसार प्रातिमोक्ष-संवर का त्याग तब होता है जब सद्धर्म का लोप होता है; जब न शिक्षा है, न सीमाबन्ध, न कर्मान्त।

३९ सी. डी. काश्मीरक को इष्ट है कि आपन्नशील और दौःशील्य दोनों से समन्वागत होता है यथा एक पुद्गल के धन और ऋण दोनों ही हो सकते हैं।[४]

१. कश्मीर वैभाषिक कहते हैं कि "मौली आपत्ति अर्थात् पतनीय का आपन्नभिक्षु, भिक्षु-संवर का त्याग नहीं करता। यह युक्त नहीं है कि संवर के एक देश के क्षोभ से सकल संवर का त्याग हो।"[५]

[९६] जो पतनीय के अन्यत्र दूसरी आपत्ति करता है वह दुःशील नहीं है। जो पतनीय कर्म करता है वह शीलवान् और दुःशील दोनों है, जिस प्रकार वह पुद्गल जिसके धन और ऋण दोनों हैं किन्तु जब यह पाप कर्म करनेवाला अपने पाप को आविष्कृत

---

२. महाव्युत्पत्ति, २६६,१६—पतन्त्यनेनेति पतनीयम्। यह चार पाराजिक हैं—अब्रह्मचर्य, यथोक्त प्रमाण का अदत्तादान, मनुष्यवध, उत्तरिमनुष्यधर्ममृषावाद, (फ़िनो, जे. ए. एस. १९१३,२·४७६।

बगिर, चाइनीज बुद्धिज्म, १ पृ० २१५ (१९१०) में उपयोगी विवृतियाँ देखिये। पाराजिक शब्द पर सिलवां लेवी, जे. ए. एस. १९१२, २.५०५ वोगिहारा, बोधिसत्व भूमि, पृ०३६ देखिये।

३. =[सद्धर्महानितोऽपरे।]

४. धनार्णवत्तु काश्मीरैरापन्नस्येष्यते [द्वयम्]॥ (व्या० ३८६-४)

५. व्याख्या (३८६-५) आगम से उद्धृत एक युक्ति का उल्लेख करती है। विनय में कहा है—"जो दुःशील भिक्षु-भिक्षुणी का अनुशासन करता है (अनुशास्ति) वह सङ्घावशेष आपत्ति करता है (आपद्यते)"। किन्तु 'दुःशील' से 'आपन्न पाराजिक भिक्षु' अभिप्रेत है क्योंकि दुःशील भिक्षु के विपक्ष में विनय 'प्रकृतिस्थः शीलवान्' भिक्षु का उल्लेख करता है। इसलिये आपन्न पाराजिक भिक्षु का भिक्षु-भाव रहता है क्योंकि वह सङ्घावशेष का आपन्न हो सकता है। विनय उक्तम्—दुःशीलश्चेद् भिक्षुर्भिक्षुणीमनुशास्ति सङ्घावशेषमापद्यत इति। आपन्नपाराजिको हि भिक्षुर्दुःशीलोऽभिप्रेतो नानापन्नपाराजिकः प्रकृतिस्थः शीलवान्-इति विपर्ययेण वचनात्, अतोऽवगम्यते। अस्त्यस्य दुःशीलस्यापि सतो भिक्षुभावो यस्मात् संघावशेषमापद्यत इति उक्तमिति।

करता है तब वह और दुःशील नहीं रहता, जैसे वह पुद्गल जिसने अपना ऋण चुका दिया है।

२. किन्तु भगवत् ने कहा है कि "वह भिक्षु नहीं है, वह श्रमण नहीं है।"

वह शाक्यपुत्रीय नहीं है, वह भिक्षुभाव से ध्वस्त होता है, उसका श्रामण्यहत, ध्वस्त, मथित, पतित, पराजित होता है।[1]

वैभाषिक—इस सूत्र में भिक्षु से 'परमार्थ भिक्षु' समझना चाहिये। आपन्न सत्य-दर्शन के अभव्य हैं, वह परमार्थ भिक्षु नहीं है। यह अयुक्त है—आप भगवत् के 'नीतार्थ' वचन का आश्रय लेते हैं। पुनः आप दौःशील्य के आचार के लिये क्लिष्ट पुद्गलों को प्रोत्साहित करते हैं।

वैभाषिक—आप यह कैसे व्यवस्थित करते हैं कि यह वचन नीतार्थ है और इसका अक्षरार्थ लेना चाहिये।

भगवत् अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हैं—"चार भिक्षु हैं, संज्ञा—भिक्षु, जिसकी संज्ञा भिक्षु की है, जिस अनुपसम्पन्न को भिक्षु पुकारते हैं; प्रतिज्ञा-भिक्षु तथाकथित भिक्षु, दुःशील, अब्रह्मचारी आदि; जो भिक्षु इसीलिये कहलाता है क्योंकि वह भिक्षा माँगता है (भिक्षत इति भिक्षु)।[2]

[९७] याचनक मात्र; जो भिक्षु इसलिये कहलाता है क्योंकि उसने क्लेशों का भेद किया है (भिन्नक्लेशत्वात्) अर्थात् अर्हत्।"[1]

प्रस्तुत अर्थ में[2] ("यह अभिक्षु है, यह अश्रमण है...") अन्य एक पाँचवाँ भिक्षु इष्ट है अर्थात् वह भिक्षु जो ज्ञप्ति-चतुर्थ से उप-सम्पन्न हो चुका है और जो पतनीय कर्म कर अपने भाव और संवर का त्याग करता है। यहाँ किसी परमार्थ-भिक्षु या अर्हत् का अवश्य ही प्रश्न नहीं है क्योंकि सावद्य से पूर्व आपन्न पतनीय परमार्थ भिक्षु, अर्हत् नहीं था कि वह पश्चात् अभिक्षु हो।

---

१. यह वचन (दशसङ्गीति विनय, नैनजिओ, १११५, फ़ँस्किक्युलस २१, २३) महाव्युत्पत्ति, २७८ में आ गया है। अभिक्षुः, अश्रमणः, अशाक्यपुत्रीयः, ध्वस्यते भिक्षुभावात्, हतमस्य श्रामण्यं ध्वस्तं मथितं पतितं पराजितम्, अप्रत्युद्धार्यम् अस्य भवति श्रामण्यम्, तद्यथा तालोमस्तकच्छिन्नोऽभव्योहरितत्वाय। दुःशीलः पापधर्मोऽन्तः पूतिरवस्तुतः कशम्बकजातः। शिक्षा समुच्चय, पृ० ६७ में क्षितिगर्भसूत्र से तुलना कीजिये। 'कशम्बक' पर नीचे पृ० ९८ देखिये।

२. महाव्युत्पत्ति के सब संस्करणों में 'भिक्षुत इति भिक्षुः' है।

१. वही विनय, फ़ँस्किक्युलस, १,५ महाव्युत्पत्ति, २७०, ३७-४०—ज्ञप्तिचतुर्थोपसम्पन्न भिक्षु, २७०, ४१ = सङ्घभद्र (२३, ४, ८५ बी) कहते हैं कि सङ्घ पाँच हैं—१. ह्रीविहीन सङ्घ, २. मूक उरभ्रों का सङ्घ, ३. वादियों का सङ्घ, ४. लोकसंवृति सङ्घ (=संमुति सङ्घ), ५. परमार्थ सङ्घ (दक्खिणेय्य सङ्घ)।

३. एक प्रदेश के त्याग से सकल संवर का त्याग नहीं होता, इस प्रश्न का शास्ता ने स्वयं परिहार किया है। शास्ता आपन्न भिक्षु कि उपमा वास्तव में मस्तकच्छिन्न तालवृक्ष से देते हैं जो अब विरूढ़ि, वृद्धि, उपचय, विस्तार के अभव्य हो गया है।[३] अर्थात् जब संवर का वह प्रदेश जो मूलप्रदेश है, समुच्छिन्न हो जाता है तब अवशिष्ट संवर वृद्धि के अभव्य हो जाता है। पतनीय या मौली आपत्ति भिक्षुभावोचित नहीं है। इसमें अत्यन्त अनयत्राप्य (२-३२ ए-बी) है; यह संवर-मूल का भेद करता है अर्थात् सर्वसंवर की हानि होती है।

शास्ता ने आपन्नपतनीय को भिक्षुओं के साथ सब प्रकार का सम्भोग[४] करने से बहिष्कृत किया है। आहार के एक ग्रास का परिभोग भी उसके लिए मना है विहार के एक पार्ष्णिप्रदेश का परिभोग भी उसके लिये वर्जित है।[५]

[९८] शास्ता कहते हैं कि "जो भिक्षु नहीं है और जिसकी आकृत्ति भिक्षु की है, इस कारण्डवक (यव की आकृति का तृण-विशेष जो यवद्रवी कहलाता है) को विनष्ट करो, इस काशम्वक (पूतिकाष्ठ) को अपकृष्ट करो, इस तण्डुलहीन व्रीहि (उत्प्लावी) को निष्क्रान्त करो।"[१] इस आपन्न का भिक्षुत्व क्या हो सकता है?

४. काश्मीरक उत्तर देता है—जिस किसी में उसका भिक्षुत्व हो वह भिक्षु-भाव से समन्वागत है। क्योंकि भगवत् वचन है—"हे चुन्द! चार श्रमण हैं, पाँचवाँ नहीं है—मार्गजिन, जो आर्यमार्ग द्वारा विजय-लाभ करता है; मार्गदैशिक, जो आर्यमार्ग की शिक्षा देता है; मार्ग-जीविन्, जो आर्यमार्ग के निमित्त जीता है; मार्गदूषिन्, जो आर्य-मार्ग को दूषित करता है, दुःशील भिक्षु।"[२]

हमारा मत है कि भगवत् दुःशील भिक्षु को श्रमण का नाम इसलिये देते हैं, क्योंकि उसमें श्रमण की वाह्य आकृति मात्र का अवशेष है। क्या लोक में दग्ध काष्ठ, शुष्कह्रद, शुकनासा (गृहादि का रूपकारकृत प्रसाधन), पूति बीज, अलात-चक्र, मृतसत्व, इन पदों का व्यवहार नहीं होता?

---

२. पाराजिक, १,८,१ से तुलना कीजिये...अयं (ञत्ति-चतुत्थेन उपसंपन्नो) इमस्मिं अत्थे अधि-प्पेतो भिक्खूति। वसुबन्धु—अस्मिंस्त्वर्थे...(व्या० ३८६·२०)।

३. पृ० ९६ टि० १ देखिये; विभाषा, ६९,४ मज्झिम, १·२५०,३३१, ४६४; २,२५६ में यह उपमा क्लेशों को अभिसन्धान कर दी गयी है।

४. चुल्लवग्ग, १.२५.१, विनय टेक्स्ट्स ३, पृ० १२० से तुलना कीजिये।

५. एकग्रासपरिभोग आहारस्य एकपार्ष्णिपरिभोगोविहारस्य—(व्या० ३८६·२६)।

१. [अभिक्षुं भिक्ष्वाकृतिम्] नाशयतकारण्डवकम्, काशम्बकं अपकर्षत, अथोत्प्लाविनम् (?) वाहयत।

५. काश्मीरक उत्तर देता है—पतनीय से कोई भिक्षुत्व का त्याग नहीं करता क्योंकि भगवत् अब्रह्मचर्य के आपन्न भिक्षु को शिक्षादत्तक[3] होने की अनुमति देते हैं।

[९९] हम यह नहीं कहते कि सब भिक्षु अब्रह्मचर्य से ही पाराजिक होते हैं, ध्वस्त, हतभिक्षु होते हैं किन्तु जो कोई पाराजिक होना है, वह भिक्षु नहीं रहता। प्रतिच्छादन-चित्र यहाँ गरिष्ट है। यदि प्रकृतिशीलविशेषवश, सन्तानविशेषवश, आपन्न एक क्षण के लिये भी अपने पाप को प्रतिच्छादित करने का चित्र नहीं रखता तो धर्मराज उसको शिक्षादत्तक के रूप में ग्रहण करते हैं।

काश्मीरक—यदि पाराजिक भिक्षु नहीं रहता तो उसकी पुनः प्रव्रज्या क्यों नहीं होती ?[1]

कारण्डव, महाव्युत्पत्ति, २२८,२३, यव की आकृति का तृण-विशेष, काशम्बक, महाव्युत्पत्ति, २७८,१६, कशम्बकजातभी (शिक्षासमुच्चय, पृ० ६७ अष्ट साहस्रिका, पृ०१८१) कशम्बूक, कशम्बुक (वोगिहारा) = पूतिकाष्टम् (व्या० ३८६-३१) उत्प्लावं (?) नाम व्रीहिमध्येऽभ्यन्तरतण्डुलविहीनः (व्या० ३८७·१)। मूल में 'अयोपलाविनम्' था जैसा पालि से विदित होता है। अङ्गुत्तर, ४.१६९ और सुत्तनिपात, २८१, मिलिन्द में उद्धृत, ४१४, कारण्डवं निद्धमथकसम्बुं अपकस्सथ ततोपलाये वाहेथ अस्समणे समणमानिते।

२. उरगवग्ग का चुन्द सुत्त; महाव्युत्पत्ति, २२३,५५-५८ मार्गजिन (संयुत्त, १·१८७) व्या० (३८७-३) के अनुसार अशैक्ष और शैक्ष; जापानी सम्पादक के अनुसार बुद्ध और प्रत्येक मार्गदेशिक, बुद्ध पाशारिपुत्र आदि; मार्गजीविन्, नन्दादि, जापानी सम्पादक के अनुसार (मार्गंजीवति शीलवान् भिक्षुर्मार्गनिमित्तं जीवनात्, व्या० ३७७-४)—विभाषा, ६६६—अङ्गुत्तर, ४·१६९, समणइसी समणपलायो समणकारण्डव।

३. महाव्युत्पत्ति, २७०,१०, सूत्रालङ्कार, ११·४—व्या० (३८७-१२) एक भिक्षु अधिमात्र राग के कारण किसी स्त्री के साथ अब्रह्मचर्यः करता है (स्त्रिया अब्रह्मचर्यंकृत्वा); तदनन्तर उसको संवेग उत्पन्न होता है (जातसंवेगः) कि "मैंने कष्ट कर्म किया है", एक भी प्रतिच्छादन चित न उत्पन्न कर वह सङ्घ के समीप जाता है (उपगम्य) और आविष्कृत करता है कि "मैंने यह पाप-कर्म किया है"। आर्य सङ्घ के उपदेश से वह दण्ड कर्म करता है (दण्ड-कर्म कुर्वाणः) जिसमें उसे सब भिक्षुओं से अलग रहना पड़ता है। (सर्वभिक्ष्वनक्रान्तिकस्व) इत्यादि। उसे शिक्षादत्तक कहते हैं, यदि दौःशील्य से भिक्षुत्व का नाश होता है तो यह पुद्गल और भिक्षु न होता, वह शिक्षादत्तक न होता। यह द्रष्टव्य है कि इसका पुनः उपसम्पादन नहीं करते। शुआन्-हिआन् रवीगर द्वारा उल्लिखित विवृति के अनुसार शिक्षादत्तक का स्थान भिक्षु के पश्चात् और श्रामणेर के पूर्व है। वह कर्मान्तों में भाग नहीं लेता। वह अर्हत् होने पर अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करेगा।

१. न पुनः प्रव्राज्यते।

क्योंकि वह संवर के अभव्य है—उसकी सन्तति तीव्र अनपत्राप्य (२.३२ ए-बी) के कारण विनष्ट और विपादित हो गई है। यद्यपि उसने [अपने पापकर्म के पश्चात्] शिक्षा का निक्षेप (निक्षिप्तशिक्ष ४.३८) भी किया है तथापि उसकी फिर प्रव्रज्या नहीं हो सकती। इस विवाद को बढ़ाने से क्या लाभ है? यदि ऐसे भिक्षु का भिक्षुभाव है तो हम उसके भिक्षुत्व की वन्दना करते हैं।[२]

६. जब सद्धर्म का लोप होता है तब सब प्रकार का सङ्घकर्मान्त असम्भव हो जाता है और इसलिए संवर का लाभ भी असम्भव हो जाता है। किन्तु जो संवर से समन्वागत होता है वह उसका त्याग नहीं करता (विभाषा, ११७,६)।

ध्यान-संवर (४,१७ बी) और अनास्रव-संवर का त्याग कैसे होता है?

भूमिसञ्चारहानिभ्याम् ध्यानाप्तं त्यज्यते शुभम्।
तथारूप्याप्तमार्यं तु फलाप्त्युत्पत्तिहानिभिः ॥४०॥

४० ए बी. ध्यानभूमिक शुभ का त्याग भूमि-संचार और परिहाणि से होता।[३]

[१००] सर्वध्यानाप्तशुभ अर्थात् रूपस्वभाव और अरूपस्वभाव शुभ का त्याग दो कारणों से होता है—१. ऊर्ध्व या अधरभूमि की उपपत्ति से—यहाँ रूपधातु के लोकों में उपपन्न आश्रयों का 'शुभ' इष्ट है; २. परिहाणि से—जब योगी की परिहाणिसमापत्ति होती है।

६·२१ के अनुसार एक तीसरा कारण भी बताना चाहिये, पृथग्जन मृत्यु (निकाय सभागत्याग) से कतिपय कुशलधर्मों का त्याग करता है, उस समय भी जब कि वह पुनः उसी देवलोक में उपपन्न होता है जहाँ उसकी मृत्यु होती है।

४० सी. तथैव आरूप्य धातु में संगृहीत शुभ।[१]

इसका त्याग भूमि-संचार और परिहाणि से होती है। यह द्रष्टव्य है कि इस धातु में संवर का अस्तित्व नहीं है।

४० सी-डी. अनास्रव शुभ फल की प्राप्ति से, इन्द्रियों के संचार से, हानि से।[२]

१. फल की प्राप्ति से, आर्यप्रतिपन्नक मार्ग (जो त्रिविध है—प्रयोग, आनन्तर्य, विमुक्ति, ६·६५ बी) के कुशल धर्मों का त्याग करता है।

---

२. मिलिन्द, पृ० २५७ में दुःशील भिक्षु के अधिकारों के सम्बन्ध में विचित्रवाद हैं।

३. भूमिसंचारहानिभ्यां ध्यानाप्तं त्यज्यते शुभम्।

ध्यानभूमिक शुभऊर्ध्वभूमियों के देव और उन योगियों को सामान्य है जो दृष्टधर्म में ध्यानों का अभ्यास करते हैं।

१. तथारूप्याप्तम्।

२. आर्यं तु फलाप्त्युत्तसिहानिभिः ॥

२. जब उसकी इन्द्रियों का सञ्चार होता है, (६·२९) वह मृदु इन्द्रियों के मार्ग का त्याग करता है।

३. जब उसकी परिहाणि होती है तब वह फल का या फलविशिष्ट मार्ग (६·३२) का त्याग करता है।

असंवरः संवराप्तिमृत्युद्विव्यञ्जनोदयैः ।
वेगदानक्रियार्थाऽऽयुर्मूलच्छेदैस्तु मध्यमा ॥४१॥

४१ ए-बी. संवर के लाभ से, च्युति से, उभयव्यञ्जनोत्पत्ति से, असंवर का त्याग होता है।[३]

१. संवर का लाभ—प्रातिमोक्षसंवर का समादान विधिपूर्वक होता है अथवा हेतुबल से (हेतु=सभाग हेतु, २·५२) या प्रत्यय-बल से (प्रत्यय=पराये की शिक्षा, परतोघोष) ध्यान संवर युक्त समापत्ति का लाभ होता है।[४]

[१०१] ध्यान संवर, असंवर के प्रतिपक्षभूत बलों से समन्वित होने के कारण, असंवर का भेद करता है।

च्युति और उभयव्यञ्जनोत्पत्ति यथाक्रम उस आश्रय का त्याग और उस आश्रय (आत्मभाव) का विकोपन है जिससे असंवर का ग्रहण हुआ है।

२. जो आसंवरिक इस आशय से कि मैं फिर प्राणातिपात नहीं करूंगा अपने व्यवसाय के उपकरणों का, शास्त्र और जाल का, त्याग करता है उसके असंवर का छेद बिना संवर-ग्रहण के नहीं होता। यथा रोग-निदान के परिहार से भी औषध के बिना प्रवृद्ध रोग की विनिवृत्ति नहीं होती।

३. जो आसंवरिक उपवासस्थ-संवर का प्रतिग्रह करता है क्या जब वह उपवास से व्युत्थित होता है तो आसंवरिक ही रहता है अथवा वह मध्य में नैवसंवर नासंवर की अवस्था में होता है, विभिन्न मत हैं। कुछ के अनुसार[१] वह पुनः असंवरस्थ हो जाता है क्योंकि जो पुद्‌गल उपवास-परिग्रह करता है, उसका आशय सावद्य से अत्यन्त प्रतिविरत होने का नहीं है, लाल तपे हुए लोहे का सङ्घात अपनी पूर्व अवस्था को पुनः प्राप्त होता है। दूसरों के मत में[२] आसंवरिक एक बार उपवास से व्युत्थित हो और आसंवरिक नहीं होता क्योंकि असंवर-लाभ कायिक या वाचिक विज्ञप्तिपूर्वक होता है।

---

३. =[असंवरः संवराप्तिच्युतिद्विव्यञ्जनोदयात् ।]

४. असंवर-त्याग का कारण अनास्रव-संवर के लाभ को नहीं बताते, क्योंकि ध्यान-संवर सदा अनास्रव-संवर के पूर्व होता है।

१. गान्धार के आचार्य; सङ्घभद्र इस मत का समर्थन करते हैं।

२. काश्मीरक—विभाषा, ११७,५।

जो विज्ञप्ति है न संवर, न असंवर (४·१३ ए-बी) उसका त्याग कैसे होता है ?

४१ सी-डी. मध्यम अविज्ञप्ति का त्याग वेग, समादान, क्रिया, अर्थ, आयुमूल, इनके समुच्छेद से होता है।[३]

हम देख चुके हैं (४·३७ सी-डी) कि उस अविज्ञप्ति का लाभ कैसे होता है जो संवर और असंवर से भिन्न है।

[१०२] इस अविज्ञप्ति का त्याग ६ कारणों से होता है—(१) जब प्रसाद या क्लेश के वेग का छेद होता है जिसने अविज्ञप्ति आक्षिप्त किया है, यथा कुम्भकार के चक्र और इषु की गति; (२) जब वह समादान से प्रतिविरत होता है—"इस क्षण से मैं उस कर्म को नहीं करूँगा जिसके अकरण का मैंने समादान किया था;"[१] (३) जब क्रिया का छेद होता है अर्थात् वह समस्त कर्म को नहीं करता [उदाहरण के लिये भोजन के पूर्व बुद्ध की वन्दना करना, मण्डलक बनाना (पृ० ६४, टिप्पणी १ देखिये)];[२] (४) जब अर्थ का छेद होता है; चैत्य, आराम, विहार, शयन, आसन, जिनकी वन्दना करने या जिनको दान में देने का समादान किया था, यन्त्र, जालादि;[३] (५) जब आयु का छेद होता है; (६) जब कुशलमूल के समुच्छेद का प्रारम्भ होता है (समुच्छेदप्रारम्भावस्थायाम्, व्या० ३८९·१)।[४]

---

३. वेगादानक्रियार्थायुर्मूलच्छेदैस्तु मध्यमा ॥

१. जब कोई कहता है, 'अलं समादानेन'; दूसरे शब्दों में प्रत्याख्यानवचनेन (व्या०-३८८·२८)।

२. अपने समादान के अनुसार आचरण न करने से अविज्ञप्ति का त्याग होता है, यथासमात्तमकुर्वतः (व्या० ३८८·२८)। व्याख्या (३८८·२९); तद्यथा बुद्धमवन्दित्वा मण्डलकमकृत्वा न भोक्ष्य इति तदकृत्वा भुञ्जानस्य...भिक्षुणी कर्मवाचना (स्कूल ऑव ओरियण्टल स्टडीज़, बुलेटिन, १९२०, पृ० १२८) में त्रिशरण-परिग्रह के पूर्व त्रिमण्डल की रचना का उल्लेख है। मैं समझता हूँ कि यह त्रिमण्डल त्रिरत्न मण्डल है जिसका वर्णन बोधिसत्वों की विधि (आदि कर्मप्रदीप, बुद्धिज्म, स्टडीज़, ऐण्ड मैटीरियल्स् १८९८, पृ०२०६) में किया गया है।

३. परमार्थ यन्त्र देते हैं – 'आदि' शब्द से शस्त्र, विष आदि का ग्रहण होता है।

४. यह कहना होगा कि जिस विज्ञप्ति ने इस अविज्ञप्ति का उत्पाद किया है, उसका परित्याग इसी के साथ होता है क्योंकि उसकी प्राप्ति का इन छः कारणों से समुच्छेद हुआ है। किन्तु जैसा (४.६७) से सिद्ध होता है, विज्ञप्ति के बिना भी अविज्ञप्ति हो सकती है, और [इसके अतिरिक्त] अविज्ञप्ति-वचन से विज्ञप्ति-वचन सिद्ध होता है। दूसरों के अनुसार, नैवसंवरनासंवर में संगृहीत विज्ञप्ति की प्राप्ति अनुबन्धिनी नहीं होती, इसलिये आचार्य यहाँ विज्ञप्ति का त्याग-कारण नहीं कहते (व्या० ३८८·२३)।

कामाप्तं कुशलारूपं मूलच्छेदोर्ध्वजन्मतः ।
प्रतिपक्षोदयात् क्लिष्टमरूपं तु विहीयते ॥४२॥

४२ ए-बी. कामधातु में संगृहीत अरूप कुशल कर्म का त्याग मूल-समुच्छेद और ऊर्ध्वधातु की उत्पत्ति से होता है।[५] हमने इसका विवेचन किया है, किस प्रकार रूपकर्म अर्थात् कायिक-वाचिक विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति का छेद, त्याग होता है।

[१०३] कामाप्त अरूप कुशल कर्म का त्याग कुशलमूल के समुच्छेद से और रूप तथा आरूप्य धातुओं में जन्म होने से होता है।[१]

४२ सी-डी. क्लिष्ट अरूप का त्याग प्रतिपक्ष के उत्पाद से होता है।[२] सर्व क्लिष्ट का त्याग, चाहे वह जिस धातु का हो, इस क्लिष्ट के प्रतिपक्ष-भूत मार्ग की उत्पत्ति से होता है। यह प्रहाण-मार्ग (विमुक्ति-मार्ग, ६. ६५ बी. से भिन्न प्रहाण-मार्ग) है जो दर्शन-मार्ग, भावना-मार्ग हो सकता है, जो लौकिक, लोकोत्तर हो सकता है, यह मार्ग उपक्लेश-प्रकार[३] का, और तत्सहभूत प्राप्ति आदि सकल अनुचर का प्रहाण करता है।

कौन सत्व संवर और असंवर के भव्य है ?

नृणामसंवरो हित्वा षण्ढपण्ड द्विधाकृतीन् ।
कुरूंश्च संवरोऽप्येवं देवानां च नृणां त्रयः ॥४३॥

४३ ए-डी. षण्ढपण्ड, द्विधाकृति और कुरुओं को छोड़कर मनुष्यों का असंवर होता है। यही कथा संवर की है; संवर देवों में भी होता है।[४]

असंवर केवल मनुष्यों में होता है। पण्ढ, पण्डक, द्विधाकृति[५] और उत्तर कुरुओं को वर्जित करना चाहिये।

पूर्वोक्त अपवादों के साथ मनुष्यों में संवर होता है और देवताओं में भी होता है।[६] इसलिये यह दो गतियों में होता है।

---

५. [कामाप्तम्] कुशलारूपं मूलच्छेदोर्ध्वजन्मतः – (व्या० ३८३-३)।

१. इसके अतिरिक्त कुछ अवस्थाओं में कामवैराग्य से, यथा कुशलदौर्मनस्येन्द्रिय (२.१, अनुवाद, पृ० १०६, टि० ४)।

२. =[क्लिष्टमरूपं तु प्रतिपक्षोत्पादाद् विहीयते ॥] ?)

३. क्लेश, उपक्लेश हैं; सब उपक्लेश क्लेश नहीं हैं। देखिये, ५.४६।

४. नृणामसंवरो हित्वा षण्ढपण्डद्विधाकृतीन् । [कुरूञ्च] संवरोऽप्येवम् [देवानाम् च]।

५. महाव्युत्पत्ति, २७१, १३-२०।

६. थेर वादिन (कथावत्थ ३, १०) का मत है कि देवों में संवर नहीं होता क्योंकि उनमें असंवर नहीं है। नीचे ४.४४ ए-बी देखिये।

[१०४] षण्ढ और पण्डक संवर के अयोग्य हैं। यह इस सूत्र से सिद्ध होता है—हे महानामन्, अवदातवसन, गृही, जो पुरुष है, पुरुषेन्द्रिय से समन्वागत है...(४. ३० ए-बी.) और विनय से समन्वागत है; "ऐसे पुद्गल को बहिष्कृत करना चाहिये"। क्यों? क्योंकि उनमें उभयाश्रय के क्लेश अधिमात्र में पाये जाते हैं; क्योंकि वह उस प्रतिसंख्यान के अक्षम हैं, जिसकी आवश्यकता क्लेश-प्रतिपक्ष भावना के लिये है; क्योंकि तीव्र ह्री और अपत्राप्य (२.३२ ए-बी.) का उनमें अभाव है।

वह असंवर के अभव्य क्यों हैं? क्योंकि उनमें पापाशय दृढ़ नहीं है, क्योंकि संवर और असंवर प्रतिद्वन्द्वभूत हैं। जहाँ संवर होता है वहीं असंवर होता है।

२. उत्तर कुरुओं में समादान का अभाव है, इससे प्रातिमोक्ष संवर नहीं होता। तथा समाधि[1] का अभाव है। इससे अन्य दो संवर उनमें नहीं होते। दूसरी ओर पाप क्रियाशय का उनमें अभाव है।

३. आपायिकों में तीव्र ह्री और अपत्राप्य का अभाव होता है; संवर-ग्रहण के लिये ह्री और अपत्राप्य का योग चाहिये; असंवर के लिये ह्री और अपत्राप्य का विपादन आवश्यक है (४. ९७ बी.)। काय, आश्रय, षण्ढ-पण्डक, उभयाकृति और आपायिकों में न संवर होता है, न असंवर, क्योंकि यह काम ऊसर-भूमि के तुल्य है जहाँ न व्रीहि, न कोई कुतृण उत्पन्न हो सकता है।

आक्षेप—सूत्र वचन है कि "हे भिक्षु! एक अण्डज नाग (३.९ ए) है जो पक्ष की प्रत्येक अष्टमी को अपने निवास से निकलकर अष्टाङ्ग उपवास का परिग्रह करने जाता है" (संयुत्त, ३.२४१; विभाषा, २४, ११; विसुद्धिमग्ग, ३०० से तुलना कीजिये)। नागों के लिये संवर का नहीं किन्तु सुचरित का प्रश्न है, इसलिये संवर केवल मनुष्यों और देवों में होता है।

४३ डी. मनुष्यों के तीनों संवर होते हैं।[2]

[१०५] प्रातिमोक्ष-संवर, ध्यान-संवर, अनास्रव-संवर।

कामरूपजदेवानां ध्यानजोऽनास्रवः पुनः।
ध्यानान्तरासंज्ञिसत्ववर्ज्यानामप्यरूपिणाम् ॥४४॥

४४ ए. बी. कामधातु और रूपधातु में उपपन्न देवों में ध्यान-संवर[1]। ऊर्ध्वधातु में नहीं।

---

1. उनके मान्द्य के कारण।
2. =[नृणाम् त्रयः ॥]
1. =[कामरूपजदेवानां ध्यानजः]
प्रातिमोक्ष-संवर नहीं, क्योंकि देवों में संवेग नहीं होता।

४४ बी. डी. ध्यानान्तर के देव और असंज्ञिसत्वों को छोड़कर, और आरूप्य में भी अनास्रव संवर[२]।

ध्यानान्तरिक या वह सत्व जो ध्यानान्तर में उपपन्न होते हैं और असंज्ञिसत्व, इनको छोड़कर यह संवर रूप धातु में होता है। आरूप्यधातु में भी होता है। आरूप्य के देव इस संवर से सम्मुखीभावतः कभी नहीं समन्वागत होते क्योंकि संवर रूप है; किन्तु वह इससे "समन्वागत" हो सकते हैं (४·८२ देखिये)।[३]

कर्म की परीक्षा करते हुए आचार्य, सूत्र में उपदिष्ट विविध प्रकार के कर्मों का व्याख्यान करते हैं।

कर्म तीन प्रकार के हैं—कुशल, अकुशल, अव्याकृत (विभाषा, ५१,१)

क्षेमाक्षेमेतरत्कर्म कुशलाकुशलेतरत्।
पुण्यापुण्यमनिञ्ज्यं च सुखवेद्यादि च त्रयम्।।४५।।

[१०६] ४५ ए-बी. कुशल-कर्म क्षेम है, अकुशल कर्म अक्षेम है। कुशल-अकुशल से इतर कर्म क्षेम-अक्षेम से इतर है।[१]

कुशलादि कर्म का ऐसा निर्वचन है।

कुशल (शुभ) कर्म क्षेम है क्योंकि इसका इष्ट विपाक है और इसलिये यह एक काल के लिये दुःख से परित्राण करता है (यह कुशलसास्रव कर्म है) अथवा क्योंकि यह निर्वाण-प्रापक है और इसलिये दुःख से अत्यन्त परित्राण करता है (यह अनास्रव कुशल कर्म है)। अकुशल (अशुभ) कर्म अक्षेम है। इसका अनिष्ट विपाक है। अव्याकृत कर्म जिसको भगवत् कुशल-अकुशल नहीं कहते न क्षेम है, न अक्षेम है।

---

२. =[अनास्रवः पुनः। ध्यानान्तरासंज्ञिसत्वान् हित्वारूप्येऽपि (सम्भवेत्) ।।]
भाष्य के तिब्बती भाषान्तर में यह कारिका नहीं है।

ध्यानान्तर के अभ्यास से (८, २२·२३) ब्रह्म पुरोहितों के लोक के इस उच्छ्रित भाग में, जिसे ध्यानान्तरिका कहते हैं, जहाँ महाब्रह्म का निवास (२·४१ डी; ३·२ डी) है, पुनरूपपत्ति होती हैं।

महाब्रह्माओं में उपपन्न होना एक आवरण है (४·९६) क्योंकि आर्यमार्ग-प्रवेश और अनास्रव-संवर जो आर्यमार्ग में संगृहीत हैं, ब्रह्मा के लिये सम्भव नहीं हैं क्योंकि वह अपने को स्वयम्भू, स्रष्टा मानते हैं, इत्यादि (६·३८ ए-बी)।

३. परमार्थ ध्यानान्तरिक और असंज्ञिसत्वों को वर्जित कर काम और रूप के देवों में और आरूप्य के देवों में अनास्रव संवर...। आरूप्य में उपपन्न देव ध्यान-संवर और अनास्रव संवर से, सम्मुखीभावतः नहीं, किन्तु वस्तुतः, समन्वागत होते हैं।

१. =[क्षेममक्षेमभितरत् कर्म शुभाशुभेतरत्।]

४५ सी-डी. पुण्य, अपुण्य, आनिंज्य यह तीन कर्म सुख वेदनीयादि हैं।[२]

तीन कर्म हैं—पुण्य, अपुण्य, आनिंज्य। तीन कर्म हैं—सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय, अदुःखासुखवेदनीय।

कामधातौ शुभं कर्म पुण्यं आनिंज्यमूर्ध्वजम्।
तद्भूमिषु यतः कर्मं विपाकं प्रति नेंजति ॥४६॥

४६ ए-बी. पुण्य कामधातु का कुशल कर्म है; आनिंज्य कर्म ऊर्ध्व का कुशल कर्म है।[३]

कामावचर कुशल कर्म पुण्य-कर्म कहलाता है। यह पुण्य इसलिये है क्योंकि यह विशुद्ध करता है, क्योंकि यह सुखविपाक का उत्पाद करता है।[४]

[१०७] अर्घ्व का कुशल कर्म अर्थात् दो ऊर्ध्व धातुओं के अवचर का 'कर्म आनिंज्य' कहलाता है।[१] किन्तु क्या भगवत् ने नहीं कहा है कि प्रथम तीन ध्यान संजित हैं? क्या उन्होंने नहीं कहा है कि "प्रथम ध्यान के वितर्कित और विचारित को आर्य इञ्जित कहते हैं।"[२]

---

२. =[पुण्यमपुण्यमानिंज्यम् सुखवेद्यादिकं त्रयम् ॥]

३. =[कामधातुशुभं कर्म पुण्यमानिंज्यमूर्ध्वजम्]

अष्ट साहस्रिका पर अभिसमयालङ्कारालोक, पृ० ६२ अभिधर्म समुच्चय से उद्धरण देता है—कायप्रतिसंयुक्तम् कुशलं पुण्यं रूपारूप्यप्रतिसंयुक्तम् आनिंज्यम्। (बोधिचर्यावतार ३·१० की टीका)।

४. यह तिब्बती भाषान्तर में नहीं है किन्तु परमार्थ ने दिया है। शुआन्-चाङ्—"कामधातु का कुशलकर्म पुण्य कहलाता है क्योंकि यह दूसरे का शुभ करता है और सुख-विपाक का उत्पाद करता है। अकुशल कर्म अपुण्य कहलता है क्योंकि यह दूसरे का अक्षेम करता है और दुःखविपाक का उत्पाद करता है।"

१. व्याख्या (३.१०१ डी.) में दो पाठ हैं—आनेंज्य 'एजृ' (कम्पने) धातु से और आनिंज्य, 'इगि' (गत्यर्थे) धातु से। वोगिहारा ने महाव्युत्पत्ति के अपने संस्करण में अन्य पाठ उद्धृत किये हैं, २१,४९,२४४,१२४; अनिंग, अनिंज्यं, अनिंज, अनिंज्य, आनिंज्य। आधुनिकमत, लोटस पृ० ३०६; चिल्डर्स (इञ्ज्); सेना, महावस्तु, १.३९९ (पोथिया में आनिंज पाठ है); लाओमान, एल्बम कर्न, ३९३; कर्न, बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ८०, टिप्पणी (वैदिक अनेद्य=अनिन्द्य); ई० मुलर सिम्प्लीफाइड ग्रामर पृ० ८ (मध्यमकवृत्ति, पृ० ३३५ मेरी टिप्पणी देखिये)।

२. आनेञ्जकर्म—तीन अभिसंखार (पुञ्ञ अपुञ्ञ, आनेञ्ज), दीघ, ३·२१७, संयुत्त, २.८२, मध्यमकवृत्ति १६.१ (आनेञ्ज्य) यह वारन का (leading to immoraliti) कर्म है (पृ १८०, विसुद्धिमग्ग, पृ० ५७१ के अनुसार) श्रीमती एजेडेविड्स इसे 'Act of imperturbable character' या 'for remaining static' बताती हैं (कथावत्थु

[१०८] भगवत् वास्तव में इन दो-दो यानों की सापक्षालता की दृष्टि से (३·१०१-सी, ६·२४ ए, ८·११ में पूर्ण विवेचन) कहते हैं कि प्रथम तीन ध्यान सेंजित हैं; इनके अपक्षाल इनको इञ्जित करते हैं। किन्तु इञ्जितसूत्र[1] में भगवत् इन ध्यानों को अनिंजित बताते हैं क्योंकि वह इनको आकम्प्यानुकूल भागीय मार्ग समझते हैं।[2]

का अनुवाद, पृ० ३५८,२२.२ पर)।

[इसी कर्म का वर्णन यहाँ वसुवन्धु करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह ऊर्ध्व-धातुभूर्यमक कर्म है।]

आनेंज चित्त, चित्तस्य आनेंजता, 'चित्त की अचञ्चलता; चित्तं, ध्यान, आर्य आनेंजप्पत्त, आनिञ्ज्यप्राप्त कहलाते हैं :—उदान, ३.३, नेत्तिप्पकरण, ८७, पुग्गलपञ्ञत्ति, ६०, अङ्गुत्तर, २.१८४, विसुद्धिमग्ग, ३७७ रोगिहारा बोधिसत्वभूमि १९—यह चतुर्थ-ध्यान का चित्त है। कथावत्थु २२.३ के बाहर्चों के अनुसार चतुर्थ ध्यान में अर्हत् की मृत्यु होती है (कोश, ३.४३, दीघ २.१५६, अवदानशतक २.१९९ से तुलना कीजिये), अचल, निरिंजनचित्त। आनेंज चित्त जो ऋद्धिपाद (इद्धि) है विसुद्धिमग्ग, पृ० ३८६ के अनुसार एक चित्त है जो रागादि की ओर प्रवृत्त नहीं होता (न इञ्जित (यह चतुर्थ ध्यान का चित्त नहीं है किन्तु समाहित कुशलचित्त है। (ऋद्धि पर कोश, ७.४८ देखिये)।

संयुत्त ४.२०२ में अनिञ्जमान, अफन्दमान आदि चित्त वह चित्त है जो मञ्जित, इञ्जित, फन्दित, पञ्चित और मानगतों से (जिनमें कहते हैं "मैं हूँ" आदि) विमुक्त है। अङ्गुत्तर २.४५ के इञ्जित को इसी प्रकार समझना चाहिये। ४ मज्झिम, २.२५४,२६२ के अनुसार विञ्ञाण।

आणञ्जुपग, २ आकिञ्चञ्ञायतनुपग ३. नेवसञ्ञानासञ्ञायतनुपग होता है। कामं और रूप की संज्ञा का प्रहाणकर 'आणञ्ज' का लाभ होता है; इनके अतिरिक्त आणञ्ज की संज्ञा का भी प्रहाण कर आकिञ्चञ्ञ का लाभ होता है।

नेवञ्जानासञ्ञायतन का लाभ आकिञ्चञ्ञ संज्ञा का भी प्रहाण कर होता है। ऐसा मालूम होता है कि आणञ्ज प्रथम दो आरूप्यों का समकक्ष है (कोश, ८ देखिये)।

यदत्र वितर्कितम् विचारितमिदमत्रार्या इञ्जितमित्याहुः यदत्र प्रीतिरविगताइदम-त्रार्या इञ्जितमित्याहुः। यदत्र सुखं सुखमिति चेतस आभोग इदमत्रार्या इञ्जितमित्याहुः। मध्यम ५०,१० मज्झिम १.४५४ से तुलना कीजिये...इदं खोअहं उदायि इञ्जितस्मिं वदामि। किञ्च तत्थ इञ्जितस्मिं। यदेव तत्थ वितक्कविचारा अनिरुद्धाहोन्ति इदं तत्थ इञ्जितस्मिं।

१. परमार्थ और शुआन्‌चाङ् आनिञ्ज्यसूत्र में :।

२. =आनिञ्ज्य-संप्रेष्यगामिनीम् आरभ्य=आनिञ्ज्यानुच्चल-भागिनं आकम्प्यानुकूल-मानिनम्, मार्गमारभ्य (व्या०३९०·१) शुआन्-चाङ् के अनुसार "भगवत् उनको अनिंजित विपाक का उत्पादक गृहीत कर (अक्षरार्थः अभिसन्धान कर गृहीत कर) अनिंञ्जित बताते हैं' परमार्थ के अनुसार......आनिञ्ज्यकुशल प्रत्ययगामी मार्ग को लक्ष्य कर।"

किन्तु जो इञ्जित हैं उसको अनिंजित क्यों कहें ?[३]

४६ सी-डी. क्योंकि ऊर्ध्वभूमिक कर्मविपाक के प्रति इञ्जित नहीं होता।[४] कामावचरे कर्म विपाक के प्रति इञ्जित होता है। उसके विपाक का स्थान नियत नहीं है; जो कर्म प्रकृतितः अमुकगति का उत्पाद करता है उसका विपाक अन्य अमुक गति में हो सकता है; जो कर्म अमुक देव गति का उत्पाद करता है उसका विपाक अन्य देवगति में हो सकता है। वास्तव में कर्म वल, संस्थान, सौन्दर्य और भोग का उत्पाद करते हैं; इसलिये ऐसा होता है कि देवगति में विपच्यमान होने के स्थान में वह कारण-विशेष के वल से मनुष्य तिर्यक्-प्रेत-गति में विपच्यमान होते हैं। इसके विपक्ष में कोई कारण ऐसा नहीं है जो आरूप्यवचर कर्म को स्वभूमि में विपच्यमान होने न दे।

[१०९] अकुशल कर्म अपुण्य है। यह लोक में सुविज्ञात है और जो लोक में ज्ञात है उसका विवेचन करने का कोई स्थान नहीं है सुखवेदनीय आदि कर्मों के सम्वन्ध में।

सुखं वेद्यं शुभं ध्यानादातृतीयादतः परम्।
अदुःखासुखवेद्यं तु दुःखवेद्यमिहाशुभम् ॥४७॥

४७ ए-बी. शुभ कर्म तृतीय ध्यानपर्यन्त सुखवेदनीय है।[१] तृतीय ध्यान के ऊर्ध्व सुखावेदना[२] नहीं होती इसलिये कामधातु और प्रथम तीन ध्यान इसके अवचर हैं। इसलिये शुभ कर्म का विपाक तृतीयध्यानपर्यन्त सुखवेदनीय है। जिस कर्म का विपाक इस प्रकार का होता है वह 'सुखवेदनीय' कहलाता है (४'४९ देखिये)।

४७ बी-सी. इससे ऊर्ध्व यह अदुःखासुखवेदनीय है।[३] सुखा और दुःखा वेदना तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व नहीं होती, उपेक्षा वेदना शेष रह जाती है। यह शभ कर्म का एक विपाक है जो तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व विपच्यमान होता है।

---

३. शुआन्-चाङ् इञ्जितध्यान अनिञ्जित विपाक का कैसे उत्पाद कर सकता है? यद्यपि इस ध्यान में अपने अपक्षालों के कारण इञ्जित होता है तथापि उसे अनिञ्जित कहते हैं क्योंकि उसके विपाक के विषय में... ।"

४. तद्भूमिषु यतः कर्मविपाकं प्रतिनेञ्जति । परमार्थः 'स्वभूमिषु', शुआन्-चाङ् स्वभूम्यायतने।

१. सुखवेद्यम् शुभं ध्यानादातृतीयात् । विभाषा, ११५,२ के अनुसार—हम इसे और स्पष्ट करते हैं—शुभकर्म का विपाक सुखावेदना है जब वह काम-धातु और प्रथम तीन ध्यानों में होता है।

२. 'सुखावेदना' से (१) कामधातु और प्रथम दो ध्यानों में कायिक सुख और सौमनस्य, (२) तृतीय ध्यान में सौमनस्य (२'७,८'९ बी) समझना चाहिये।

३. अतः परम् । अदुःखासुखवेद्यम्—३'४३ देखिये।

४७ सी-डी. ऐहिक अशुभ दुःख वेदनीय है।[४]

अशुभ कर्म दुःख वेदनीय है। कारिका में "ऐहिक" यह ज्ञापित करने के लिये है कि इस कर्म का अस्तित्व केवल काम-धातु में है।

[११०] क्या इन सब कर्मों का फल केवल वेदना है? नहीं; इनका एक दूसरा [विपाक] फल है; यह वेदना का सम्भार है।[१]

अधोऽपि मध्यमस्त्येके ध्यानान्तरविपाकतः।
अपूर्वाचरमः पाकस्त्रयाणां चेष्यते यतः ॥४८॥

४८ ए. कुछ के अनुसार मध्य-कर्म अधः भी होता है।[२] दूसरों के अनुसार मध्य-कर्म अर्थात् वह कर्म जिसका विपाक अदुःखासुखा वेदना है। ४·४७ ए-सी के बाद के विरुद्ध चतुर्थध्यान से अधः भी होता है (विभाषा, ११५,४, दो तर्क) ४८ बी और ४८ सी-डी।

४८ बी. क्योंकि ध्यानान्तर का विपाक होता है।[३]

---

४. =[दुःखवेद्यम् ऐहिका शुभम् ॥] [एक अक्षर और एक पाद] षष्ठी नहीं हो सकती; यह विशेषण हो सकता है=ऐहिक, ४·१३सी.डी ऐहिकशीलम्।

परमार्थ—"कामधातु का अशुभ-कर्म दुःख वेदनीय कहलाता है...कारिका में 'काम-धातु में' यह शब्द यह ज्ञापित करने के लिये है कि इस कर्म का अस्तित्व अन्यत्र नहीं होता"।

१. इन्द्रिय विषय, आश्रय, २·५७।

२. अधोऽपिमध्यमित्येके—व्याख्या ३·४३ में उद्धृत।

३. =ध्यानान्तरविपाकतः (व्या० ३९०-१७)।

(१) ध्यानान्तर प्रथम और द्वितीय ध्यान के मध्य का अधिक ध्यान है अथवा, जैसा कि तिब्बती भाषान्तर का अनुवाद है, यह वितर्क के अभाव के कारण (८.२२ डी देखिए) प्रथम से ऊर्ध्व ध्यान है। यह प्रथम ध्यान का एक प्रकार का सामन्तक है (ऊपर पृ० १०५ देखिये)।

समापत्ति-ध्यान और उपपत्ति-ध्यान में अन्तर है। उपपत्ति ध्यान 'प्रत्येक ध्यान के अनुरूप लोक की उत्पत्ति' है।

ध्यानान्तर कर्म वह कर्म है जिससे ध्यानान्तर ध्यान और ध्यानान्तर उपपत्ति का लाभ होता है।

(२) कारिका के दो अर्थ हैं; भाष्य इनको ज्ञापित करता है—ध्यानान्तर-कर्मणोविपाकतस्=क्योंकि ध्यानान्तर कर्म का विपाक है; ध्यानान्तरे विपाकतस्=क्योंकि ध्यानान्तर में विपाक होता है। परमार्थ मूल का अक्षरार्थ देते हैं; शुआन्-चाङ्—"क्योंकि मध्य [कर्म] विपाक का उत्पाद करता है।"

यदि चतुर्थ ध्यान से अधःमध्य-कर्म का अभाव होता तो ध्यानान्तर कर्म का विपाक न होना[४] अथवा[५]—

[१११] ध्यानान्तर में किसी[१] कर्म का विपाक सम्भव न होता क्योंकि वहाँ सुखा और दुःखा वेदना का अभाव है।

[इस तर्क का उत्तर देते हुए] कुछ का कहना है कि ध्यानान्तर कर्म का विपाक उसी[२] ध्यान का सुखेन्द्रिय (२.७,८.९ बी) है; दूसरों का कहना है कि इस कर्म का विपाक वेदना नहीं है, [किन्तु रूपादि हैं]।[३]

---

४. भाष्यः ध्यानान्तरकर्मणो विपाको न भवेत्—व्याख्या (३९०-१८)। ध्यानान्तरकर्मणो ध्यानान्तरोत्पत्तौ विपाकेन वै दितेन भवितव्यम्। तत्र दुःखा वा वेदना नास्ति। तस्माद् अस्या-दुःखासुखा वेदनाविपाक इति...“ध्यानान्तर कर्म का ध्यानान्तरोपपत्ति में विपाक होना चाहिये जो वेदना है। किन्तु ध्यानान्तर में सुखावेदना या दुःखावेदना नहीं होती। इसलिये अदुःखासुखावेदना [जो वहाँ होती है] उक्त कर्म का विपाक है। इसलिए चतुर्थध्यान से अधः एक कर्म है जो अदुःखासुखवेदनीय है।”

५. “वा”=यदि हम कारिका के दूसरे अर्थ का विचार करते हैं (अनुवादक की टिप्पणी)।

१. भाष्यः ध्यानान्तरे वा कस्यचित् कर्मणो विपाको न स्यात्—व्याख्या(३९०.२०):। ध्यानान्तरे वा कस्यचित् कर्मणोऽन्यस्य विपाको वेदना न स्यात् न सम्भवति—“अथवा ध्यानान्तर में ध्यानान्तर कर्म से अन्य किसी कर्म का वेदनात्मक विपाक नहीं होगा क्योंकि यह कहना युक्त नहीं है कि ध्यानान्तर में जिस विपाक का अनुभव होता है वह मौल प्रथम ध्यानभूमिक सुखवेदनीय कर्म का फल है या यह कामावचर दुःखवेदनीय कर्म का फल है या वह चतुर्थ ध्यानभूमिककर्म का फल है।”

शुआन्-चाङ् का अनुवाद—“अथवा वह कर्म सम्भव न होगा [जिसका विपाक ध्यानान्तर में होता है]”।

परमार्थ—“यदि ऐसा नहीं है [=यदि मध्य कर्म का चतुर्थ ध्यान के अधः अभाव है] तो ध्यानान्तर कर्म का विपाक न होगा अथवा ध्यानान्तर में भिन्न स्वभाव का [विपच्यमान] कर्म होगा।” किन्तु यह कहना अयुक्त होगा कि ध्यानान्तर की वेदना किसी अन्य कर्म का विपाक है]।

२. ध्यानान्तरकर्मणो ध्यान एव सुखेन्द्रियं विपाक इत्येके ब्रुवते (व्या३९१.१)। शुआन्-चाङ्—“मौल ध्यान का सुखेन्द्रिय इस कर्म का विपाक है।”

[सम्पादक की विवृति प्रथम ध्यान का] इसका यह अर्थ हो सकता है—“जो कर्म ध्यानान्तर का उत्पाद करता है उसका विपाक वेदना होती है किन्तु मौल ध्यान में।”

३. भाष्य—नैवतस्य वेदना विपाक इत्यपरे (व्या० ३९१, ३)—क्या इन आचार्यों का मत है कि ध्यानान्तरोपपत्ति में वेदना नहीं होती? नहीं, किन्तु इनका कहना है कि यह वेदना विपाक-स्वभाव नहीं है किन्तु नैष्यन्दिकी है (२, ५७ सी.)।

यह दोनों मत शास्त्रविरुद्ध (उच्छास्त्र) (ज्ञान प्रस्थान, ११,५) हैं।

"क्या यह सम्भव है कि एक कर्म का विपाक केवल चैतसिक वेदना हो ?"

हाँ; अवितर्क शुभ कर्म का विपाक।[४]

[११२] ४८ सी-डी क्योंकि यह इष्ट है कि तीन प्रकार के कर्मों का विपाक युगपत् होता है।[१]

मध्य कर्म चतुर्थ ध्यान से अधः होता है, इसके मानने के लिये एक दूसरी युक्ति है।

शास्त्र में इसी स्थान में पठित है—"क्या ऐसा है कि तीन प्रकार के कर्म का विपाक युगपत् होता है ? हाँ, (१) सुखवेदनीय कर्म का विपाक अर्थात् [चक्षुरिन्द्रिय आदि] रूपधर्म; (२) दुःखवेदनीय कर्म का विपाक अर्थात् [दौर्मनस्य को छोड़कर, २-१० बी-सी] चित्त-चैत्त; (३) अदुःखासुखवेदनीय कर्म का विपाक अर्थात् [जीवितेन्द्रिय आदि, २-३५] चित्त विप्रयुक्तधर्म, युगपत् हो सकता है।—किन्तु कामधातु से अन्यत्र तीन प्रकार के कर्म का युगपत् विपाक नहीं हो सकता क्योंकि दुःखवेदनीय कर्म का विपाक केवल कामधातु में होता है .(विभाषा, ११८, १०)। अदुःखासुखवेदनीय कर्म [जब यह चतुर्थ ध्यान से अधोभूमि में संगृहीत होता है] कुशल है या अकुशल ? यह अकुशल है किन्तु इसका बल मृदु है।

किन्तु हमने क्या नहीं कहा है कि "कुशल कर्म यावत् तृतीय ध्यान सुखवेदनीय है (४, ४७ ए) ? यह वस्तुलिक निर्देश है। किन्तु हम यह कैसे कह सकते हैं कि कर्म सुखवेदनीय (सुखवेद्य) है ? क्या कर्म का स्वभाव वेदना का नहीं है, क्या कर्म अनुभूत नहीं होता[२] (अवेदना स्वभाव) ?

---

४. [किं] कर्मणश्चैतसिक्येव वेदनाविपाको विपच्यते—कुशलस्यावितर्कस्य कर्मणः।

यह अवितर्क कुशलकर्म वह कर्म है जो ध्यानान्तर का उत्पाद करता है, उसका विपाक केवल चैतसिकीविदना है। इसलिये यह अयुक्त है कि जो कर्म ध्यानान्तर का उत्पाद करता है उसका विपाक उसी ध्यान का (प्रथम ध्यान का जिसका ध्यानान्तर ऊर्ध्व सामन्तक है) सुखेन्द्रिय हो। यह भी अयथार्थ है कि यह विपाक वेदना नहीं है क्योंकि अवितर्क कर्म ध्यानान्तर से ऊर्ध्व ही होता है (देखिये ४, ५७ ए-सी)।

१. =[त्रयस्या] पूर्वाचरमम् [विपाक इष्यते यतः ॥] (व्या० ३९१, १४)

२. जिसका अनुभव होता है वह सुख है, कर्म नहीं है।

ऐसा इसलिये कहते हैं क्योंकि कर्म सुखवेदना के अनुकूल है (सुखवेदनाहित, अनुकूल) अथवा क्योंकि इसका विपाकसुख अनुभवनीय है। स्नानीय काषायवत्। यथा स्नान का वस्त्र, वह वस्त्र जिससे स्नान करते हैं, 'स्नानीयकाषाय' कहलाता है, उसी प्रकार जिससे विपाक का अनुभव होता है उस कर्म को 'वेदनीय' कहते हैं। इसके अतिरिक्त।

स्वभावसंप्रयोगाभ्यामालम्बनविपाकतः ।
सम्मुखीभावतश्चेति पञ्चधा वेदनीयता ।।४६।।

[११३] ४६. वेदनीयता के पाँच प्रकार हैं—स्वभावतः, सम्प्रयोगतः, आलम्बनतः, विपाकतः, सम्मुखीभावतः ।[1]

१. वेदना वेदनीय स्वभाव है, सुखावेदना सुख अनुभव है, इत्यादि। (१, १४ सी २, २४)

२. स्पर्श वेदनीय है क्योंकि यह वेदना से संप्रयुक्त है—सुखवेदनीय स्पर्श आदि। (संयुत्त, १३, संयुत्त ५, २११; कोश; २ अनुवाद, पृ० १२५ और १५४)

३. ६ इन्द्रियों के ६ विषय आलम्बनतः वेदनीय हैं—"चक्षु से रूप को देखकर वह रूप का अनुभव करता है, रूप का प्रतिसंवेदन करता है किन्तु वह रूप का राग से प्रति संवेदन नहीं करता।"[2] रूप वेदना का आलम्बन है।

४. कर्म विपाकतः वेदनीय है—"इष्टधर्म वेदनीय कर्म" (मध्यम, ३, १)

५. वेदना सम्मुखीभावतः वेदनीय है। "जब वह सुखावेदना का प्रतिसंवेदन करता है, अनुभव करता है, (अनुभवति) तो दो वेदनाएँ दुःखा और अदुःखासुखा उसी समय उसमें निरुद्ध होती है।"[3]

[११४] इसलिये जब सुखावेदना का प्रवर्तन होता है (प्रवर्तते) तो कोई दूसरी

---

१. व्याख्या में आख्या दी है - स्वभाववेदनीयता आलम्बनवेदनीयता, सम्मुखीभाव वेदनीयता।

[स्वभावतः संप्रयोगादालम्बनविपाकतः ।
सम्मुखीभावतश्चापि पञ्चधा वेदनीयता ।।]

विभाषा, ११५, १ के अनुसार जहाँ क्रम भिन्न है (५ के स्थान में दो है)।

२. [रूपं चक्षुषा दृष्ट्वा] रूपप्रतिसंवेदीनो च रूपरागप्रतिसंवेदी —(व्या० ३६२, ६)। यही पाठ संयुत्त, ४, ४१ में है।

व्याख्या —रूपं प्रत्यनुभवति नो च रूपरागं प्रत्यनुभवतीत्यर्थः ।

अथवा —नो च रूपं रागेण प्रत्यनुभवतालम्बन इति ।

३. यस्मिन् समये सुखां वेदनां वेदयते, द्वे अस्य वेदने तस्मिन् समये निरुद्धे भवतः (महानिदानधर्मपर्याय); दीघ, २, ६६ से तुलना कीजिये ।

तो कोई दूसरी वेदना नहीं होती जिससे उसका प्रतिसंवेदन हो। यदि इसलिये हम कहते हैं कि यह वेदना वेदनीय है तो इसका कारण यह है कि इसका सम्मुखीभाव है। (सम्मुखीभावेन वेदनीयता)—

नियतानियतं तच्च नियतं त्रिविधं पुनः।
दृष्टधर्मादिवेद्यत्वात् पञ्चधाकर्म केचन ॥५०॥

५० ए. यह कर्म नियत या अनियत है।[1]

---

१. =[तच्चनियतानियतम्]

कर्म के विपाक-नैयम्य का प्रश्न कठिनाइयों से खाली नहीं है। कई विचार हैं। मुख्यतः कृत कर्म और उपचित कर्म का भेद देखिये (४, १२०)—कर्म उपचित नहीं होगा यदि अनुताप, प्रतिदेशना आदि से अनुगत हो। वास्तव में पृष्ठ के बिना कर्म समाप्त नहीं होता (४, ६८); कर्म की गुरुता प्रयोग, मौलकर्म और पृष्ठ की गुरुता पर आश्रित है। (४, ११९)।

प्रत्येक उपचित कर्मविपाक दान में नियत नहीं है। नियत विपाक कर्म के विपाक का स्वभाव बदल सकता है—सन्निकृष्ट जन्म में नरक में वेदनीय अमुक कर्म दृष्टधर्म में विपाक देगा (अंगुलिमाल एक अच्छा उदाहरण है)—(४, ५५)। वास्तव में यदि आनन्तर्य (४, ९७) को छोड़ दें तो कुशलमूल का समुच्छेद करने वाली मिथ्यादृष्टि (४, ७९) के अतिरिक्त—और यह भी इस जन्म में पुनरुत्पन्न हो सकते हैं (४, ८० सी-डी)—अन्य पाप-कर्म 'काम धातु से विरक्त' होने से और इसलिये सन्निकृष्ट जन्म में रूपलोक में उपपन्न होने से (४, ५५) रोकते नहीं। उस अवस्था में वह पाप कर्म जो नियन विपाक नहीं हैं, ऐसे हो जाते हैं जैसे वह हुए ही नहीं थे। अन्य दृष्ट धर्म में विपाक देते हैं। उनको छोड़कर जिनका नियत विपाक दुर्गति है, अन्य पापकर्म आर्यमार्ग प्रवेश को नहीं रोकते। उस समय से बलिष्ठ कुशलमूल (चरितविशुद्धि, त्रिरत्न समादर) से वासित पुद्गल पूर्वकृत उन अनियत कर्मों के विपाक का विरोध करता है जो दुर्गति का उत्पाद कर सकते थे। "मूढ़पुरुष स्वल्प सावद्यकारी होते हुए भी अधोगति को प्राप्त होता है; प्रज्ञावान् गुरुसावद्यकारी होते हुए भी अपाप का त्याग करता है। लोहे का एक स्वल्पपिण्ड डूब जाता है किन्तु वही लोहा प्रभूत भी क्यों न हो पात्र के रूप में तैरता रहता है"—(६, ३४ ए-बी. अङ्गुत्तर, १, २४९)।

बुद्धरूपी पुण्यक्षेत्र में स्वल्प कुशलमूल आरोपित कर अनियत विपाक कर्मों के विपाक का निरोध होता है (७, ३४ आदि)—कोश, ४, ६० में 'अनास्रव' कर्म का वर्णन है जो अन्य कर्मों का क्षय करता है।

एक दूसरा प्रश्न उस क्रम के सम्बन्ध में है जिसमें विविध कर्म विपाक देते हैं; वह गुरु, अभ्यस्त, आसन्न होते हैं (कोश, ९ देखिये पुद्गल प्रकरण के अन्त में; विसुद्धिमग्ग पृ० ६०१)। बुद्ध ने व्याकरण किया है कि कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है। वह उसके प्रतिवेध की चेष्टा को मना करते हैं—(अङ्गुत्तर, २, ८०, मध्यमकावतार, ६, ४२, मिलिन्द, १८९, जातकमाला, ३३, १—३)।

[११५] (सुखवेदनीय आदि) कर्म जिसका हम वर्णन करेंगे, नियत है अर्थात् 'जिसका प्रतिसंवेदन अवश्य होगा' या अनियत है 'जिसका प्रतिसंवेदन आवश्यक नहीं है।'

५० बीसी. नियत कर्म तीन प्रकार का है, दृष्टधर्मवेदनीय आदि ?[1]

५० सी-डी. एक मत के अनुसार कर्म पाँच प्रकार का है।[2]

अनियत कर्म को दो प्रकारों में विभक्त कर—एक वह जिसका विपाककाल अनियत है किन्तु जिसका विपाक नियत है (नियत विपाकः); दूसरा वह जिसका विपाक अनियत है (अनियतविपाकः), जो विपच्यमान नहीं हो सकता।

[११६] दृष्टधर्मवेदनीयकर्म वह कर्म है जो उसी जन्म में विपच्यमान होता है या विपाकफल देता है जहाँ वह सम्पन्न हुआ है। उपपद्यवेदनीय कर्म वह कर्म है जो उस जन्म के पश्चाद्वर्त्ती जन्म में विपच्यमान होता है जिस जन्म में वह सम्पन्न हुआ है। अपरपर्यायवेदनीय कर्म वह कर्म है जो तृतीय जन्म के ऊर्ध्व अपर जन्म में विपच्यमान होता है। किन्तु अन्य आचार्यों (सौत्रान्तिकों) का कहना है कि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक वलिष्ठ कर्म का विपाक दुर्बल हो। इसलिये दृष्टधर्मवेदनीयकर्म के विपाक का अनुवन्ध अन्य जन्मों में हो सकता है। किन्तु, क्योंकि इस विपाक का आरम्भ इस दृष्टजन्म में होता है इसलिये इस कर्म का 'दृष्टधर्मवेदनीय' यह नाम व्यवस्थित करते हैं।

एक वस्तु जो बौद्धों के लिये अत्यन्त स्पष्ट है और हमारे लिये अस्पष्ट है यह है कि कर्म है, विपाक है, किन्तु कोई कारक नहीं है। ४, ५८ बी-डी, ८५ में इस प्रश्न का विचार हुआ है कि सर्वदुःख विपाक है या विपाक से प्रवृत्त होता है। क्या विपाक का भी विपाक होता है (विसुद्धिमग्ग, ६०२, कथावत्थु, ७, १०, मध्यमकावतार ६,४१, कर्मप्रज्ञप्ति, अन्त में) डायसन, वेदान्त (१८८३), (४६७-८) से तुलना कीजिये। वसुबन्धु अपने पुद्गल प्रकरण के एक भाग में इस प्रश्न का विचार करते हैं। निम्न प्रश्न—'बुद्धवाद' और 'लोकोत्तरवाद' के लिये रोचक हैं; क्या बुद्ध अपने पूर्वकृत पापों के विपाक का अनुभव करते हैं? आप (४, १०२, अन्त में) बोधिसत्व के तिर्यक् गति के जन्मों का कैसे विवेचन करते हैं? (६, २३ सी)।

1. =[दृष्टधर्मादिवेद्यतः त्रिधा नियतम्]

चिल्डर्स, १७८ बी देखिये; वारेन, २४५; विसुद्धिमग्ग, ६०१; कम्पेंडियम, १४४—प्राचीन ग्रन्थों में दिट्ठधम्मे वेदनीय को नरकगामी कर्म के प्रतिपक्ष में (अङ्गुत्तर, १, २४६) संपरायवेदनीय (अङ्गुत्तर, १, २४९; कोश, ४, ३८२) के प्रतिपक्ष में रखते हैं।

2. =[एके तु ब्रुवन्ति कर्मपञ्चकम् ।।] ?

शुआन्-चाङ् अथवा एक कहते हैं "कि पूर्व कर्म हैं;" परमार्थः "इसके अतिरिक्त पूर्वकर्म हैं।"

वैभाषिक इस दृष्टि को नहीं स्वीकार करते। वह कहते हैं कि एक कर्म है जिनका सन्निकृष्ट फल होता है; दूसरे वह हैं जिनका विप्रकृष्ट फल होता है। जिस प्रकार सुवर्चल का फल २½ महीने में होता है, यव और गोधूम का ६ महीने में।[1]

चतुष्कोटिकमित्यन्ये निकायक्षेपणं त्रिभिः।
सर्वत्र चतुराक्षेपः शुभस्व नरके त्रिधाम् ॥५१॥

५१ ए. दूसरों के अनुसार चार कोटि हैं।[2]

दार्ष्टान्तिक[3] चार कोटि देते हैं—१. विपाककाल नियत, अनियत विपाक कर्म—यदि यह कर्म विपच्यमान होता है तो यह अवश्य अमुक काल में विपाक देगा किन्तु इसका विपाक नियत नहीं है। यह नियत या नियतवेदनीय कर्म है किन्तु अनियत विपाक है। २. नियत विपाक, विपाककाल-अनियत कर्म—यह कर्म विपाक देगा किन्तु विपाक काल अनियत होता है; नियत विपाक किन्तु अनियत, अनियत वेदनीय। ३. दोनों दृष्टि से नियत कर्म, नियत विपाक और नियतवेदनीय। ४. दोनों दृष्टि से अनियत कर्म—अनियत विपाक और अनियत वेदनीय।

[११७] इस पद्धति के अनुसार अष्टविध कर्म है—१. दृष्टधर्मवेदनीय और नियत विपाक कर्म, २. दृष्टधर्म वेदनीय और अनियत विपका...७. अनियत या अनियत वेदनीय किन्तु नियतविपाक कर्म, ८. अनियत वेदनीय और अनियत विपाक कर्म।

किन्तु आगम में जिन कर्मों का व्याख्यान 'दृष्टधर्मादिवेदनीय' किया गया है वह सदा नियत विपाक हैं जिसे 'अनियत' कहा गया है, उसका विपाक नहीं हो सकता (४. ५ ए-सी)।[1]

---

१. चीनी अनुवादक तिब्बती भाषान्तर से व्यावृत्त होते हैं—"ऐसे कर्म हैं जिनका फल सन्निकृष्ट और स्वल्प है; ऐसे कर्म हैं जिनका फल विप्रकृष्ट और विपुल है...।" विभाषा, ११४, १६ की यही शिक्षा है—"दृष्टधर्मवेदनीय कर्म सन्निकृष्ट फल का उत्पाद करता है, इसलिये हम कह सकते हैं कि यह बलिष्ठ है। पर यह हम कैसे कह सकते हैं कि विप्रकृष्ट फल देने वाले अन्य कर्म अत्यन्त बलिष्ठ हैं?—दृष्टधर्मवेदनीय कर्म एक सन्निकृष्ट फल का उत्पाद करता है किन्तु वह दुर्बल होता है। हम नहीं कह सकते कि यह कर्म अत्यन्त बलिष्ठ है...यव का फल ६ महीने बाद होता है। यह विप्रकृष्ट फल है किन्तु सुवर्चल के फल से बड़ा है। खदिर का फल ५, ६, १२ वर्ष बाद होता है किन्तु यह फल अधिक बड़ा होता है। ताल का फल १०० वर्ष बाद होता है किन्तु यह फल अत्यन्त बृहत् होता है।

२. कारिकाओं का संस्करण...परमार्थ और शुआन्-चाङ्। अन्य आचार्य कहते हैं—"चार कोटि हैं।" [चातुष्कोटिकमित्यन्ये]

३. दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिकाः (व्याख्या ३९२.२१)

१. शुआन्-चाङ् कारिका में दो शब्द जोड़ते हैं—"चार, सुष्ठु" अर्थात् "चतुर्विध

क्या ऐसा होता है कि एक पुद्‌गल युगपत् चतुर्विध कर्म का उत्पाद या आक्षेप करता है (आक्षिपति) ?

हाँ, ऐसा हो सकता है कि एक पुद्‌गल प्राणातिपात, अदत्तादान, और मृषावाद में दूसरे को प्रयुक्त कर स्वयं काममिथ्याचार में प्रयुक्त हो। यह चार कर्म यथा क्रम चार प्रकार के है; इनकी परिसमाप्ति युगपत् है (४. ६७)।

५१ बी. तीन प्रकार के कर्म से निकाय आक्षिप्त होता है।[२]

दृष्टधर्मवेदनीय कर्म निकायसभाग (२.४१ ए) का आक्षेप नहीं करता; यह पूर्व कर्म से आक्षिप्त हुआ है।

[११८] विविध धातु और विविध गतियों में कितने प्रकार के कर्मों का उत्पाद हो सकता है ?

५१ सी. सर्वत्र चतुर्विध आक्षेप होता है।[१]

तीन धातुओं में और सब गतियों में चतुर्विध कुशल और अकुशल कर्म का यथा-सम्भव उत्पाद हो सकता है किन्तु इस उत्सर्ग के अपवाद हैं। एक ओर कामधातु से ऊर्ध्व अकुशल कर्म नहीं होता, दूसरी ओर (५१ डी.५३.)।

५१ डी. नरक में शुभकर्म केवल त्रिविध है।[२]

नरक में उपपद्यवेदनीय शुभकर्म, अपरपर्यायवेदनीय शुभकर्म, अनियत शभकर्म का उत्पाद हो सकता है किन्तु दृष्टधर्मवेदनीय शुभकर्म नहीं हो सकता, क्योंकि नरक में कोई मनोज्ञ (मनाप) विपाक नहीं है।

यद्विरक्तः स्थिरो बालस्तत्र नोत्पद्यवेद्यकृत्।
नान्यवेद्यकृद् अप्यार्यः कामाग्रे वाऽस्थिरोऽपि न ॥५२॥

५२ ए-बी जब बालपृथग्जन स्थिर होता है तब वह उस भूमि में जिससे वह विरक्त है, उपपद्यवेदनीय कर्म का उत्पाद नहीं करता।[३]

कर्म का वाद (५० ए-सी) सुष्ठु है।" भाष्य—दृष्टधर्मादिवेदनीय कर्म तीन नियतकर्म हैं; अनियतकर्म चौथा है। हम कहते हैं कि यह वाद सुष्ठु है क्योंकि केवल यहाँ विपाक काल नियत-अनियत कर्म ज्ञापित कर सूत्रोपदिष्ट चतुर्विध कर्म का विवेचन होता है।" जापानी सम्पादक की विवृत्तिः "यह कहकर कि यह सुष्ठु है शास्त्रपञ्च कर्मवाद, अष्टविध कर्मवाद को दूषित नहीं ठहराता।"

२. [निकायः क्षिप्यते त्रिभिः]।

१. = [सर्वत्र चतुर्धाक्षेपः]।

२. शुभस्य नरके त्रिधा। (व्याख्या ३९३.१)।

३. यद्विरक्तः स्थिरो बालो [नात्रोपपद्यवेद्यकृत्] (व्याख्या ३९३.६)।

जब वह स्थिर है अर्थात् जब वह अपरिहाणधर्मा है (६.५६ पुग्गलपञ्ञत्ति, पृ. १२) बाल अर्थात् पृथग्जन।

जब वह किसी भूमि से विरक्त होता है, जब वह किसी भाव से (कामधातु प्रथमध्यान...) विरक्त होता है, तब वह इस भूमि में उपपद्यवेदनीय कर्म का कभी उत्पाद नहीं करता।

५२ सी. आर्य अपरपर्यायवेदनीय कर्म का भी उत्पादन नहीं करता।[४]

[११६] जब वह स्थिर होता है तब आर्य उस भूमि में जिससे वह विरक्त है, न उपपद्यवेदनीय कर्म और न अपरपर्यायवेदनीय कर्म का उत्पाद करता है।

वास्तव में अपरिहाणधर्मा पृथग्जन समनन्तर जन्म में उस भूमि में नहीं उत्पन्न होता जिससे वह विरक्त है—और अपरिहाणधर्मा आर्य इस भूमि में कभी नहीं उपपन्न होता। दोनों जिस भूमि में उपपन्न होते हैं वहाँ दृष्टधर्मवेदनीय और अनियतकर्म का उत्पाद करते हैं।

५२ डी. अस्थिर आर्य, जब वह कामधातु या भवाग्र से विरक्त होता है, वही।[१]

कामधातु से वीतराग आर्य अनागमिन् (६.३६) है।

आरूप्यधातु की अन्तिम भूमि, भवाग्र या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से वीतराग आर्य अर्हत् (६.४५) है।

जब वह परिहाणधर्मा होते हैं अर्थात् प्रतिलब्ध फल की हानि के भव्य होते हैं तब भी यह आर्य कामधातु में या भवाग्र में उपपद्यवेदनीय, अपरपर्यायवेदनीय, कर्म का उत्पाद नहीं करते।

हम (६.६०) बताएँगे कि कैसे परिहाणधर्मा आर्य फलभ्रष्ट होकर नहीं मरते, सदा वह मरने के पहले फल की पुनः प्राप्ति करते हैं।

क्या अन्तराभव (३.१२ सी) कर्म का आक्षेप करता है?

द्वाविंशतिविधं कामेष्वाक्षिपत्यन्तराभवः।
दृष्टधर्मफलं तच्च निकायो ह्येक एव सः ॥५३॥

५३ ए-बी. अन्तराभव कामधातु में २२ प्रकार के कर्म का आक्षेप करता है।[२]

---

४. =नान्यवेद्यकृदप्य्[आर्यः] [नार्योऽन्यवेद्यकृदपि, व्याख्या ३९३.१२]

१. =[नापि कामाग्रतोऽस्थिरः]

२. =[द्वाविंशतिधाक्षिपति कामधात्वन्तराभवः।]—विभाषा ११४,२२।

गर्भ की पांच अवस्था हैं—कलल, अर्बुद, पेशिन्, घन, प्रशाखा। जातावस्था ५ हैं—बाल, कुमार, युवा, मध्य, वृद्ध।[३]

[१२०] अन्तराभव अन्तराभव-वेदनीय नियतकर्म, यथा कलल, अर्बुद..., यथा बाल, कुमार...का उत्पाद करता है। नियत कर्म ११ प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार वह ११ अनियत कर्म का उत्पाद करता है।

५३ सी. इन कर्मों का फल इष्टधर्म में होता है।[१]

अन्तराभव के ११ नियत कर्म 'इष्टधर्मवेदनीय' प्रकार में संगृहीत हैं। क्यों?

५३ डी. क्योंकि अन्तराभवपूर्विका यह सब अवस्थाएँ एक निकाय होती है।[२]

अन्तराभव और उससे अन्वित १० अवस्थाएँ एक कर्म से आक्षिप्त होती हैं (३.१३)। अतएव अन्य अन्तराभव-वेदनीय कर्म नहीं कहा। वास्तव में इस अन्तराभव का आक्षेप उसी कर्म से होता है जो उस जन्म में वेदनीय हैं जो अन्तराभव के अनन्तर होता हैं।[३]

किन लक्षणों के कारण एक कर्म नियत होता है अर्थात् नियतविपाक होता हैं?

तीव्रक्लेशप्रसादेन सातत्येन च यत्कृतं।
गुणक्षेत्रे च नियतं तत् पित्रोर्घातिकं च यत् ॥५४॥

५४ तीव्रक्लेश या तीव्र प्रसाद से किया हुआ कर्म, गुणक्षेत्र में, निरन्तर और माता-पिता का वध नियत हैं।[४]

---

३. २.५२ ए ३.१९, देखिये। संयुत्त, १.२०६; महाव्युत्पत्ति १९०; विडिश, बुद्धज् गेबुट, ८७ और इसमें उद्धृत वचन। गर्भावस्था पर हमारी 'प्राण' पर टिप्पणी देखिये। कोश ४.७३ ए-बी.।

८ पुरिसभूमि, सुमङ्गल, १.१६३; १० अवस्था, विसुद्धि, ६१९।

१. =[एतद् दृष्टधर्मफलम्]

२. =[एकनिकाय एव सः]—अन्तराभव का (पश्चाद्भव के साथ) एकनिकाय होता है।

अन्तराभव और उसके बाद के भव का केवल एक निकायसभाग होता है। इसलिये अन्तराभव सत्त्व के सब कर्म जिनका उसके अन्तराभव में या उसके बाद के भव में विपाक होता है, 'दृष्टधर्मवेदनीय' हैं।

विपाक फल का प्रश्न है; २.५२ देखिये।

६.२१९ से तुलना कीजिये (अभिनिर्वृत्तिवेदनीय)

३. अक्षरार्थ—"यह उपपद्यवेदनीय कर्म से ही अर्थात् [एक बार] उत्पन्न होने के अनन्तर समनन्तर जन्म में वेदनीय कर्म से ही आक्षिप्त होता है।"—शुआन्-चाङ् "...उपपद्यवेदनीय आदि कर्म से" (यह अधिक अच्छा है, क्योंकि अन्तराभव का आक्षेप अपरपर्यायवेदनीय कर्म से हो सकता है)।

४. [तीव्रक्लेशप्रसादेन गुणक्षेत्रे निरन्तरम्।
यत् कृतम् मातापित्रोश्च वधो नियतमेव तत् ॥]

[१२१] तीव्र क्लेश से किया हुआ कर्म, तीव्र प्रसाद से किया हुआ कर्म, गुणक्षेत्र में किया हुआ कर्म, निरन्तर कृत कर्म नियत हैं।

गुणक्षेत्र से अभिप्राय त्रिरत्न से है या फलविशेषप्राप्त आर्यों से (स्रोत आपन्न इत्यादि) और समापत्तिविशेषप्राप्त पुद्‌गलों से (निरोध समापत्ति, २·४४ डी अरणा, ७·३५ सी, मैत्री, ८·२९) है। इन क्षेत्रों में किया हुआ कर्म, तीव्र क्लेश-चित्त या प्रसाद-चित्त के अभाव में भी, नैरन्तर्य के अभाव में भी, नियत है, चाहे वह कुशल हो या अकुशल।

इसी प्रकार पिता-माता का वध, चाहे जिस आशय से किया जाय।[१]

प्रत्येक अन्य कर्म, जो मन्द क्लेश आदि से किया जाता है, अनियत है।

किन लक्षणों के कारण एक कर्म दृष्टधर्मवेदनीय होता है ?

दृष्टधर्मफलं कर्म क्षेत्राशयविशेषतः।
तद्भूम्यत्यन्तवैराग्याद् विपाके नियतं हि यत् ॥५५॥

५५ ए-बी. क्षेत्रविशेष और आशय विशेष के कारण कर्म दृष्टधर्म में फल देता है।[२]

क्षेत्र के उत्कर्ष से, यद्यपि आशय दुर्बल हो; यथा वह भिक्षु जिसका पुरुष-व्यञ्जन अन्तर्हित होता है, स्त्री व्यञ्जन प्रादुर्भूत होता है क्योंकि उसने सङ्घ का अनादर यह कहकर किया कि 'तुम स्त्री हो' (स्त्रियो यूयम्)।

आशयविशेष से—यथा वह षण्ढ जिसने वृषभों को अपुंस्त्व के भय से प्रतिमोक्षित किया और अपना पुरुषेन्द्रिय फिर प्राप्त किया।[३] अथवा—

---

१. भाष्य में है—'यथा तथा चेति'—व्याख्या: (३९४·५)" यह पुण्य बुद्धि से हो या द्वेषादि से। एक पारसीक पुण्य बुद्धि से माता या पिता को मारता है...४.६८ डी देखिये। शुआन्-चाङ्—"लघु या गुरु चित्त से...प्राणातिपात।

२. =[दृष्टधर्मफलं कर्म] क्षेत्राशयविशेष [तः।]

दशसंगीति-विनय के अनुसार ५१,१ विभाषा, ११४,१२ जो अपनी माता के विरुद्ध पापाचरण करते हैं, वह दृष्टधर्म में दण्डित होते हैं—दिव्य, ५८६।

व्यञ्जनान्यथाभाव, ४.४५ (परिवृत्तव्यञ्जन) २१३ (व्यञ्जनान्यथाभाव), सिलवाँ लेवी, तोखारियन, बी, लांग द कूचा, ९२; समन्तपासादिका, १,२७३; विभाषा, ११४, पृ० ५९३, कालम १ (कनिष्क का षण्ढ और वृषभ); दिव्य ४७३ (रूपवती की कथा); धम्मपद, ४३ की अट्ठकथा (दो दारकों के पिता, दो दारकों की माता सोरेय्य की कथा); शावाने: सैंक सान्त कान्त, १,२६५,४०२।

३. शुआन्-चाङ् जोड़ते हैं—"ऐसी कथाएँ अनेक हैं"।

[१२२] ५५ सी. तब भी, उसका उस भूमि से अत्यन्त वैराग्य होता है जिंस भूमि का वह कर्म है।[1]

जब किसी भूमि से (४.५२) किसी का अत्यन्त वैराग्य होता है तो वह उस भूमि में पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये इस भूमि में किन्तु इसरे जन्म में विपच्यमान कर्म अपने स्वभाव को बदलता है और दृष्टधर्म में विपच्यमान होता है, चाहे वह कुशल हो या अकुशल।

५५ डी. विपाक में नियत कर्म।[2]

यह वह कर्म है जो विपाक में नियत है किन्तु विपाक की अवस्था (काल) अनियत है—यह कर्म दृष्टधर्मवेदनीय होता है।

जो कर्म विपाक की अवस्था (काल) में नियत है उसका उसी अवस्थान्तर में विपाक होता है—अवस्थान्तर की जिस भूमि में उसके कर्म का नियत विपाक है, उस भूमि से उस पुद्गल का अत्यन्त वैराग्य असम्भव है।

जो कर्म अनियतविपाक है, वह विपाक नहीं देगा 'यदि पुद्गल का उस भूमि से वैराग्य है जहाँ वह विपच्यमान होता।

कैसा क्षेत्र दृष्टधर्मनियतविपाक का भाव उस कर्म को देता है जो उस क्षेत्र में किया गया है?

[१२३] सामान्यतः भिक्षुसङ्घ जिसके शिरःस्थानीय बुद्ध हैं ऐसा क्षेत्र है। 'यदि पुद्गल गिनाना हो तो ये पुद्गल पाँच प्रकार के हैं अर्थात्—

---

१. तद्भूम्यत्यन्तवैराग्यात्—(व्याख्या ३८४.१७)।

२. =[विपाके नियतं च यत्]

मज्झिम, २.२२०, अङ्गुत्तर, ४.३८२ क्या 'दृष्टधर्मवेदनीय' कर्म 'संपरायवेदनीय' कर्म में परिवर्तित हो सकता है... ?

कर्म प्रज्ञप्ति mdo, ६२,२४६ बी. में इसी प्रश्न की समीक्षा की गई है कि कर्म अष्टविध है— सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय, इष्टधर्मवेदनीय, अपरपर्यायवेननीय, स्वल्पवेदनीय, महत्‌वेदनीय, विपाकारम्भ, अविपाकारम्भ। क्या सुखवेदनीय कर्म वीर्य और प्रयत्न से दुःखवेदनीय कर्म में परिवर्तित हो सकता है? असम्भव...क्या वह कर्म जिसका अभी परिपाक नहीं हुआ है विपाकारम्भ कर्म में परिवर्तित हो सकता है? हाँ और नहीं। कोई इस परिणाम को सम्पन्न करने के लिये केश, श्मश्रु, केश और श्मश्रु वपन करते हैं, विविध मार्गों से और अशुभ कष्ट-तप से अपने को कष्ट देते हैं—वह निराश होते हैं। दूसरे वीर्य और प्रयत्न से स्रोत आपन्न-फल का लाभ करते हैं...।"—"तीन कर्म हैं—दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपरपर्याय वेदनीय। क्या ऐसा होता है कि प्रथम का अनुभव कर अन्य दो का भी अनुभव होता है? हाँ। जब अर्हत्व का लाभ होता है तब अन्य दो कर्मों का विपाक होता है।"

ये निरोधाऽरणामैत्री दर्शनाऽर्हत् फलोत्थिताः ।
तेषु कारापकारस्य फलं सद्योऽनुभूयते ॥५६॥

५६. निरोध-मैत्री-अरणा-सत्यदर्शन अर्हत्फल से व्युत्थित पुद्गल । इनके प्रति किया हुआ उपकार और अपकार सहसा फल देता है ।[१]

जो निरोध समापत्ति से व्युत्थित होता है (२.४१ सी. ८.३३)—इस समापत्ति में योगी ने चित्त की अत्यन्त शान्ति का लाभ किया है क्योंकि यह समापत्ति निर्वाणसदृश है । जब वह व्युत्थित होता है तो ऐसा ज्ञात होता है मानो वह निर्वाण को जाकर प्रत्यागत हुआ है ।

जो अरणा समापत्ति (८.३५ सी.) से जो परकीय क्लेश का निरोध करती है, व्युत्थित होता है—इस समापत्ति में योगी की सन्तति अप्रमाण सत्त्वों को अरणा में प्रतिष्ठित करने के अध्याशय से अनुगत होती है; जब वह व्युत्थित होता है तो उसकी सन्तति अप्रमाण, अत्युदग्र=(तीक्ष्ण) पुण्य से परिभावित होती है ।

जो मैत्रीसमापत्ति (८.२९) से व्युत्थित होता है—इस समापत्ति में उसकी सन्तति अप्रमाण सत्त्वों के सुख के अध्याशय से अनुगत होती है; जब वह व्युत्थित होता है तब उसकी सन्तति अप्रमाण अत्युदग्र पुण्य से परिभावित होती है ।

जो दर्शनमार्ग से व्युत्थित होता है[२]—इस मार्ग में दर्शनहेय सर्वक्लेश का उसने प्रहाण किया है । जब वह व्युत्थित होता है तब उसके अभिनव आश्रय (शरीर) की परिवृत्ति से उसकी सन्तति निर्मल होती है ।

जो अर्हत्फल से व्युत्थित होता है अर्थात् जो अर्हत्फल का लाभ करता है—आर्य-सत्वों की भावना से जिन क्लेशों का प्रहाण होता है उन सब क्लेशों के प्रहाण का वह लाभी होता है । उसकी सन्तति निर्मल है क्योंकि उसके आश्रय की परिवृत्ति होती है ।

[१२४] इसीलिये इन पाँच पुद्गलों के प्रति किये हुए कुशल और अकुशल कर्म, उपकार (कार) और अपकार, दृष्टधर्म में ही फल पाते हैं—विभाषा (१५४,३) ।

जिस शेष भावनामार्ग से सकृदागामिन् और अनागामिन् के फलों का लाभ होता है उस शेष भावनामार्ग का स्वभाव और फल अपरिपूर्ण है । जो पुद्गल इन दो फलों के

---

१. ये निरोधमैत्र्यरणादर्शनार्हत्फलोत्थिताः ।
तेषु कारापकाराणां सहसा वेद्यते फलम् ॥

शुआन्-चाङ् का अनुवाद—"जो पुद्गल भावनामार्ग से व्युत्थान करता है" अर्थात् "जो अर्हत्फल से व्युत्थित होता है" क्योंकि यह फल भावनामार्ग का अन्त निर्दिष्ट करता है ।

२. अर्थात् जो उस समापत्ति से व्युत्थान करता है जिसमें उसने सत्यों का 'दर्शन' किया है—६.२८ (डी) ।

जय से व्युत्थित होते हैं वह उस प्रकार के पुण्यक्षेत्र नहीं होते यथा अर्हत् होते हैं। उनकी सन्तति निर्मल नहीं है; उनके आश्रय की अभिनव परिवृत्ति नहीं हुई है।

विपाक प्रधानतः वेदनात्मक है।

क्या किसी कर्म का विपाक केवल चैतसिकी वेदना होता है, कायिकी वेदना नहीं (२·७)? क्या किसी कर्म का विपाक कायिकी वेदना होता है, चैतसिकी वेदना नहीं ?

कुशलस्यावितर्कस्य कर्मणो वेदना मता।
विपाकश्चैतसिक्येव कायिक्येवाऽशुभस्य तु ॥५७।

५७ ए-सी. अवितर्क कुशल कर्म का विपाक केवल चैतसिकी वेदना है।[1]

ध्यानान्तरभूमिक (जो प्रथम और द्वितीय ध्यान का मध्य है) कर्म (४.४८ बी) और ऊर्ध्वभूमिका कर्म अवितर्क (२,३१,८.२३ सी) होते हैं; क्योंकि कायिकी वेदना अर्थात् पाँच विज्ञानकायों से संप्रयुक्त वेदना अवश्य सवितर्क-सविचार होती है (१.३२)। इसलिये वह अवितर्क कर्म का विपाक-फल नहीं हो सकती।[2]

५७ डी. अकुशल कर्म का फल केवल कायिकी वेदना है।[3]

[१२५] अकुशल कर्म का विपाक-फल दुःखावेदना है; चैतसिकी दुःखावेदना दौर्मनस्येन्द्रिय कहलाती है। हमने यह व्यवस्थित किया है कि दौर्मनस्य कभी विपाक नहीं होता—(२,१० बी-सी)[1]

किन्तु यदि दौर्मनस्य या चैतसिकी दुःखावेदना विपाक नहीं है तो किस चित्त में—चक्षुरादिचित्त, मनश्चित्त में—सत्वों का चैतसिक क्षेप या चित्त-क्षेप होता है जो दुःखावेदना है? और किस कारण के योग से होता है? [स्पष्ट है कि यह अकुशल कर्म का विपाक है]।

चित्तक्षेपो मनश्चित्ते स च कर्मविपाकजः।
भयोपघातवैषम्यशोकैश्चाऽकुरुकामिनाम् ॥५८॥

५८ ए. चित्त-क्षेप मनश्चित्त में उत्पन्न होता है।[2]

'मनश्चित्त' पद। जिसका प्रयोग कारिका करती है, 'मनोविज्ञान' का समानार्थक है। 'मनोविज्ञान', मानसिकविज्ञान', मनस् का विज्ञान है।

---

१. [कुशलस्यावितर्कस्य विपाकः कर्मणो मता। वेदना चैतसिक्येव]

२. वास्तव में अवितर्क कर्म का विपाक अधरभूमिक सवितर्क विचार नहीं हो सकता—(व्याख्या ३९५.२०)।

३. =[अकुशलस्य तु कायिकी]

१. विभाषा, ११५,९ दौर्मनस्य मनस्कार से उत्पन्न होता है, इसका अधिमात्र विकल्प होता है, यह वैराग्य से प्रहीण होता है—विपाकफल से ऐसा नहीं होता।

२. =चित्तक्षेपो [मनश्चिचत्ते]।—चित्तक्खेप=उम्माद (अङ्गुत्तर)

५. विज्ञानकाय क्षिप्त नहीं हो सकते क्योंकि वह अविकल्पक हैं; अभिनिरूपण और अनुस्मरण विकल्प से रहित हैं और चित्त-क्षेप असद्विकल्प (१.३३) है।

५८ बी. यह कर्म विपाक से उत्पन्न होता है।[३]

चित्त-क्षेप कर्मविपाक से उत्पन्न होता है।

जो परकीय चित्त को कुहक और मन्त्र से क्षिप्त और कुपित करता है; जो उनको विष या सुरा का पान कराता है, जो पान करना नहीं चाहते; जो आखेट में या दावाग्नि[४] से या कूटद्वार खन कर मृगव्य को भयभीत करता है या जो अन्य किसी प्रकार से दूसरे स्मृति और संप्रजन्य को क्षिप्त करता है, इन कर्मों के विपाकवश उसका चित्त-क्षिप्त होगा, उसकी स्मृति भ्रष्ट होगी (भ्रष्टस्मृतिकं चित्तं वर्तते)।[५]

[१२६] ५८ सी-डी. भय, उपद्रव, विकोप, शोक से।[१]

१. अशुभ, प्राकार के अमनुष्य[२] पास आते हैं, उनको देखकर सत्व भयभीत होता है और उसका चित्त-क्षिप्त होता है।

२. सत्वों के दुश्चरित से कुपित होकर अमनुष्य मर्मस्थान पर आघात करते हैं।

३. काय के महाभूतों का प्रकोप होता है; वात, पित्त और कफ क्षुब्ध होते हैं।

४. शोक भी चित्त को क्षिप्त करता है, यथा वासिष्ठी प्रभृति।[३]

किन्तु यह कहा जायगा कि यदि चित्त-क्षेप या मनोविज्ञान का क्षेप कर्म विपाक से उत्पन्न होता है तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि चैतसिकी वेदना विपाक नहीं है?

---

३. = स च कर्मविपाकजः।

४. दावस्तृणादिगहनाचितो देशविशेष—(व्याख्या ३९६.२)।

५. परमार्थ जोड़ते हैं—"और दूसरे कारण हैं।"

शुआन् चाङ्—"चित-क्षेप ५ कारणों से होता है—१ विपाक २ भय ३ उपद्रप...।"

१. भयोपद्रवविकोपशोकैः।—उपद्रव प्रेतादि का आक्रमण और इससे जो अपकार होता है, जातकमाला, ४१,१५ से तुलना कीजिये विभाषा, १२६,८ के अनुसार।

२. अमनुष्यों पर कोश ४.७५ सी-डी, ९७ बी; ३.९९ सी-डी। कारणप्रज्ञप्ति, पृ० ३४४ बुद्धिस्ट कास्मालोजी [दीघ ३.२०३ मिलिन्द, पृ० २०७, सुखावती व्यूह ३९. शिक्षा-समुच्चय, पृ० ३५१।

अभिसमयालङ्कारालोक (अष्टसाहस्रिका ३८३ पर) प्रतादिरमनुष्यः। पाणिनि, २.४,२३।

३. व्याख्या (३९६.३) में सूत्र उद्धृत है—भगवान् मिथिलिकायाम् (?) विहरति मिथिलाम्रवने। तेन खलु पुनः समयेन वसिष्ठसगोत्राया ब्राह्मण्याः षट्पुत्राः कालगताः। सा तेषां कालक्रियया नग्नोन्मत्ता क्षिप्तचित्ता तेन तेनानुहिंडति...। इत्यादि यावत् सप्तमपुत्र

[१२७] हम यह नहीं कहते कि चित्त-क्षेप—क्षिप्तचित्त—विपाककर्म से उत्पन्न होता है किन्तु यह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है। महाभूतों का प्रकोप विपाक है। क्षिप्तचित्त उसमें सञ्जात होता है, इसलिये यह विपाकज है। जब दोषों के कर्मज वैषम्य या क्षोभ से चित्त का प्रकोप होता है, चित्त अस्वतन्त्र (?) होता है, चित्त भ्रष्टस्मृतिक होता है, तब कहा जाता है कि चित्त क्षिप्त है।

चार कोटि हैं—१. विक्षिप्त बिना हुए क्षिप्त चित्त—अक्लिष्ट किन्तु क्षिप्त चित्त; २. बिना क्षिप्त हुए विक्षिप्त चित्त—क्लिष्ट किन्तु शान्त; प्रकृतिस्थ (=स्वस्थ ?) चित्त; ३. क्षिप्त और विक्षिप्त चित्त; [४. न क्षिप्त, न विक्षिप्त, चित्त]।

चित्त-क्षेप का उत्पाद किसमें होता है ?

५८ डी. कुरुओं को छोड़कर कामधातु के सत्वों में।[1]

कामधातु के देवों में उन्मत्तक देव होते हैं; इसलिये मनुष्यों में, प्रेतों में, पशुओं में उन्मत्तक होने का और भी कारण है।

नारकों का चित्त सदा क्षिप्त होता है, उनके मर्मस्थान विविध प्रकार के सहस्रों कष्टों से निरन्तर पीड़ित होते हैं, वह दुःख से परिपीड़ित (परिनुन्न=परिपीड़ित) होते हैं; वह अपने को नहीं जानते, इसलिये उनमें कर्तव्य-अकर्तव्य की बुद्धि के न होने का और भी

के कालगत होने पर अपने भर्ता के साथ उसका संलाप हुआ—"पहले तुम पुत्रमरण से परितप्त हुई थीं; अब तुम परिस नहीं हो। निश्चय ही तुमने अपने पुत्रों को खा लिया है (नूनम् पुत्रास्त्वया भक्षिताः)"। उसने उत्तर दिया (थेरीगाथा, ३१४. से तुलना कीजिये।

पुत्रपौत्रसहस्राणि ज्ञातिसंघशतानि च।
दीर्घेऽध्वनि मया ब्रह्मन् खादितानि तथा त्वया॥
पुत्रपौत्र सहस्राणां परिमाणं न विद्यते।
अन्योन्यं खाद्यमानानां तासु तासूपपत्तिषु॥
कः शोचेत् परितप्येत परिदेवेत वा पुनः।
ज्ञात्वा निःसरणं लोके जातेश्च मरणस्य च॥
साहं निः सरणं ज्ञात्वा जातेश्च मरणस्य च।
न शोचामि न तप्यामि कृते बुद्धस्य शासने॥ —(व्याख्या ३९६.२४)

सूत्रालङ्कार के जिस सुन्दर अंश में भगवत् अपने उपदेश के सार्वत्रिक भाव की प्रशंसा करते हैं वहाँ 'वासिष्ठी' (न कि वासिष्ठ) पढ़िये। सूत्रालङ्कार, ह्यूबर का अनुवाद, पृ० २०५। सिलवाँ लेवी, अश्वघोष और सूत्रालङ्कार, ६४; व्याख्या में उद्धृत सूत्र संयुक्त, टोकियो, १३·४, ५२ ए और ५,२९ ए, है।

[1] =[अकुरुणीषु।]

कारण है। हम यहाँ उस नारक का उदाहरण देते हैं जो 'हा! चित्त' कहकर विलाप करता है।[२]

बुद्ध को छोड़कर अन्य आर्य चित्त-क्षेप से विमुक्त नहीं हैं। उनका चित्त भूतों के वैषम्य से भी क्षिप्त हो सकता है। किन्तु उनके भूतों का वैषम्य विपाक नहीं होता क्योंकि 'नियत' कर्म जिनका विपाक चित्त-क्षेप का उत्पाद कर सकता था, मार्ग-लाभ के पूर्व ही विपच्यमान होते हैं और 'अनियत' कर्म का विपाक इसका कारण नहीं है क्योंकि मार्ग का लाभ हुआ है।

[१२८] भय, अमनुष्यों का उपद्रव या शोक, इनमें से कोई भी आर्यों के चित्त को क्षिप्त नहीं कर सकता क्योंकि उन्होंने पाँच[१] भयों का समतिक्रम किया है, वह कोई अप्रसादिक कर्म नहीं करते जो अमनुष्यों का क्रोध उत्तेजित करें, वह धर्मता से अभिज्ञ हैं।[२]

सूत्र का उपदेश है कि तीन कौटिल्य हैं—कायकौटिल्य, वाक्कौटिल्य और चित्त-कौटिल्य; और तीन दोष तथा तीन कषाय हैं।

वङ्कादोषकषायोक्तिः शाठ्यद्वेषाजरागजे।
कृष्णशुक्लादिभेदेन भवेत्कर्म चतुर्विधम् ॥५९॥

५९ ए-बी, जिसे कौटिल्य, दोष, कषाय[३] कहते हैं वह, वह कर्म है जो शाठ्य, द्वेष, राग से उत्पन्न होता है।

जो कायकर्म, वाक्कर्म या चित्त-कर्म, शाठ्य से उत्पन्न होता है वह कुटिलहेतुक (कुटिलान्वय, व्याख्या ३९७·१८) होने से कौटिल्य (५·५० बी) कहलाता है; जो कर्म द्वेष से उत्पन्न होता है वह द्वेषहेतुक होने से दोष कहलाता है; जो कर्म राग से उत्पन्न होता है वह रञ्जनहेतुक होने से कषाय कहलाता है।[४]

---

२. हा चित्तपरिदेवक--(व्याख्या ३९७.६)।

१. पाँच भय हैं--आजीविका भय, अश्लोकभय (=अकीर्ति) परिषच्छारद्यभय (=सभायाम् सङ्कुचित्यम्) मरणभय, दुर्गतिभय (व्याख्या ३९७.१२) (विभाषा ७५,२)। माध्यमिकवृत्ति, पृ० ४६ देखिये। धर्मसंग्रह, ७१ के पाठ विचित्र हैं।

२. धर्मताभिज्ञत्वात् (व्याख्या ३९७.१५)—"सर्व साम्रव दुःख है, सर्व संस्कार अनित्य हैं, सर्व धर्म अनात्म हैं।"

३. =[कौटिल्यदोषकषायोक्तम् शाठ्यद्वेषरागजम्।]

ज्ञानप्रस्थान, ११,६ के अनुसार; विभाषा, ११७,९ विभङ्ग, ३६८ में, राग, द्वेष और मोह 'कसाव' हैं। किन्तु अङ्गुत्तर, १·११२ वङ्क, दोस और कसाव में भेद करता है।

४. कषाय राग के समान रञ्जनहेतु है। राग 'प्रतिबद्ध' होता है और 'रञ्जन' करता है (रञ्जयति)।

१५

५९ सी-डी. शुक्ल, कृष्णादि भेद से कर्म चतुर्विध है।[५]

[१२९] सूत्र[१] की शिक्षा है कि कर्म चार प्रकार का है; कृष्ण, कृष्णविपाक; शुक्ल, शुक्लविपाक; कृष्ण-शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल-विपाक, अकृष्ण-अशुक्ल, जिसका विपाक कृष्ण या शुक्ल नहीं है और जो अन्य कर्मों का विनाश करता है।

अशुभं रूपकामाप्तं शुभं चैव यथाक्रमम्।
कृष्णशुक्लोभयं कर्म तत् क्षयाय निरास्रवम् ॥६०॥

६०. अशुभ कर्म, रूपाप्त शुभकर्म, कामाप्त शुभकर्म यथाक्रम कृष्ण, शुक्ल, कृष्णशुक्ल हैं; जो अन्य कर्मों का क्षय करता है वह अनास्रव कर्म है।[२]

१. अशुभ कर्म क्लिष्ट होने से एकान्त कृष्ण है; उसका विपाक अमनोज्ञ होने से कृष्ण है।

२. रूपावचर शुभकर्म अशुभ से व्यवकीर्ण न होने से एकान्त शुक्ल है; उसका विपाक मनोज्ञ होने से शुक्ल है। (ऊपर पृ० १०७ में आनिञ्ज्य कर्म देखिये)।

आक्षेप—आरूप्याप्त शुभ कर्म का उल्लेख क्यों नहीं है? क्योंकि एक[३] कहते हैं कि 'शुक्ल' केवल उसी कर्म का विशेषण होता है जिसका विपाक द्विविध है (आन्तराभविक, औपपत्तिभविकविपाक[४]—व्याख्या ३९७·२४) और जो त्रिविध है, जो कायिक, वाचिक और मानसिक है। आरूप्याप्त कर्म के यह लक्षण नहीं हैं; किन्तु सूत्रान्तर में आरूप्याप्त कर्म को शुक्ल और शुक्लविपाक कहा है।[५]

३. अकुशल से व्यतिभिन्न होने के कारण कामाप्त शुभकर्म कृष्ण-शुक्ल है। उसका विपाक व्यतिमिश्र है इसलिये यह कृष्ण-शुक्ल है।

[१३०] यह व्याख्यान कर्म के अपने स्वभाव की दृष्टि से नहीं, किन्तु 'सन्तान'

---

५. = [कृष्णशुक्लादिभेदेन कर्म भवेच्चतुर्विधम्]

१. मध्यम, २७,१२; विभाषा, ११४,१; अङ्गुत्तर, २·२३०; दीघ, ३·२३०; अत्थसालिनी, पृ० ८९ मेत्तिप्पकरण: १५८,१८४, अङ्गुत्तर, ३·३८५ मज्झिम, १·३८९; अकण्हं असुक्कं निब्बानं अभिजायति।

२. [अशुभं रूप] कामाप्त [शुभमेव यथाक्रमम्।
कृष्णशुक्लोभयं कर्म तत्क्षयकृदनास्रवम् ॥]
योगसूत्र, ४.७ से तुलना कीजिये।

३. यह तृतीय आचार्यों का उत्तर है, विभाषा, ११४,४

४. एक ही कर्म उपपत्तिभव और अन्तराभव का 'आक्षेप' करता है। अन्तराभव उपपत्तिगामी है (३·१३ ए-बी)। आरूप्योपपत्ति के पूर्व कोई अन्तराभव नहीं होता।

५. व्याख्या (३९७·२९) सूत्र उद्धृत करती है—अस्ति कर्म शुक्लम् शुक्लविपाकं तद्यथा प्रथमेध्याने, एवं यावद् भवाग्रे।

या आश्रय की दृष्टि के व्यवस्थापित होता है। एक ही चित्त-सन्तान में कुशलकर्म अकुशलकर्म के साथ व्यवकीर्ण होता है। कोई कर्म नहीं है जो कृष्ण-शुक्ल है, न कोई विपाक है जो कृष्ण-शुक्ल है। यदि ऐसा हो तो अन्योन्य विरोध होगा।[१]

आक्षेप—किन्तु अशुभ कर्म शुभ कर्म से भी व्यवकीर्ण होता है, इसलिये अशुभ कर्म का व्याख्यान कृष्ण-शुक्ल करना चाहिये—हमारा उत्तर है कि अकुशल अवश्यमेव कुशल से व्यवकीर्ण नहीं होता; किन्तु कामधातु में शुभकर्म अवश्यमेव अशुभ कर्म से व्यवकीर्ण होता है क्योंकि इस धातु में अकुशल कुशल से बलवान् है।[२]

४. अनास्रव कर्म अन्य तीन कर्मों का क्षय करता है। अक्लिष्ट होने से यह कृष्ण नहीं है; इसका विपाक न होने से[३] यह शुक्ल नहीं है, यह अशुक्ल है।

सूत्र का यह 'अशुक्ल' शब्द आभिप्रायिक है। भगवत् अनास्रव कर्म को शुक्लकर्म के विपक्ष में रखते हैं; किन्तु महाशून्यतासूत्र[४] के अर्हत् के (अशैक्ष के) धर्मों का वर्णन करते हुए वह इस प्रकार कहते हैं—"हे आनन्द! अर्हत् के धर्म एकान्त शुक्ल, एकान्त कुशल, एकान्त अनवद्य हैं।" और शास्त्र[५] में यह पठित है कि "शुक्लधर्म कौन हैं? कुशल धर्म और अनिवृत्ताव्याकृत धर्म।"

अनास्रव कर्म का विपाक नहीं होता क्योंकि यह धातुपतित नहीं है। वास्तव में यह प्रवृत्ति का विरोध करता है।[६]

[१३१] क्या यह आवश्यक है कि सब अनास्रव कर्म कृष्ण, शुक्ल, कृष्णशुक्ल, इन तीन पहले प्रकार के सब कर्मों का क्षय करें?

---

१. ४.१ देखिये—सन्तानत एतद् व्यवस्थानमिति एकस्मिन् सन्ताने कुशलं चाकुशलं च समुदाचरतीति कृत्वा कुशलमकुशलेन व्यवकीर्यते—(व्याख्या ३९७.३१)। व्यतिमिश्रण के इस वाद के परिणामों पर अङ्गुत्तर, १.२४९ (वारन से अनूदित पृ०, २१८) देखिये।

२. लक्षण के अनुसार कामधातु में अकुशल के प्रतिपक्षभूत समाधि का अभाव होता है। केवल कामधातु में मिथ्यादृष्टि से कुशलमूल का समुच्छेद होता है किन्तु सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि का समुच्छेद नहीं हो सकता।

३. थेरवादिन्, कथावत्थु ७.१०, का मत है कि 'लोकोत्तर' कर्म का विपाक होता है।

४. भाष्य में 'महत्यां शून्यतायाम्' है अर्थात्' महाशून्यतार्थं सूत्र' (व्याख्या ३९८.९)। मध्यम, ४९; एकान्तशुक्ला आनन्द-अशैक्ष-धर्मा एकान्तानवद्या...। मज्झिम ३.११५ समकक्ष नहीं है)

५. प्रकरण, ६.९ विभाषा, ११४.१ शुक्लकर्माः कतमे। कुशलाधर्मा अव्याकृताश्च धर्माः।

६. अविपाकं धात्वपतितत्वात् प्रवृत्तिविरोधतः। (व्याख्या ३९८.१०) अनास्रवधर्म न धातु हैं, न धातुपतित हैं (न धातुर्न धातुपतिताः)। जो प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है (जनयति) और उसका विरोध करता है (विरुणद्धि) इस पर २.६ देखिये।

नहीं।

धर्मक्षान्तिषु वैराग्ये चानन्तर्यपथाष्टके।
या चेतना द्वादशधा कर्म कृष्णक्षयाय तत् ॥६१॥

६१. द्वादशविध चेतना—अर्थात् धर्मक्षान्ति की चेतना और कामधातु-वैराग्य में पहले आठ आनन्तर्यमार्ग की चेतना—यह कर्म कृष्णकर्म का क्षय करता है।[1]

चार चेतनाएँ जो दर्शनमार्ग की चार धर्मक्षान्तियों के समकक्ष हैं, आठ चेतनाएँ जो कामधातु-वैराग्य में पहले ८ आनन्तर्यमार्ग के समकक्ष हैं, यह कुल मिलाकर १२ चेतनाएँ हैं जो उतने ही अनास्रव कर्म हैं जो कृष्णकर्म का क्षय करते हैं।

नवमे चेतना या सा कृष्णशुक्लक्षयाय च।
शुक्लस्य ध्यानवैराग्येष्वानन्तर्यमार्गजा ॥६२॥

६२ ए-बी. नवम की जो चेतना है वह, वह कर्म है जो कृष्ण-शुक्ल का क्षय करता है।[2]

कामधातुवैराग्य में नवम आनन्तर्यमार्ग की समकक्ष चेतना वह अनास्रव कर्म है जो कृष्ण-शुक्ल कर्म और कृष्ण कर्म का प्रहाण करता है, क्योंकि इस क्षण में कामधातु के कुशलकर्म का (जो कृष्ण-शुक्ल है) और नवम तथा अन्तिम प्रकार के अकुशल कर्म का सर्वथा प्रहाण होता है।

६२ सी-डी. ध्यानवैराग्य के अन्तिम आनन्तर्यमार्गों में उत्पन्न चेतना कुशलकर्म का क्षय करती है।[3]

[१३२] नवम और अन्तिम आनन्तर्यमार्ग की चेतना जो प्रत्येक ध्यान से वैराग्य उत्पन्न करती है—चतुर्विध चेतना जो शुक्लकर्म का क्षय करती है।

आक्षेप—कामधातुवैराग्य में पहले आठ आनन्तर्यमार्ग कृष्णकर्म का क्षय करते हैं। किन्तु आप केवल नवम आनन्तर्यमार्ग को कृष्ण-शुक्ल और शुक्ल (कुशल सास्रव-कर्म) कर्मों के क्षय में समर्थ बताते है। क्यों? कुशलधर्मों का स्वभावप्रहाण नहीं होता क्योंकि प्रहीण कुशलधर्म का भी सम्मुखीभाव हो सकता है; किन्तु जब उस क्लेश का प्रहाण होता है

---

१. [धर्मक्षान्तिकामवैराग्यानन्तर्यपथाष्टसु।
कृष्णस्य क्षयकृत् कर्म द्वादशविधचेतना ॥]

मार्ग का प्रत्येक क्षण एक चित्त-सामग्री है जिसमें अन्य चैत्तों के साथ चेतना होती है। ४.१बी के लक्षण के अनुसार यह चेतना कर्म है। चार धर्मक्षान्ति, ६.२५ सी. कामधातु से वैराग्य, ६.४९।

२. =[कृष्णशुक्लस्य क्षयकृद्या न वयस्य-चेतना।]

३. =शुक्लस्य ध्यान वैराग्येष्व [आनन्तर्य पथान्त्यजा ॥]—(व्याख्या ३९८,२१)

जिसका यह धर्म आलम्बन है तब कहा जाता है कि यह धर्म प्रहीण हुआ है। इसलिये जब तक इस अन्तिम क्लेश प्रकार का प्रहाण नहीं होता जो उसको आलम्बन बना सकता है तब तक यह कुशलधर्म प्रहीण नहीं समझा जाता। [यह नवम आनन्तर्यमार्ग है जो प्रत्येक भूमि के (कामधातु, ध्यान) क्लेश के नवम प्रकार की प्राप्ति का छेद करता है और इसलिये इसके कारण विसंयोग २.५७ डी. की प्राप्ति होती है[1]]

अन्ये नरकवेद्यान्यत् कामवेद्यं द्वयं विदुः ॥
दृग्हेयं कृष्णम् अन्येऽन्यत् कृष्णशुक्लं तु कामजं ॥६३॥

६३ ए-बी. दूसरों के अनुसार प्रथम दो कर्मों का विपाक नरक में और इससे अन्यत्र कामधातु में होता है।[2]

अन्य आचार्यों के अनुसार (विभाषा, ११४,२) नरकवेदनीय कर्म कृष्णकर्म है; नरक से अन्यत्र कामधातु में वेदनीय कर्म कृष्ण-शुक्ल कर्म है।

[१३३] नारकीय विपाक एकान्ततः अकुशल कर्म से उत्पन्न होता है। इसलिये जो कर्म नरकवेदनीय है वह कृष्णकर्म है। नरक से अन्यत्र कामधातु में जो विपाक होता है वह एकान्ततः कुशल-अकुशल कर्म से (अर्थात् अकुशल कर्म से व्यवकीर्ण कुशल कर्म से) उत्पादित होता है; फलतः यह कर्म कृष्ण-शुक्ल कहलाता है।

६३ सी-डी. दूसरों के अनुसार कामज कर्म कृष्ण होते हैं जब वह दर्शनहेय होते हैं। अन्य कर्म कृष्ण-शुक्ल हैं।[1]

दूसरे आचार्यों के अनुसार (विभाषा ११४,४) जो कर्म दर्शनहेय है वह कुशल[2]

---

१. न हि तस्य (कुशलस्य) स्वभावप्रहाणमिति प्राप्तिच्छेदः प्रहाणम्। प्रहीणस्यापि कुशलस्य सम्मुखीभावात्। तदालम्बनक्लेशस्य प्रहाणात् तस्य कुशलस्य प्रहाणं भवति। तदालम्बनक्लेशप्रहाणं च नवमस्य तदालम्बनक्लेशप्रकारस्य प्रहाणे सति भवतीति नवमानन्तर्य-मार्गचेतनैव कृष्णशुक्लस्य कर्मणः क्षयाय भवति। तदा हि नवमस्य क्लेशप्रकारस्य प्राप्तिच्छेदे विसंयोगप्राप्तिरुत्पद्यते। तस्य च कृष्णशुक्लस्य कर्मणोऽन्यस्यापि चानिवृताः व्याकृतस्य सास्रवस्य धर्मस्य विसंयोगप्राप्तिरुत्पद्यते—(व्याख्या ३९८,२४)

२. =नारकीयं (नरके वेद्यम्) अन्ये कामेऽन्यत्र वेद्यं द्वयं विदुः]

१. दृग्हेयं कृष्णं [अन्ये] ऽन्यत् कृष्णशुक्लं तु कामजम् [व्या० ३९९.९] अक्षरार्थ—"दर्शनहेय कर्म कृष्ण हैं; प्रत्येक अन्य कर्म जब कामज होता है कृष्ण-शुक्ल होता है।" आक्षेप—'कामावचरं दृग्हेयं कृष्णम्' कहना चाहिये "कामावचर कर्म जो दर्शनहेय है कृष्ण है"; वास्तव में दर्शनहेय कर्म हैं जिनका विपाक कृष्ण नहीं है, अर्थात् रूप और आरूप्यावचर के कुछ कर्म। उत्तर—विशेषण 'कामज' (अर्थात् कामावचर) प्रथम पाद से सम्बन्ध रखता है।

२. 'न दृष्टिहेयमक्लिष्टम्' इस नियम के अनुसार १.४० सी-डी.

से मिश्र न हाने के कारण कृष्ण है। कामावचर का प्रत्येक अन्य कर्म अर्थात् वह कर्म जो भावनाहेय है, कृष्ण-शुक्ल है अर्थात् अकुशलव्यतिभिन्न कुशल है।

सूत्रवचन है कि " तीन मौनेय हैं—कायमौनेय, वाक्मौनेय, मनोमौनेय।"[३]

अशैक्षं कायवाक्कर्म मनश्चैव यथाक्रमम्।
मौनत्रयं त्रिधा शौचं सर्वसुचरितत्रयं ॥६४॥

६४ ए-सी. अशैक्ष अर्थात् अर्हत् के वाक्कर्म, कायकर्म और मन यथाक्रम तीन मौन हैं।[४]

[१३४] जिसे कायमौन वाङ्मौन कहते हैं वह अर्हत् का कायकर्म, वाक्कर्म है।[१] जिसे मनोमौन[२] कहते हैं वह अर्हत् का मन, चित्त है—यह मन कर्म नहीं है। क्यों? क्योंकि चित्त ही परमार्थमुनि है।[३] वैभाषिक कहते हैं कि काय-वाक्कर्म से अनुमान किया जाता है कि चित्त ऐसा है, चित्त अशैक्ष है।[४]

किन्तु हम कहेंगे कि अशैक्ष के कायकर्म वाक्कर्म का स्वभाव 'विराति, है, किन्तु

---

३. मध्यम, ५,४; अङ्गुत्तर, १.२७३; दीघ, ३.२२०। सुत्तनिपात, ७००, महावस्तु, ३,३८७—'मोनेय' मुनिभाव या मुनिकर्म है (मुनिता वा मुनिकर्म वा, व्याख्या ३९९,१८); चिल्डर्स (परिशिष्ट, पृ० ६१७) 'एक मुनि के उपयुक्त चरित्र मुनि' ऋग्वेद १०.१३६.३ 'कर्नल-जेकब, कानकार्डन्स, पृ० ७४८ देखिये, उपनिषद् और गीता में मुनि के अर्थ के लिये।

४. अशैक्षम् काय [वाक्] कर्म मन एव [यथाक्रमम्]।
मौनत्रयम्। मौन का अर्थः मुनेरिदम् मौनम्।
बोधिचर्यावतार, पृ० ३४६ बताता है कि बुद्ध को मुनि क्यों कहते हैं—मौनत्रय, जैसा यहाँ व्याख्यात है या समारोप और अपवाद का मौन।

१. उन सब कायिक और वाचिक कर्मों का प्रश्न नहीं है जिन्हें अर्हत् कर सकता है किन्तु उन कर्मों का प्रश्न है जिनके कारण वह अर्हत् या अशैक्ष स्वभाव का होता है (६.४५)। यह कर्म अविज्ञप्ति स्वभाव है। इसलिये कायमौन अर्हत् की काय-अविज्ञप्तिविशेष है। विज्ञप्ति कर्म (कायविज्ञप्ति, वाग्विज्ञप्ति) अवश्यमेव सास्रव हैं और इनका अशैक्षत्व नहीं है (ऊपर, पृ० २३ के नीचे देखिये)।

२. मन एव मनोमौनम् (व्याख्या ३९९.२३)। यहाँ मौन=मुनि, 'स्वार्थे वृद्धिविधानम्' इस नियम के अनुसार।

३. चित्तं हि परमार्थमुनिः—(व्याख्या ३९९.२३)।

४. इस सूत्र के अनुसार—कथं तथागतोऽनुयातव्यः। प्रशान्ते न कायकर्मणा प्रशान्तेन वाक्कर्मणा—(व्याख्या ३९९.२५)।

मानस का कर्म स्वभाव 'विरति' का नहीं है, क्योंकि चित्त की अविज्ञप्ति नहीं होती।[५] किन्तु 'मौन' का अर्थ विरम,विरति है; इसलिये विरत मन ही मौन कहलाता है।

अशैक्ष के मन को ही यह संज्ञा क्यों देते हैं? क्योंकि अर्हत सर्वक्लेश-जल्प की उपरति के कारण (सर्वक्लेशजल्पोपरतेः) परमार्थ-मुनि है—व्याख्या ३९९-३१ (वितथालम्बनजल्पनात् क्लेशाजल्पा इत्युच्यन्ते)

सूत्रवचन है—"तीन शौचेय हैं—कायशौचेय, वाग्शौचेय, मनःशौचेय"।[६]

[१३५] ६४ सी-डी. सर्व सुचरितत्रय त्रिविध शौच है।[१]

सब काय सुचरित, सास्रव हों या अनास्रव, कायशौच हैं क्योंकि तावत् काल के लिए हो या आत्यन्तिक, वह क्लेश और दुश्चरित के मल का अपकर्षण करते हैं (दुश्चरित-मलापकर्षक—व्याख्या—४००,३)। वाक्सुचरित और मनःसुचरित के लिये भी ऐसा ही है।

यह शिक्षा उनके विवेचन के लिये है जो मिथ्या मौन को मौन मानते हैं और मिथ्या शौच को शौच मानते हैं।[२]

---

५. चिन्ताविज्ञप्त्यभावात्—(व्याख्या ३९९,२८)। परमार्थ का मतभेद है—"कायकर्म और वाक्कर्म का स्वभाव विरति है। मनःकर्म केवल चेतना है। क्योंकि इसमें विज्ञप्ति नहीं होती इसलिये कोई अनुमान से यह जानकर कि यह विरति है यह नहीं कह सकता कि यह मौन है।"

६. मध्यम, ५,१९; अङ्गुत्तर, १.२७२, दीघ ३.२१९—तीणि सोचेय्यानि कायसोचेय्यं वचीसोचेय्यं मनोसोचेय्यं।

१. =[त्रिधा शौचम्] सर्वसुचरित [त्रयम् ॥]

२. मिथ्यामौन शौचाधिमुक्तानां विवेचनार्थमेतानि (व्याख्या ४००·५)—विवेचन, ह्यूनत्सांग प्रच्यावन, रोकना—उन लोगों को इस दृष्टि से हटाना जो मानते हैं कि तूष्णीं भावमात्र से शुद्धि का लाभ होता है (शुद्धिदर्शिन्) या जो कायमल के अपकर्षण से ही शुद्धि मानते हैं।

"मिथ्यामौन" और "आर्यों के मौन" पर थेरगाथा, ६५०, सुत्तनिपात, ३८८, संयुत्त, २·२७३; अङ्गुत्तर, ४·१५३,३५९, ५·२६६, महावग्ग, ४,१·१३; वनपर्वत्, ४२·६०; मौनान्नसो मुनिर्भवति।

स्नान पर, थेरीगाथा, २३६, उदान, १·९ (उदानवर्ग ३३·१४), मज्झिम, १·३९; आर्यदेव, चित्तविशुद्धिप्रकरण।

कोश, ४.८६ एं-सी (उपासकों की कौतुकमङ्गलादिदृष्टि), ५·७,८ (शीलव्रत)। मत्स्य विशुद्ध होंगे...बधिर और अन्य आर्य होंगे; मज्झिम, ३.४९८, यैकोबी, जैनसूत्र, २,२५३, चित्तविशुद्धप्रकरण।

सूत्रवचन[३] है कि दुश्चरित तीन हैं।—

अशुभं कायकर्मादि मतं दुश्चरितत्रयं।
अकर्मापि त्वभिध्यापि मनोदुश्चरितं त्रिधा ॥६५॥

६५ ए-बी. कायिक, वाचिक और मानसिक अशुभ कर्म तीन दुश्चरित माने जाते हैं।[४]

कायिक अशुभ कर्म कायदुश्चरित हैं और इसी प्रकार अन्य।[५]

[१३६] ६५ सी-डी. अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि यद्यपि कर्म नहीं हैं तथापि त्रिविध मनोदुश्चरित हैं।[१]

पुनः तीन मनोदुश्चरित हैं जो स्वभाववश मनस्कर्म नहीं हैं[२]—अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि।

दार्ष्टान्तिक[३] कहते हैं कि अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि वास्तव में मनस्कर्म हैं क्योंकि संचेतनीय सूत्र में[४] उनको कर्म कहा है।

वैभाषिक—इस पक्ष में क्लेश और कर्म का ऐक्य होगा।

---

[३] संयुक्त, १४,४; दीघ ३·२१४, अङ्गुत्तर, १.४९, ५२ आदि; संयुत्त ५·७५।

[४]· =[कायिकादिकं अशुभं दुश्चरितत्रयम् मतम्]

[५]· अकुशल चेतना या मन का अकुशल कर्म मन का दुश्चरित है।

[१]· =अक्रियमप्यभिध्यादि मनोदुश्चरितम् त्रिधा ॥]

[२]· मनःकर्म चेतनामात्र है, ४·१ बी।

[३] दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिकविशेषा इत्यर्थः (व्याख्या ४००·१७) ४·७८ सी-डी देखिए जहाँ इस वाद को सौत्रान्तिकों का बताया है। यह शास्त्रार्थ विभाषा, ११३,१४ से लिया गया है। एच. टी. के पाठ में दार्ष्टान्तिक है किन्तु विभाषा, ११३ पृ० ५८७ में 'विभंज्यवादिन्' है।

[४]· मध्यम, १८,१४; अङ्गुत्तर, ५ २९२, मज्झिम, ३·२०७ से तुलना कीजिये। हमारे सूत्र का यह पाठ है—सञ्चेतनीयं कर्म कृत्वोपचित्य नरकेषूपपद्यते। कथं च भिक्षवः सञ्चेतनीयं कर्मकृतम् भवत्युपचितम्। इह भिक्षव एकत्यः सञ्चिन्त्य त्रिविधं कायेन कर्म करोत्युपचिनोति चतुर्विधम् वाचा त्रिविधं मनसा...। कथं भिक्षवस्त्रिविधं मनसा सञ्चेतनीयम् कर्म कृतम् भवत्युपचितम्। इहैकत्योऽभिध्यालुर्भवति व्यापन्न चित्तो यावत् मिथ्यादृष्टि [क] खलु भिक्षव इहैकत्यो भवति विपरीतदर्शी...(व्याख्या ४००·९)।

इस सूत्र में अभिध्यादिव्यतिरिक्त अन्य मनस कर्म उक्त; नहीं है; इसलिये अभिध्यादि ही मनस्कर्म हैं।

दार्ष्टान्तिक—इसमें आप क्या दोष देखते हैं ?

वैभाषिक—यह स्वीकार करना कि क्लेष कर्म है, सूत्र और सूत्रवर्णित कर्म के लक्षण (४ १ बी.) का विरोध करता है। जिस सञ्चेतनीय सूत्र को आप उपस्थित करते हैं, उसमें 'अभिध्या' से चेतना को ही दिखाया है क्योंकि चेतना अभिध्यामुख से प्रवृत्त होती है।

क्योंकि उनका दुःखविपाक है और सत्पुरुष द्वारा वह गर्हित हैं, इसलिये काय वाक् और मन के यह चरित अकुशल हैं। इसलिये इनको दुश्चरित कहते हैं।

विपर्ययात्सुचरितं तदौदारिकसंग्रहात्।
दशकर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाशुभाः ॥६६॥

[१३७] ६६ ए. सुचरित इसके विपरीत है।[1]

दुश्चरित का विपर्यय सुचरित है। काय, वाक्, मन के शुभ कर्म; पुनः अनभिध्या, अव्यापाद और सम्यग्दृष्टि।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि कैसे यथाक्रम अकुशल, कुशल माने जा सकते हैं ?[2] वास्तव में प्रथम में परोपघात की अभिसन्धि का अभाव है और द्वितीय में परानुग्रह की अभिसन्धि का अभाव है। (परानुग्रहोपघाताभिसन्ध्यभाव—व्याख्या ४००.२५)।

निस्सन्देह, किन्तु वह इस द्विविध अभिसन्धि के मूल हैं।

६६ बी-डी. इन चरितों में से औदारिकों का संग्रह कर दस कर्मपथ कहे गये हैं जो यथायोग कुशल और अकुशल हैं।[3]

सूत्र में १० कर्मपथ कहे गये हैं : कुशलपथ—सुचरितों में से सब से गुरु और अत्यौदारिक को लेकर; अकुशल पथ—दुश्चरितों में से सब से गुरु को लेकर।

कर्मपथों में कौन से सुचरित और दुश्चरित संगृहीत नहीं हैं ?

कायदुश्चरितों का एक प्रदेश अर्थात् (१) काय-कर्मपथ के प्रयोग और पृष्ठभूत (४.६८सी), (२) काय के कुछ क्लिष्ट कर्म, यथा मद्यपान, ताड़न, बन्धनादि (मज्झिम,

---

[1] = [विपरीतं सुचरितम्]—मज्झिम, १.३५,२७६ से तुलना कीजिये; मध्यम, ५८,६।

[2] मिथ्यादृष्टि का व्याख्यान ४.७८ बी-सी में है। यह 'परम वज्ज' है, विसुद्धिमग्ग, ४६६; यह सर्व अकुशल धर्म का उत्पाद करता है, मज्झिम, ३.५२।

[3] [तद्] औदारिकसंग्रहात्। [दश कर्म-पथा उक्ता] यथायोगम् [शुभाशुभाः]।

मध्यम, ३.१६ संयुक्त, ३७,१२ दीघ, ३.२६६—मनु १२.२-७ वसुबन्धु के गाथासंग्रह की टीका में दिये हुए १० अकुशल कर्म-पथों के वाद का सार शीफनर, मेलाँग एशियातकि, ८ टिप्पणी, पृ० ५७४ में दिया गया है, इसमें प्राणातिपात का वाद (आलम्बन, आशय आदि पारसीक माता-पिता का वध करते हैं, इत्यादि) कोश से यथाभूत लिया गया है।

३·३४), कर्म-पथों में संगृहीत नहीं है क्योंकि यह चरित गुरुतम नहीं हैं। कायदुश्चरितों में से वह कर्म-पथ हैं जो दूसरे के प्राण, सम्पत्ति, पत्नी का अपहरण करते हैं क्योंकि इनसे अत्यन्त प्रतिविरत होना आवश्यक है।

[१३८] वाग्दुश्चरितों में से जो अत्यन्त गुरु है वह इसी कारण कर्म-पथ कहा गया है; प्रयोग, पृष्ठभूत और लघुकर्म कर्म-पथ नहीं हैं।

मनोदुश्चरित का एक प्रदेश अर्थात् चेतना भी अकुशल कर्मपथ में संगृहीत नहीं है।[१]

कुशल कर्मपथ में—१. न कायसुचरित का एक प्रदेश : प्रयोग, पृष्ठभूत; मद्यादिविरति दान, इज्या आदिक;[२] २. न वाग्सुचरित का एक प्रदेश, प्रियवचनादिक;[३] ३. औरन; मनःसुचरित का एक प्रदेश—कुशल चेतना संगृहीत होता है—कर्म-पथों में।

अशुभाः षडविज्ञप्तिर् द्विधैकस् तेऽपि कुर्वतः।
द्विविधाः सप्त कुशला अविज्ञप्तिः समाधिजा ॥६७॥

६७ ए. ६ अशुभ एकान्ततः अविज्ञप्ति हो सकते हैं।[४]

जब कोई दूसरे से ६ कर्म-पथ—प्राणातिपात, अदत्तादान, मृषावाद, पैशुन्य, पारुष्य, भिन्नप्रलाप कराता है तो यह ६ कर्म-पथ केवल अविज्ञप्ति होते हैं। जो इन कर्मों को सम्पादित कराता है उसमें मौली विज्ञप्ति अर्थात् प्राणातिपातादिकर्म नहीं होता।[५]

---

१. शुआन्-चाङ् जोड़ते हैं—'लघु अभिध्या आदि'।

२. मद्यादिविरति अर्थात् मद्यताड़नबन्धनादिविरति (व्याख्या ४०१.२), दीघ, ३.१७६ से तुलना कीजिये। दानेज्यादि; 'आदि' से 'स्नपनोद्वर्तनविषम् (?) हस्तप्रदानादि' (व्याख्या ४०१ ३) इष्ट है। 'इज्या' लगभग 'दान' का समानवाची है; शुआन्-चाङ् को-अनुवाद=दान—पिण्ड पान=पूजा; स्नपन और उद्वर्तन पूजाकर्म हो सकते हैं। महाव्युत्पत्ति, २४५, ३७८-३७९ (स्नापन, उत्सदन), वोगिहारा का संस्करण।

३. प्रियवचनादि; 'आदि' से 'धर्मदेशनामार्गकथनादि' (व्याख्या ४०१.४) समझना चाहिये।

४. अशुभाः षड् अविज्ञप्तः—आगे जो विवाद है वह विभाषा, १२२,३ के अनुसार है।

५. जिस विज्ञप्ति से (वहाँ वाक्कर्म) मैं प्राणातिपात की आज्ञा देता हूँ अर्थात् अम्लापनविज्ञप्ति, वह इस प्राणातिपात के प्रयोग में संगृहीत है और उसे कर्मपथ नहीं मानते। यह मौली विज्ञप्ति नहीं है। प्राणातिपात-कर्म जिसका मैं आपन्न हूँ और जिससे मैं समन्वागत हूँ इसलिये केवल अविज्ञप्ति है।

[१३९] ६७ बी. एक अकुशल सदा द्विविध है।[1]

काममिथ्याचार सदा विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति होता है क्योंकि इसे स्वयं सम्पादित करना होता है। जब कोई इसे दूसरे से कराता है तो उसे वही सुख नहीं मिलता।[2]

६७ बी. ६ भी द्विविध हैं, जब इन्हें कोई स्वयं सम्पादित करता है।[3] जब कोई इन्हें स्वयं करता है तो पूर्वोक्त ६ पथ (६७ ए) विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति दोनों होते हैं यदि विज्ञप्ति-काल में मरण होता है[4] (अर्थात् प्रहार-क्षण में जिस प्रहार से प्राणातिपात करता है)। यदि कालान्तर में मरण होता है तो केवल अविज्ञप्ति होती है।

कुशल कर्म-पथों में—

६७ सी. सप्त कुशल द्विविध हैं।[5]

सप्त रूपी कर्म-पथ अर्थात् काय और वाक् के कर्मपथ दो प्रकार के हैं—विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति। वास्तव में समादानशील विज्ञप्ति के अधीन हैं।

६७ डी. समाधिज कर्म-पथ केवल अविज्ञप्ति हैं।[6]

धर्मताशील में अर्थात् ध्यानसंवर और अनास्रवसंवर में संगृहीत कर्मपथ 'समाधिज' कहलाते हैं। यह दो संवर चित्तमात्र के अधीन हैं; इसलिये पथ विज्ञप्ति नहीं हैं।[7]

---

१. द्विधैकः।

२. तिब्बती भाषान्तर।

३. =[तेऽपि कुर्वतः।]—परमार्थः "स्वयंकृत।" शुआन्-चाङ् ६ अकुशल अवश्य ही अविज्ञप्ति हैं; स्वयंकृत यह [छै] और काममिथ्याचार द्विविध हैं।

४. ह्यू ऩ्त्सङ्ग "यदि मरण होता है, इत्यादि"—जैसा प्राणातिपात का वैसा ही अदत्तादानादि का है।

५. द्विविधाः सप्त कुशलाः—(व्याख्या ४०१.१३)।

६. अविज्ञप्तिः समाधिजाः—(व्याख्या ४०१.१९)।

७. प्राणातिपात-विरति रूपी कर्म-पथ है। जब कोई समादानशील का अर्थात् प्रतिमोक्षसंवर का लाभ करता है तो विज्ञप्ति (यहाँ यह वचन कि "मैं प्राणातिपात से विरत होता हूँ") अवश्य होती है क्योंकि यह संवर सदा 'दूसरे से लिया जाता है' (परस्मादादीयते—व्याख्या ४०१.१६)—(४,२८)। जब कोई ध्यान का लाभ करता है—जिसका अर्थ है कि उसने कम से कम तात्कालिक प्रहाण कामक्लेश और अकुशल कर्मों का किया है—तो वह, बिना किसी विज्ञप्ति की आवश्यकता के, इसी से प्राणातिपात विरति का लाभ करता है। जब अनास्रव संवर (आर्यमार्ग के तीन अङ्ग) का लाभ होता है तब भी ऐसा होता है। यह शीलसमादान के अधीन नहीं है; यह धर्मता के कारण होता है ध्यानलाभी इस अविज्ञप्ति से जो प्राणातिपात-विरति है, समन्वागत होता है। [अनुवादक की टिप्पणी] धर्मताशील; विसुद्धि, १५ के अनुसार उदाहरणार्थ जब बोधिसत्व माता की कुक्षि में अवक्रान्त होते हैं तब

[१४०] क्या प्रयोग और पृष्ठ वैसे ही हैं जैसे मौलकर्म या मौलकर्म-पथ ?

सामन्तकास्तु विज्ञप्तिर् अविज्ञप्तिर्भवेन्न वा ।
विपर्ययेण पृष्ठानि प्रयोगस्तु त्रिमूलजः ॥६८॥

६८ ए. सामन्तक विज्ञप्ति हैं ।[1]

सामन्तक कामावचर कर्म-पथ के प्रयोग हैं । यह अवश्य विज्ञप्ति हैं (४.२ बी, ३ डी) ।

६८ बी. यह अविज्ञप्ति हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं ।[2]

जब यह पर्यवसान (५.४७, आह्रीक्य, २.३२ आदि, या प्रसादघनरस से (४.२२) संपादित होते हैं तब यह अविज्ञप्ति होते हैं, अन्यथा नहीं ।

६८ सी. पृष्ठ के लिये विपरीत है ।[3]

पृष्ठ इसके विपरीत अवश्यमेव अविज्ञप्ति हैं । वह विज्ञप्ति होते हैं जब कर्म-पथ के परिपूरित होने पर भी पुद्गल कर्म-पथ के सदृश कर्म करता रहता है ।

[१४१] प्रयोग, मौलकर्म-पथ, पृष्ठ क्या हैं ?[1]

एक सत्त्व पशु के मारने की इच्छा से अपने शयन से उठता है, रजत लेता है, आपण को जाता है, पशु की परीक्षा करता है, पशु का क्रय करता है, उसे ले जाता है, उसे घसीटता है, अपने स्थान पर लाता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है, शस्त्र लेकर उसको एक बार, दो बार प्रहार देता है—जब तक की वह उसको मार नहीं डालता तब तक प्राणातिपात का प्रयोग रहता है ।

जिस प्रहार में वह पशु का वध करता है अर्थात् जिस क्षण में पशु-मृत होता है उस क्षण की जो विज्ञप्ति और उस विज्ञप्ति के साथ सहजात जो अविज्ञप्ति होती है वह

बोधिसत्व की माता का पुरुषों में कामगुणोपसंहित चित्त नहीं उत्पन्न होता । यह 'धम्मतासील' है धम्मता एसा आनन्द...(मज्झिम, ३,१२१) ।

[1] सामन्तकास्तु विज्ञप्तिः—(व्याख्या ४०१.२१)

[2] अविज्ञप्तिर्भवेत् न वा—(व्याख्या ४०१.२४)

[3] =पृष्ठम् विपरीतम्=[तद्विपर्ययतः पृष्ठम्] मौलकर्म के क्षण में एक अविज्ञप्ति उत्पन्न होती है जो प्रवृत्त रहती है और जो पृष्ठ है; इसके अतिरिक्त, कर्म सम्पादित करने के पश्चात्, पशु की हत्या करने के पश्चात् सत्वकर्म-पथ के सदृश कर्म, यथा मृत प्राणी को पुनः प्रहार-दान, मासच्छेदन आदि कर्म कर सकता है (तस्य कर्मपथस्य अनुधर्म अनुसदृशं कर्म —व्याख्या ४०१.२६) : इनमें से प्रत्येक कर्म पृष्ठ है ।

[1] बाद का वर्णन विभाषा, ११३,१ के अनुसार है : "...यदि बधचित्त के साथ वह प्राणातिपात करता है तो अकुशल कायविज्ञप्ति और सत्क्षणिका अविज्ञप्ति मौल प्राणातिपात है ।"

मौल कर्म-पथ है। क्योंकि दो कारणों से वह प्राणातिपात के अवद्य से स्पृष्ट होता है—प्रयोगतः और [प्रयोग के] फलपरिपूरितः।[२]

इसके अनन्तर के प्राणातिपात से उत्पन्न अविज्ञप्ति-क्षण पृष्ठ होते हैं—विज्ञप्ति-क्षण की सन्तति भी पृष्ठ होती है—पशु के चर्म का अपनयन करना, उसे धोना, तौलना, बेचना, पकाना, खाना, अपना अनुकीर्तन करना (अनुकीर्तयति)।

इसी प्रकार यथासम्भव अन्य ६ काय और वाक् के कर्म-पथों की योजना होनी चाहिए।[३]

अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि में प्रयोग और पृष्ठ यह भेद नहीं होते। जिस क्षण में उनका प्रादुर्भाव होता है उसी क्षण में अपने सम्मुखीभावमात्र से वह मौल कर्म-पथ होते हैं।

[१४२] आक्षेप—एक प्रश्न है। जिस क्षण में प्राणी मरण-भव[१] से स्थित होता है अर्थात् जिस क्षण में पशु की मृत्यु होती है, क्या उस क्षण की विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म-पथ हैं? अथवा क्या यह समझना चाहिये कि उस क्षण की विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति जिस क्षण में पशु मृतभव में होता है।अर्थात् जिस क्षण में पशु मृत होता है कर्म-पथ है?—यदि आप पहला पक्ष स्वीकार करते हैं तो उस अवस्था में सत्व प्राणातिपात सावद्य का उसी क्षण में आपन्न होगा जिस क्षण में इस पशु की मृत्यु होती है। आपका यह सिद्धान्त (४.७२ ए-बी) नहीं है। और दूसरे पक्ष में आप ने यह अयथार्थ कहा है कि "जिस प्रहार में वह पशु को निर्जीव करता है उस क्षण की विज्ञप्ति और उस विज्ञति की सहजात अविज्ञप्ति मौल कर्म-पथ है।" [आपको कहना चाहिये था—मृते प्राणिति या विज्ञप्तिः—(व्याख्या ४०२.१०) "प्राणी के मृत होने पर जो विज्ञप्ति होती है..."]।

---

२. फलपरिपूरितश्च—(व्याख्या ४०१.२९) मौल कर्म-पथ (या प्राणातिपात) प्रयोग-फल की परिपूर्णता है; जो प्रयोग करता है (यो हि प्रयुज्यते) किन्तु प्राणातिपात नहीं करता (मौलं कर्मपथं न जनयति—व्याख्या ४०१.३०) उसके लिये 'प्रयोग-फल' है, किन्तु फल-परिपूरि नहीं है, इस फल की परिपूर्णता नहीं है (तस्य प्रयोगफलमस्ति न तु फलपरिपूरिः—व्याख्या ४.१३१)।

३. इह कश्चित् परस्वं हर्तुकामो मञ्चादुत्तिष्ठति शस्त्रं गृह्णाति परगृहं गच्छति सुप्तो न वेति आकर्णयति परस्वं स्पृशति यावन्त स्थानात् प्रच्यावयति तावत् प्रयोगः। यस्मिन् तु क्षणे स्थानात् प्रच्यावयति तत्र या विज्ञप्तिस्तत्क्षणिका चाविज्ञप्तिरयं मौलः कर्मपथः। द्वाभ्यां हि कारणाभ्याम् अदत्तादानावद्येन स्पृश्यते प्रयोगतः फलपूरिपूरितश्च। ततः परम् अविज्ञप्तिक्षणाः पृष्ठं भवन्ति। यावत् तत् परस्वं विभजते विक्रीणीते गोपायत्यनुकीर्तयति वा तावद् अस्य विज्ञप्तिक्षणा अपि पृष्ठं भवन्ति—(व्याख्या ४०१.३२)

१. मरणभव ३.१३ सी-डी में व्याख्यात है।

इसके अतिरिक्त यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं तो इस शास्त्र-वाक्य का कि "जब प्रयोग विगत नहीं है" जो अर्थ वैभाषिकों ने दिया है उसका विरोध होता है। यह वाक्य मूल शास्त्र (ज्ञानप्रस्थान ११,११) में पठित है। यह शास्त्र कहता है कि "क्या ऐसा होता है कि प्राणी हत हो और प्राणातिपात अनिरुद्ध हो ?[२] हाँ, जब प्राणी के हत होने पर [प्राणातिपात का] प्रयोग अविगत नहीं होता।"[३] वैभाषिक (विभाषा ११,११) इस वचन के अर्थ का व्याख्यान यह कह कर करते हैं कि यहाँ 'प्रयोग' शब्द से जिसका साधारण अर्थ प्रयोग है—'पृष्ठ' अर्थ लिया जाता है। किन्तु आप इस अर्थ का विरोध करते हैं क्योंकि आप प्राणी के मृत होने के क्षण में (मृते प्राणिति-व्याख्या ४०२,१५) मौल कर्म-पथ को व्यवस्थापित करते हैं। और इसलिये आपके अनुसार यह मौल कर्म-पथ जो प्राणी के मृत होने के क्षण में अनिरुद्ध होता है, आप शास्त्र के 'प्रयोग' शब्द को मौल कर्म के अर्थ में लेते हैं।

[१४३] वैभाषिक—शास्त्र का व्याख्यान इस प्रकार होना चाहिये जिसमें दोष न हो। और यह कैसे हो सकता है ?—यहाँ 'प्रयोग' शब्द का अर्थ मौल कर्म-पथ है; [कम से कम जब प्राणी मरण भवानन्तर के क्षण में वर्तमान होता है; जब इस क्षण के अनन्तर के क्षणों का प्रश्न होता है तब 'प्रयोग' शब्द से जैसा कि विभाषा कहती है, 'पृष्ठ' उक्त होता है।][१]

किन्तु जिस क्षण में प्राणी मृत होता है, उस क्षण की विज्ञप्ति कैसे मौल कर्म-पथ हो सकती है ?

वैभाषिक—क्यों न होगी ?

क्योंकि यह असमर्थ है [प्राणी मृत है; उसका पुनर्मारण नहीं होता।]

वैभाषिक—किन्तु अविज्ञप्ति जो सदा असमर्थ है, कैसे कर्म-पथ है? यह उनका सामर्थ्य नहीं है जो विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति को कर्म-पथ बनाता है। इसलिए प्रयोग-फल की परिपूर्णता के काल में उभय कर्म-पथ होते हैं।[२]

---

२. अक्षरार्थ—"और जिसमें प्राणातिपात निरुद्ध न हो"—स्यात् प्राणी हतः "प्राणातिपातश्चानिरुद्धः—(व्याख्या ४०२.१८)।

३. अन्तर्हित नहीं हो गया है=अविगत; ह्यू न्त्सङ्ग =उपरत, निवृत्त; परमार्थ—वे, च वे स (चीनी भाषा में)।

१. भाष्य—वैभाषिकैरस्य शास्त्रवाक्यस्यैवमर्थो व्याख्यातः। अत्र शास्त्रे प्रयोग शब्देन पृष्ठमुक्तमिति। अस्यार्थस्य विरोधः। मौलस्यैव तदानीमनुरुद्धत्वात्। वैभाषिक आह—यथा न दोषस्तथास्तु। कथञ्च न दोषः। मौल एवात्र प्रयोगशब्देनोक्तः—(व्याख्या ४०२.११)

२. भाष्य—विज्ञप्तिस्तर्हि तदा कथं मौलः कर्म-पथो भवति। कथञ्च न भवितव्यम्। असामर्थ्यात्। अविज्ञप्तिरिदानीम् कथं भवति। तस्मात् प्रयोगफलपरिपूरिकाले तदुभयम्

क्या वह सम्भव है कि एक कर्म-पथ दूसरे कर्म-पथ का प्रयोग या पृष्ठ हो ?

हाँ, यथा दस कर्म-पथ प्राणातिपात के प्रयोग हो सकते हैं। जो पुद्गल अपने शत्रु का वध करना चाहता है वह इस कार्य की सिद्धि के लिए परस्व का हरण करता है और पशु की बलि करता है—इसी अपहृत धन से वह अपने शत्रु की पत्नी के साथ काममिथ्याचार करता है जिसमें वह उसका सहायक हो।

[१४४] अनृत, पिशुन, परुष, शान्त्ववचन से वह शत्रु को अपने उन मित्रों से भिन्न करता है जो उसका परित्राणकर सकते थे। वह अपने शत्रु के स्व में अभिध्या करता है—वह अपने शत्रु का अपकार करता है, वह उसका वध करता है। यह व्यापाद मिथ्यादृष्टि का उपबृंहण करता है। इसी प्रकार १० कर्म-पथ प्राणातिपात के पृष्ठ हो सकते हैं। अदत्तादानादि[1] अन्य कर्म-पथों में भी इसी प्रकार यथायोग योजना करनी चाहिए।

किन्तु हम कहेंगे कि अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि कभी प्रयोग नहीं होते क्योंकि वह क्रियारम्भ नहीं है; इनका कोई प्रयोग नहीं होता क्योंकि वह केवल चित्तोत्पाद हैं।[2]

सूत्रवचन है कि "हे भिक्षुओ! प्राणातिपात तीन प्रकार का है—लोभज प्राणातिपात, द्वेषज प्राणातिपात, मोहज प्राणातिपात"—और इसी प्रकार यावत् "हे भिक्षुओ! तीन प्रकार की मिथ्या दृष्टि है।" इन भिन्न प्रकार के प्राणातिपातादि का व्याख्यान होना चाहिये।

यह नहीं है कि सब कर्म-पथों की निष्ठा लोभ, द्वेष या मोह, जिस किसी से भी होती हो; किन्तु

६८ डी. प्रयोग तीन मूलों से उत्पन्न होता है।[3]

सब कर्म-पथों का प्रयोग तीन मूलों में से किसी से भी हो सकता है—भगवत् के पूर्वोक्त वचन की अभिसन्धि प्रथम कारण से है, उस कारण से जो कर्म-पथ का समुत्थापक (४·१० ए-बी) है।

१. लोभज प्राणातिपात (४.७३)[4]—पशु के इस भाग के लेने के लिए प्राणातिपात

कर्म-पथः स्यात्। प्रयोगफल=मौलकर्मन्। (व्याख्या ·४०२,२२)। मौल कर्म-पथ इसलिए प्राणी की मृतावस्था में होता है, प्राणिनोमृतावस्थायाम् (व्या० ४०२,३०)।

१. व्याख्या—(४०२,३३) यथा परस्वं हर्तुकामः कार्यसिद्धये परकीयम् हृत्वा तेन पशुना बलि कुर्यात्...।

२. संघभद्र इन आक्षेपों का प्रतिषेध करते हैं।

३. =[प्रयोगस्तु त्रिमूलजः ।।] -अत्थसालिनी, पृ० १०२ देखिये।

४. आगे के व्याख्यानों का एक प्रभाव कर्मप्रज्ञप्ति (द सूत्र ७२ विभाग), फोलिओ २१० ए है; विभाषा, ११६,१४ भी।

परद्रव्य के लिए प्राणातिपात; क्रीडार्थप्राणातिपात; आत्म-परित्राण सुहृत्-परित्राण के लिये प्राणातिपात (आत्मसुहृत् परित्राणार्थम्)।

द्वेषज प्राणातिपात, वैर-निर्यातन के लिए (वैरनिर्यातनार्थम्)।

[१४५] मोहज प्राणातिपात—पशुयज्ञ को एक धार्मिक अनुष्ठान समझकर पशुवध करना[1]; जब राजा धर्मपाठक के विनिश्चय के अनुसार यह विचार कर कि 'दुष्टों को दण्ड देना राजा का मुख्य पुण्यकर्म है' बध की आज्ञा देता है; जब पारसीक कहते हैं कि "वृद्ध और बाधित माता-पिता का बध करना चाहिये"[2], जब कोई सत्व कहता है कि 'सर्प, वृश्चिक, त्र्यम्बुक मक्षिका (महाव्युत्पत्ति, २१३,६१) आदि को मारना चाहिये क्योंकि यह पशु अपकारक[3] हैं; वन्यपशु, गो-वृषभ, पक्षी, महिष को आहार के लिये मारना चाहिये।"[4]

---

१. यह प्रसिद्ध उदाहरण है, शावाना, सैंक, सांत, कांत, ३·२८७ की रोचक कथा और हवाले देखिये।

२. ऊपर पृ० १२१, टिप्पणी १ देखिये। कर्मप्रज्ञप्ति के अनुसार माता-पिता के बध की प्रथा पाश्चात्य ब्राह्मणों में, जिन्हें छ्र-रव्यो कहते हैं, प्रचलित थी। छ्र का अर्थ 'ओष्ठ', तुण्ड या मघा है (मघा एक नक्षत्र है); यह मघज या मघाभव हो सकता है।

विभाषा, ११६,१४ पश्चिम में मू-चिआ नाम के म्लेच्छ होते हैं जिनमें यह मत प्रचलित है, जो इस सिद्धान्त को व्यवस्थापित करते हैं, कि 'जो जरा-जीर्ण और ग्लान माता-पिता का बध करते हैं वह पुण्य के, न कि पाप के, भागी होते हैं। क्यों? जरा-जीर्ण पिता की इन्द्रियाँ भग्न हो जाती हैं और वह पान-भोजन में असमर्थ हो जाता है; यदि उसका मरण हो तो उसको अभिनव और तीक्ष्ण इन्द्रियों का लाभ होगा और वह मन्दोष्ण दुग्ध का पान करेगा; उसको व्याधि के कारण अनेक दुःख वेदनाएँ होती हैं; मृत्यु उसको इनसे वियुक्त करेगी। इसलिये जो उनका बध करता है वह पाप नहीं करता।" ऐसा प्राणातिपात मोहज है।

मू-चिआ = मग वास्तव में मगु और युग प्रथम ओष्ठथानीय वर्ण के प्रभाव से (सिलवांलेवी) इन्हीं भागों पर नीचे पृ० १४८, टिप्पणी १ देखिये।

महापात के अनुसार उसको मारने में पाप नहीं है जो आनन्तर्य कर्म करने जा रहा है, शिक्षासमुच्चय पृ० १६८।

३. जातक फोसबोल, ६.२०८,२१० से तुलना कीजिये; नैरीमान = रिव्यू इस्त्वार दे रिलिजिआं १९१२, १८९ और जे. आर. ए. एस, १९१२, २५५; जे. शार्पांटिये, इंडालोजी और ईरानी शास्त्र के जर्नल में, २, पृ० १४५ (लीयजिग, १९२३)—शारपांटिये कम्बोजों की तुलना में डिडाड, १४, ५-६ और हेरोडोटस, १.१४० के जौरोआस्ट्रियन से करते हैं, कम्बोज, कटि, पतंग, उरग, भेक, क्रिम और मक्खिका को मारना पुण्य-कर्म समझते थे।

४. शुआन्-चाङ् के अनुसार यह मत कुछ तीर्थिकों का है; परमार्थ के अनुसार तीर्थिक फिन (जूलियन १४३१-न-फो) (विज्ञक ?) का मत है। शुआन्-चाङ् "सर्प...सत्व

[१४६] अन्ततः मिथ्यादृष्टि से प्रवर्तित प्राणातिपात—उस सत्त्व से किया हुआ प्राणातिपात जो परलोक में अप्रतिपन्न और निर्मर्याद है।

२. लोभज अदत्तादान (४ ७३ सी-डी) जब कोई अभिलषित अर्थ अपहरण करता है; जब कोई अन्य लाभ के लिए, सत्कार और यश के लिए,[1] पदस्व का अपहरण और सुहृत्-परित्राण के लिए परस्व का अपहरण करता है।

द्वेषज अदत्तादान, वैर-निर्यातन के लिये।

मोहज अदत्तादान—धर्मपाठकों के अधिकार से राजा दुष्टों के स्व का अपहरण करता है। ब्राह्मण कहते हैं कि "ब्रह्मा ने सब वस्तुओं को ब्राह्मणों के लिए दिया है और यह उनकी दुर्बलता है कि वृषल उनका भोग करते हैं। इसलिये जब ब्राह्मण अपहरण करता है तो वह अपने ही स्व का आदान करता है; ब्राह्मण स्वकीय को ही खाता है, स्वकीय को ही पहनता है, स्वकीय को ही देता है।"[2] और तिस पर भी जब ब्राह्मण आदान करते हैं तो उनको परस्व की संज्ञा होती है। मिथ्यादृष्टि के प्रवर्तित अदत्तादान भी मोहज अदत्तादान है।

के अपकारक हैं; जो इनको मारता है वह महापुण्य का भागी होता है; भेड़...मुख्यतः भोजन के लिये हैं; इनका वध करना पाप नहीं है।" पशुवध और मत्स्य-मांस के खाने की लोकप्रथा पर १.५वाँ और ६वाँ स्तम्भ-लेख; २. "तीन परिशुद्धि" अदिठ्ठ असुत अपरिसङ्कित, मज्झिम, १.३६८ अङ्गुत्तर, ४.१८७, दुल्वा, (विनय) ३. फोलिओ २८ राकहिल, लाइफ, पृ० ३८, टिप्पणी में उद्धृत केवल मत्स्य के लिये, महावग्ग, ६.३१.१४ और चुल्ल ७.३.१५ (देवदत्तकृत सङ्घभेद); दुल्वा ४. फोलिओ ४५३ में देवदत्त 'परिशुद्ध' मांस को परिभोग मांस बनाने के लिये बुद्ध का उपालम्भ करते हैं; रेलिजिओ एमिनान्त, पृ० ४८, ताकाकसू, इत्सिङ्ग, पृ० ४६,५८ आदि—मनुष्य हाथी आदि का मांस निषिद्ध है; ३. ई. डब्लू, हाप्किन्स, दि बुधिस्टिक रूल अगेंस्ट ईटिंग मीट, जर्नल अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, १९०६, ४५५-४६४।

वृक्ष के पत्रों को काटना (ऊपर ४.३५ ए-बी), हरित तृणों को पैरों से कुचलना, एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करना मना है, महावग्ग, ३.१ १९२.४,१६६ —मैत्रेयसूत्रों में अभक्ष्य मांस के व्यवहार पर, देमीवील, बी. ई. एफ. ई-ओ संकावेतार; ह्यूनत्सङ्ग कूचां में...।

१. अन्यलाभसत्कारयशोर्थम्—व्याख्या (४०३.१०) अन्य लाभस्यार्थे परस्वं हरन्ति यथाश्वहारिकाः।

२. मूल स्याद्वादमञ्जरी (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, १९००, पृ० ३२) में है। यह ब्राह्मणग्रन्थों की अप्रामाणिकता दिखाती है। यह ग्रन्थ कहते हैं, 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' और अश्वमेध में ५९७ पशुओं के वध की व्यवस्था करते हैं। यह कहते हैं—'नानृतं ब्रूयात्' और ५ मृषावाद का जिनका निषेध नहीं है, व्याख्यान करते हैं। इसी प्रकार अदत्तादानमने-

३. लोभज काममिथ्याचार (४·७४ ए-बी)—परस्त्रीगमन, काम के लिये या सत्कार और यश के लाभ के लिये या आत्मत्राण और सुहृत्-त्राण के लिये।

द्वेषज काममिथ्याचार, वैर-निर्यातन के लिये।

[१४७] मोहज काममिथ्याचार—पारसीक आदि अपनी माता और अन्य अगम्य[1] स्त्रियों के साथ अब्रह्मचर्य करते हैं—गोसवयज्ञ[2] में वह (पशु के समान) पानी पीता है, तृण चरता है, अपनी माता, अपनी भगिनी, सगोत्र स्त्री के साथ काममिथ्याचार करता है। जहाँ-जहाँ वह उनको पाता है (लभ्, विन्द्) वहाँ-वहाँ वह विष्ठा करता है। इस प्रकार यह अनुड्डह लोक का जय करता है।

कथा निरस्य पश्चादुक्तम्। यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते बलेन वा तथापि तस्य नादत्तादानम् यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद् वृषलाः परिभुञ्जते। तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते, स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वमृषस्ते स्वं ददातीति। मनु, १.१०१ (भागवतपुराण, ४.२२.४६) से तुलना कीजिये—'दौर्बल्यात्' (मनुः आनृशंस्यात्) यह पाठ निश्चित है।

१. ह्यु नृत्संग पारसीक माता आदि के साथ अब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हैं।

२. 'गोसव' का अनुवाद 'वृषभ की उत्पत्ति'।

व्याख्या: (४०३.१३) तत्र मोहप्राधान्यादुपैति मातरमब्रह्मचर्यार्थं। उपस्वसारमुपैति इति वर्तते, उपस्वसारम् उपैति भगिनीमित्यर्थः। उपसगोत्रामुपैति समानगोत्रामित्यर्थः। उपहार (?) यजमानः।

यह स्पष्ट है कि यशोमित्र इस वैदिक वाक्य का व्याख्यान ठीक नहीं करते, कीथ के अनुग्रह से मुझे जैमिनीय ब्राह्मण, २.११३ में गोसव का पता चला है—तद्य व्रतम्। उपमातरम् स्याद् उपस्वसारं उपसगोत्रां उपावहापोदकम् आचामेदुपावहाय तृणान्याछिन्द्याद्, यत्र यत्रैनं विष्ठा विन्देत् मद् तद् वितिष्ठेतानुड् हो इलोकं जयति। वसुबन्धु ने यहीं से लिया है। एम. डब्लू. कालाण्ड ने इसका अनुवाद जैमिनीय के चुने हुए अंश, पृ० १५७ में दिय है। इस अनुवाद को उन्होंने पूरा किया है—आपस्तम्ब श्रौत २२.१३ तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवेत्। उपावहायोदकम्...; एक दूसरे सूत्र में 'उपनिगाह्य' पिबेत्' पाठ है; कालाण्ड 'उपनिगाह्य' पाठ को ठीक मानते हैं और 'उपावहाय, उपनिगाह्य' का अनुवाद 'झुककर' करते हैं।—'विष्ठा' पुरीषोत्सर्ग है, 'वितिष्ठेत' का अर्थ 'पैर फैलाना' होगा। इसलिये इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—"जहाँ उसे मलत्याग की इच्छा होती है वहाँ ही वह विष्ठा का उत्सर्ग करता है।" अन्तिम वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—"वह वृषभों के लोक का जय करता है।"

हमारा अनुवाद तिब्बती भाषान्तर के आधार पर है। केवल छ ग चेनग्यियि

[१४८] जो यह कहते हैं कि "मातृग्राम उलूखल, पुष्प, फल, अपूप और मार्ग के तुल्य हैं।"[१]

४-७. मृषावाद (४.७४ सी-डी) और अन्य लोभज तथा द्वेषज वाक्-सावद्य पूर्ववत्।

मोहज मृषावाद—'हे महाराज! क्रीडायुक्त मृषावाद, नर्म-युक्त मृषावाद, विवाह में, मृत्युमय उपस्थित होने पर, जो असत्य बोला जाता है वह अपकारक नहीं है—यह ५ मृषावाद पाप नहीं कहलाते"[२]—मिथ्यादृष्टिप्रवर्तित मृषावाद। पैशुन्य तथा अन्य मोहज वाक्-सावद्य—यह मिथ्या दृष्टि से प्रवर्तित होते हैं। इनके अतिरिक्त वेदादि का असत्-प्रलाप मोहज सम्भिन्नाप्रलाप है।

८-१०. अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि ४.७७-७८ का उत्पाद लोभादि से कैसे होता है?—क्योंकि उनका कोई प्रयोग नहीं होता इसलिये कठिनाई उपस्थित होती है।

='विधि-मत्' से कनिठाई होती है। यह शब्द जल का विशेषण हैं। हम यह अनुवाद नहीं दे सकते—विधि-मत् जल। बहुत से इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—"जिसने व्रत का ग्रहण किया है वह जल पीता है...।"

ह्यूनत्संग—"पुरुष और स्त्री गोव्रत लेते हैं; वह पानी चाहते हैं, वह दाँत से तृण काटते हैं, या किसी स्थान में बैठ जाते हैं या चलते रहते हैं। माता या सगोत्र का बिना विचार किये वह सम्मिलन के अनन्तर काममिथ्याचार करते हैं।"

परमार्थ—"इसके अतिरिक्त जैसा गोसवव्रत में होता है अन्य स्त्रियाँ जल चाटती हैं, तृण चरती हैं, और पुरुष जाता है तथा अपनी माता, कन्या, चाची, ज्येष्ठ भगिनी, कनिष्ठ भगिनी, सगोत्र स्त्री आदि से अब्रह्मचर्य करता है।"

१. ये चाहुरुदूखलादितुल्यो मातृजनः (व्याख्या ४०३.१६)। यह तीर्थंक पिन-न-को का मत है (परमार्थ)। ह्यूनत्संग में यह अधिक है—तीर्थ, सेतु, नौका।

विभाषा, ११६,१६ के अनुसार "पश्चिम में मू-क्या नाम के म्लेच्छ होते हैं जिनका यह मत है, जो इस सिद्धान्त को व्यवस्थापित करते हैं कि...सम्भोग करने में कोई पाप नहीं है...क्यों? क्योंकि मातृग्राम अपूप के तुल्य है...।"

दिव्यावदान, पृ० २५७ (१८,धर्मरुचि का अवदान) से तुलना कीजिये—पन्थासमो मातृग्राम...तीर्थसमोऽपि च मातृग्रामः। यत्रैव हि तीर्थे पिता स्नाति पुत्रोऽपि तस्मिन् स्नाति...अपि च प्रत्यन्तेषुजनपदेषु धर्मतैवैषा यामेव पिताधिगच्छति तामेव पुत्रोऽप्यधिगच्छति...।

२. यह श्लोक है—न नर्मयुक्तं बचनं हिनस्ति...स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ३२; महाभारत, १.८२,१६ आदि; गौतम, ५.२४ से तुलना कीजिये; वसिष्ठस्मृति, १६.३०—मैक्समूलर, इण्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस, पृ० २७२।

तदनन्तरसंभूतेर् अभिध्याद्यास् त्रिमूलजाः ।
कुशलाः सम्प्रयोगान्ता अलोभद्वेषमोहजाः ॥६६॥

६६ ए-बी० अभिध्या और अन्य दो चैत्त-पथ तीन मूल से उत्पन्न होते हैं क्योंकि इनका उत्पाद इन मूलों के अन्वय से होता है।[३]

जब वह लोभ के समनन्तर उत्पन्न होते हैं तब वह लोभज होते हैं। अन्य दो मूलों के लिये भी ऐसा ही है।

अकुशल कर्म-पथ का मूलों से क्या सम्बन्ध है, इसका हमने व्याख्या किया है कुशल कर्म-पथ के सम्बन्ध में।

[१४६] ६६ सी-डी. कुशल, प्रयोग और पृष्ठ के सहित, अलोभ, अद्वेष, अमोह से उत्पन्न होते हैं।[१]

प्रयोग पृष्ठ सहित कुशल कर्म-पथ का प्रवर्तक (४.१०) कुशल चित्त होता है। कुशल चित्त अवश्यमेव मूलत्रय से सम्प्रयुक्त होता है—वह मूलत्रय से उत्पन्न होता है।

अकुशल कर्म-पथ के प्रयोग की विरति कुशल कर्म-पथ का प्रयोग है; अकुशल कर्म-पथ के मौलकर्म की विरति मौल कुशल कर्म-पथ है; अकुशल कर्म-पथ के पृष्ठ की विरति कुशल कर्म-पथ का पृष्ठ है।

हम एक उदाहरण देते हैं—श्रामणेर की उपसम्पदा, जिस क्षण में श्रामणेर नानावास[२] में प्रवेश करता है, सङ्घ का अभिवादन करता है, उपाध्याय से प्रार्थना करता है, उस क्षण से लेकर यावत् प्रथम, द्वितीय कर्मवाचन तक प्रयोग है।[३] तृतीय कर्म-वाचन की परिसमाप्ति (अवसान) पर जो विज्ञप्ति और तत्क्षणिक जो अविज्ञप्ति होती है वह मौल

---

३. =[तदन्वयत उत्पादाद् (?) अभिध्यादि त्रिमूलजम् ।]

१. =[शुभाः सप्रयोगपृष्ठा अलोभद्वेषमोहजाः ।।]

२. नानावास (ह्यू न्त्सङ्ग का अनुवाद–'रक्षा के लिये दुर्ग'; अन्यत्र इसका अनुवाद 'सीमा' किया गया है, (४.३९बी देखिये)। इसका निर्वचन व्याख्या में है—नानावासं प्रविशतीति मण्डलं प्रविशतीत्यर्थः। नानावासाहि तस्मिन् महासीमामण्डले भवन्ति (व्या० ४०३.२६)।

३. संस्कृतप्रभव के लिये, 'एफ्रैगमेण्ट आफ़ दि संस्कृत विनय'; भिक्षुणी कर्मवाचन, बुलेटिन आफ़ दि स्कूल आफ़ ओरियण्टल स्टेडीज, १३ (१९२०)। पालिप्रभव के लिये, उदाहरणार्थ, के. जायदनस्टिकर, 'पालि बुधिस्मस' (जर्मन पालि सोसाइटी); कर्न मैन्युअल, पृ० ७८।

यह जानना चाहिये कि तृतीय कर्मवाचन की परिसमाप्ति तक, उसके अन्तिम क्षण तक, केवल प्रयोग रहता है।

कर्म-पथ है। इस क्षण के अनन्तर जब उपसम्पादित भिक्षु को निश्रय की सूचना देते हैं, जब वह निश्रय का अधिष्ठान विज्ञापित करता है[४] और जब तक मौलकर्म से उत्पादित अविज्ञप्ति-सन्तान का अनुवर्तन होता रहता है—अर्थात् जब तक भिक्षु प्रातिमोक्ष-संवर (४.३८) का त्याग नहीं करता, यह पृष्ठ है।

[१५०] हमने देखा है कि अकुशल कर्म-पथ की निष्ठा जिस किसी मूलत्रय से नहीं होती।

वधव्यापादपारुष्यनिष्ठा द्वेषेण लोभतः।
परस्त्रीगमनाभिध्याऽदत्तादानसमापनम् ॥७०॥

७० ए-बी. वध, व्यापाद, पारुष्य की निष्ठा द्वेष से होती है।[१]

केवल द्वेष से इनकी निष्ठा तब होती है जब (प्राणातिपात के सम्बन्ध में) परित्याग-चित्त[२], (व्यापाद और पारुष्य के सम्बन्ध में) पुरुष चित्त का सम्मुखीभाव होता है।

७० बी-डी. पर स्त्रीगमन, अभिध्या, अदत्तादान की निष्ठा लोभ से होती है।[३] परस्त्रीगमन अर्थात् काम मिथ्याचार।

---

४. मूल में है—तदूर्ध्वम् यावन् निश्चया आरोच्यन्ते तदधिष्ठानम् च विज्ञपयति, अर्थात् निश्चयाधिष्ठानं च विज्ञप्तिं करोति (व्याख्या ४०४.१)—परमार्थ का अनुवाद—'उस क्षण तक जब ४ निश्चयों की सूचना होती है, जब हम मौलकर्म के अधिष्ठान की यत्किञ्चित् विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति होनी है, जब तक सन्तान का उपच्छेद नहीं होता, यह पृष्ठ है।" ह्यूनत्संग भी स्पष्ट नहीं हैं—(यावत), (आरोच्), (चत्वारो निश्चयाः), (च) (शेषु अन्य) (निश्चय) (प्रादुर्भवति)। चत्वारो निश्चयाश्चीवरपिण्डपातशय्यासनग्लानप्रत्ययभैषज्य लक्षणाः (व्या० ४०४.२)।

१. बधव्यापादपारुष्यनिष्ठा द्वेषेण। (व्या० ४०४.६)

२. परित्याग-चित्त तत्क्षणसमुत्थान (४.१०) कारण है; यह कर्म-पथ का सहभू है। [जापानी सम्पादक की टिप्पणी]।

'परित्याग' का अनुवाद ह्यूनत्संग इस प्रकार करते हैं; 'उपेक्षा करना, निरपेक्ष होना' यह 'विनाश करना, बध करना' के लिये मृदूक्ति है। नीचे पृ० १५३, टिप्पणी ३ देखिये।

अत्थसालिनी, पृ० ९१ से तुलना कीजिये—गब्भं...पापकेन मनसानुपेक्खको होति। "गर्भ के प्रति निरपेक्ष नहीं है अर्थात् उसका विनाश चाहता है।"

परुष चित्त, परमार्थः कर्कश; ह्यूनत्संग औदारिक, जैसे पारुष्य में।

३. लोभतः। परस्त्रीगमनाभिध्यादत्तादानसमापनम् ॥ समापन=निष्ठा (व्या० ४०४.१३)

मिथ्यादृष्टेस्तु मोहेन शेषाणां त्रिभिरिष्यते ।
सत्वभोगावधिष्ठानं नामरूपं च नाम च ॥७१॥

७१ ए. मिथ्यादृष्टि की निष्ठा मोह से ।[४]
अत्यन्त मोह से ।

[१५१] ७१ बी. शेष, तीन से ।[१]
शेष कर्म-पथ—मृषावाद, पैशुन्य, सम्भिन्नप्रलाप की निष्ठा लोभ, द्वेष या मोह से होती है ।

७१ ए-बी. कर्म पथ चार काण्डों में विभक्त हैं—प्रथम में तीन, द्वितीय में तीन, तृतीय में एक, चतुर्थ में तीन हैं । इनके यथाक्रम—

७१ सी-डी. अधिष्ठान— सत्व, भोग, नाम रूप, नाम हैं ।[२]

सत्ववध, व्यापाद और पारुष्य के विषय या अधिष्ठान हैं; भोग परस्त्रीगमन, अभिध्या और अदत्तादान के अधिष्ठान हैं; नाम रूप अर्थात् पञ्चस्कन्ध मिथ्यादृष्टि का अधिष्ठान है; नामन् अर्थात् नामकाय (२.४७) मृषावाद और अन्य दो वाक्-सावद्य का अधिष्ठान है ।[३] जब कोई सत्व पर मारण का निश्चय करता[४] है और वह इसके पूर्व या पश्चात् मृत होता है तो क्या प्राणातिपात करने वाले के लिये मौल कर्म-पथ होता है या नहीं ?

समं प्राक् च मृतस्यास्ति न मौलोऽन्याश्रयोदयात् ।
सेनादेश्चैक कार्यत्वात्सर्वकर्तृवदन्ति सः ॥७२॥

७२ ए-बी. यदि यह पूर्व या उसी समय मृत होता है तो मौल कर्म-पथ नहीं होता ।[५]
इसीलिये विभाषा कहती है—"जब कोई सत्व प्राणातिपात का प्रयोग करता है तो क्या ऐसा हो सकता है कि जिस क्षण में प्रयोगफल परिपूर्ण हो उस क्षण में यह सत्व प्राणातिपातावध से स्पृष्ट नहीं हो ?[६]"

---

४. मिथ्यादृष्टेस्तु मोहेन (व्या० ४०४. १६)
१. शेषाणां त्रिभिरिष्यते ॥ (व्याख्या ४०४.१८) ।
२. =[सत्वा भोगा अधिष्ठानं नामरूपं च नाम च ॥]
अधिष्ठान = अधिकरण, विषय अत्थसालिनी, पृ० १०१) ।
३. नामकायाधिष्ठाना मृषावादादयो वाग् नाम्नि प्रवर्तत इति कृत्वा (व्याख्या ४०४, २२) ३.३० सी-डी की व्याख्या देखिये ।
४. मेरा विश्वास है कि मूल में 'परमरणे कृतनिश्चयः' है ।
५. समम् प्राग्वा मृतस्यास्ति न मौलः—पृ० १४२ देखिये ।
६. यहां अभिप्राय मौल कर्मपथ से है ।

[१५२] हाँ, जब यह सत्व पूर्व या उसी समय [जब कि हृत होता है] "मृत होता है।" कारण स्पष्ट है, जब तक मध्य जीवित है तब तक वध करने वाला प्राणातिपात वध से स्पृष्ट नहीं होता; जब बध्य मृत होता है तब कोई अन्तर नहीं होता, चाहे वह उसी समय या पूर्व मृत हो।

७२ बी. क्योंकि एक अन्य आश्रय का उदय हुआ है।[1]

काय-आश्रय—जिससे प्रयोग सम्पादित हुआ है अर्थात् घातक का काय विनष्ट होता है। घातक एक अन्य आश्रय ग्रहण करता है जो एक-दूसरे निकायसभाग (२.४१ ए) का होता है। इस काय ने प्रयोग नहीं किया है, यह प्रयोक्ता है और इसलिये यह प्राणातिपातवध से स्पृष्ट नहीं हो सकता।

जब कई सत्व युद्ध के लिए या आखेट अथवा लुण्ठन के लिए वध के निमित शरीक होते हैं तो, यदि उनमें से एक वध करता है तो प्राणातिपात का कौन आपन्न है ?

७२ सी. डी. क्योंकि सैनिकादि एक कार्य के सम्पन्न करने में सम्मिलित होते हैं इसलिये वह सब उसकी तरह आपन्न हैं जो बध करता है[2]; समान उद्देश्य होने से सब उसके समान आपन्न हैं जो वध करता है क्योंकि सब एक-दूसरे के अर्थत: प्रयोक्ता हैं, वाणी से नहीं—अर्थतः इसलिये कि सब प्राणातिपात करने के लिए अभ्युपगत हुए हैं।[3]

किन्तु जो पुद्गल सेना में सम्मिलित होने के लिए बलपूर्वक विवश किया गया है क्या वह भी आपन्न है ?—स्पष्ट ही, जब तक कि उसने यह प्रणिधान न किया हो कि "अपने प्राणों की रक्षा के लिये भी मैं किसी सत्त्व का वध नहीं करूँगा।"

क्या करने से वध करने वाला कर्म-पथ करता है ? अन्य सावद्यों के लिये भी यावत् मिथ्या दृष्टि यही प्रश्न है।

प्राणातिपातः सञ्चिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्।
अदत्तादानमन्यस्वस्वीक्रिया बलचौर्यतः ॥७३॥

---

१. अन्याश्रयोदयात्। (व्याख्या ४०४,२६)

२. तिब्बती पाठ का अर्थ="सब सैनिकादि, कार्य की एकता के कारण, कर्ता के समान, [प्राणातिपात से] समन्वागत होते हैं।"=[सैनिकाद्येककार्यत्वात् सर्वेषाम् अस्ति कर्तृवत्"]—'अस्ति कर्मपथः' जोड़िये, जैसा ७२ ए. बी. में है।

३. अर्थतो हि तेऽन्योन्यम् प्रयोक्तार इति न वाचा तेऽन्योन्यम् प्रयोक्तारः किं तर्हि प्राणातिपातकरणाभ्युपगमाद् अर्थत इति दर्शयति। (व्याख्या ४०४·२८) [अर्थत इति एक कार्यत्वात्।]

[१५३] ७३ ए. बी. जान-बूझकर बिना भ्रान्ति के दूसरे को मारना प्राणातिपात है।[1]

यदि एक सत्व यह विचार कर कि "मैं अमुक का वध करता हूँ" वध करता है और वह उसी आश्रय को, भ्रान्ति से दूसरे को नहीं, मारता है तो यह प्राणातिपात है।[2]

और यदि एक सत्त्व वध करता है और साथ-साथ यह सन्देह करता है कि मैं सत्त्व को या किसी वस्तु को आघात पहुँचा रहा हूँ, मैं अमुक को या किसी दूसरे को मार रहा हूँ, तब क्या यह प्राणातिपात है ?—इस सत्त्व को यह निश्चय होता है कि "यह निश्चय ही वही है"; वह उपघात करता है। इसलिये उसका परित्याग-चित्त होता है।[3]

वध, प्राण का विनाश (प्राणातिपात) कैसे हो सकता है जब स्कन्ध क्षणिक हैं ?[4]

---

१. तिब्बती पाठ = [प्राणातिपातः सञ्चिन्त्याभ्रान्त्यैव परमारणम् ।]

२. परमार्थ—"यदि किसी सत्व का यह आशय होता है कि 'मैं अमुक को मारने जाता हूँ'—यदि अमुक के विषय में उसकी यह संज्ञा है कि 'यह अमुक है' यदि वह उसी को, भ्रान्तिवश दूसरे को नहीं, मारता तो इन तीन वस्तुओं से प्राणातिपात कर्म-पथ है।'

सञ्चिन्त्य = सञ्चिच्च महाव्युत्पत्ति, २४५.६८; पराजित ३. कर्मप्रज्ञाप्ति, •६२.११वां अध्याय—बुद्धघोस, अत्थसालिनी, पृ०९७ = सुमङ्गलविलासिनी पृ० ९६); स्पेंस हार्डी, मैन्युअल, पृ० ४७८; बिगंएडेट (१९१४) २.१९५—प्राणातिपात के लिए पाँच वस्तु आवश्यक हैं—पाण, पाणसञ्ञिता, वधकचित्त, उपक्कम, मरण—प्राणातिपात साहत्थिक, आणत्तिक, निस्सग्गिक, थावर, विज्जामय, इद्धिमय हो सकता है। (माउङ्गतिन और श्रीमती रीज डैविड्स, एक्सपोजिटर, १२९. का अनुवाद देखिये। विज्जा = विद्या, इद्धि = शक्ति।

३. शुआन्-चाङ् "जब सन्देह होता है तब भी प्राणातिपात है। एक सत्त्व उस विषय के बारे में सन्दिग्ध है जिसको वह मारना चाहता है—'यह प्राणी है या नहीं ? और यदि प्राणी है तो यह अमुक है या दूसरा ?' तब वह निश्चय करता है—'चाहे यह वह हो या दूसरा मैं मारूँगा।' इस परित्याग-चित्त के कारण, यदि वह प्राणी को मारता है तो उसका कर्म-पथ होता है।'

परमार्थ—"...इन तीन वस्तुओं के कारण कर्मपथ (ऊपर टिप्पणी २) होता है। यदि ऐसा है तो एक, सत्त्व सन्देह में हो सकता है और मार भी सकता है (= प्राणातिपात-सावद्य कर सकता है)—यह प्राणी है या नहीं ? यह अमुक है या नहीं ?" यह सत्त्व वध्य के विषय में वध करने का निश्चय कर चुका है। "चाहे यह वह हो या दूसरा मैं मारूँगा।" उसने इसलिए परित्याग-चित्त का उत्पाद किया है। यदि वह मारता है तो वह प्राणातिपात सावद्य से समन्वागत होता है।"

तिब्बती भाषान्तर का अर्थ—"उसका केवल परित्याग-चित्त है" अथवा "उसका परित्याग-चित है।"

हम नहीं समझते कि "परित्याग मारण" से भिन्न है। १० अकुशल कर्मपथ, दशाकुशलकर्मपथाः, सिलवां लेवी जे. ए., १९२९,२,२६९।

४. स्कन्ध क्षणिक हैं अर्थात् स्वरसेन विनश्वर हैं।

[१५४] प्राण का अर्थ 'वायु' है। वह वायु जो कायचित्तसन्निश्रित प्रवर्तित होती है।[१]

जो वध करता है, वह इस प्राण का विनाश उसी प्रकार करता है (अतिपातयति = विनाशयति) जैसे हम प्रदीप का निरोध करते हैं या घंटे के स्वन का निरोध करते हैं अर्थात् अनागत की उत्पत्ति के प्रतिबन्ध से।

अथवा[२] प्राण से अभिप्राय जीवितेन्द्रिय से है (२.४५ ए); जब एक सत्त्व जीवितेन्द्रिय के एक नवीन क्षण की उत्पत्ति को प्रतिबद्ध करता है तो वह उसका विनाश करता है, वह प्राणातिपातावद्य से स्पष्ट होता है।

किन्तु यह जीवितेन्द्रिय किसका है ? किसका यह जीवित है जो जीवित के अभाव में मृत होता है ?[३]

'कस्य' इस सर्वनाम के अर्थ का विचार हम पुद्गलवाद के प्रतिषेध-प्रकरण में

दूसरे हेतु से इनका निरोध कैसे होगा ? (२ कोशस्थान, अनुवाद, पृ० २३२ और ४.२ बी देखिये)।

१. प्राणो नाम वायुः कायचित्तसन्निश्रितो वर्तते। (व्या० ४०५-१)।

प्राण चित्तसन्निश्रित है क्योंकि निरोध और असंज्ञि इन दो समापत्तियों में (२.४२) समापन्न सत्त्व में इसका अभाव होता है।

व्याख्या शास्त्र उद्धृत करती है—य इमे आश्वासप्रश्वासः किं ते कायसंनिश्रिता वर्तन्त इति वक्तव्यम्। चित्तसंनिश्रिता वर्तन्त इति वक्तव्यम्। नैव कायचित्तसंनिश्रिता वर्तन्त इति वक्तव्यम्। कायचित्तसंनिश्रिता वर्तन्त इति वक्तव्यम्। आह। कायचित्तसंनिश्रिता वर्तन्त इति वक्तव्यम्।" (व्याख्या ४०५-४)

अत्थसालिनी, पृ०९७ पाण = संत्त, जीवितेन्द्रिय।

२. प्रथम व्याख्यान के विरुद्ध यह आक्षेप है कि आश्वास-प्रश्वास का प्रथम चार गर्भावस्थाओं में अभाव होता है। इसलिए गर्भ का वध करने से कर्म-पथ न होगा। ह्वे-ह्वे नंनजिओ ११५७ (महीशासकनिकाय) को उद्धृत करता है जिसके अनुसार पाराजिक ३ का 'मनुष्यविग्रह' ४९वें दिन तक का गर्भ है।

(सर्वास्तिवादियों का प्रातिमोक्ष, फ़िनो-ह्यूवर जे. एस. १९१३, २.४७७ और भिक्षुणीकर्मवाचन, पृ० १३८ देखिये)।

३. कस्य तु जीवितम् (कस्य तज्जीवितम्) यस्तदभावान् मृतः व्याख्या का पाठ (व्याख्या ४०५-१३)।—वास्तव में कोई प्राणी नहीं है जिसके लिए कहा जा सके कि यह मृत है।

करेंगे।[४] हम यहाँ केवल भगवद्-वाक्य उद्धृत करते हैं—"जब आयु, उष्म और विज्ञान काय का परित्याग करते हैं तब यह अपविद्ध हो काष्ठ के समान अचेतन सोता है।"[५] इसलिये सेन्द्रिय काय के लिये कहते हैं कि यह जीवित है और उसी काय के लिये कहते हैं कि यह मृत है, जब वह अनिन्द्रिय है।

[१५५] निर्ग्रन्थों के अनुसार[१] यदि प्राणातिपात अबुद्धिपूर्वक किया गया हो तब भी कर्ता को अधर्म होता है, यथा अग्नि-संस्पर्श से दाह होता है।

इस दृष्टान्त से[२] जब कोई अबुद्धिपूर्वक परस्त्री-दर्शन या संस्पर्शन करता है तो उसके लिए पाप का प्रसङ्ग होता है। जो निर्ग्रन्थ का शिरोलुञ्चन करता है उसके पाप का प्रसङ्ग होता है।

निर्ग्रन्थ-शास्ता का अधर्म-प्रसङ्ग होता है क्योंकि वह कष्ट-तप की देशना करते हैं। अन्नदाता का भी अधर्म-प्रसङ्ग होता है जिसके अन्न से निर्ग्रन्थ को विसूचिका होती है और उसका मरण होता है। माता और गर्भस्थ जो अन्योन्य दुःख के निमित्त हैं, पाप के भागी होंगे। वध्य के लिए भी अधर्म-प्रसङ्ग होगा क्योंकि वह प्राणनिपात-क्रिया से अधिष्ठान या विषय के रूप में सम्बद्ध है—यथा अग्नि अपने आश्रय का दाह करती है। दूसरी ओर जो दूसरे से वध कराता है, उसके अधर्म का प्रसङ्ग न होगा क्योंकि जब दूसरे से अग्नि का स्पर्श कराते हैं तो उसका स्वयं दाह नहीं होता। क्योंकि आप बुद्धिविशेष की अपेक्षा नहीं करते इसलिये अचेतन काष्ठादि द्रव्य के लिये प्राणातिपात के पाप का प्रसङ्ग होता है जब गृह-पात से प्राणियों का वध होता है।[३] यदि आप इन दोषों का परिहार चाहते

---

४. पुद्गलप्रतिषेधप्रकरणे (व्याख्या ४०५-१५)—यहाँ अभिप्राय कोश के अन्तिम भाग से है। (वसुबन्धु जिस वाक्य की अभिसन्धि देते हैं उसका अनुवाद शरबात्स्की ने दि सोल थियरी ऑफ़ दि बुधिस्ट्स, पृ० ८५३ में दिया है; ह्यू नत्सङ्ग, ३०.८ ए)।

५. २·४५ ए (अनुवाद, पृ० २१५) और ८.३ सी में उद्धृत।

१. मिलिन्द, पृष्ठ ८४,१५८; कथावत्थु, २०·१ सूत्र कृताङ्ग, २·६, २६ (सेक्रेड बुक्स, ४५, पृ० ४१४) २·२ (पाँच प्रकार के प्राणातिपात) भी—ऊपर पृ० २, टिप्पणी ३ देखिये। निर्ग्रन्थ=नग्नाटक।

२. अबुद्धिपूर्वादपि प्राणातिपातात् कर्तुरधर्मः। यथाग्निसंस्पर्शात् दाह इति निर्ग्रन्थाः। तेषां परस्त्रीदर्शनसंस्पर्शने एष प्रसङ्गः निर्ग्रन्थशिरोलुञ्चने वा। कष्टतपोदेशने वा निर्ग्रन्थशास्तुः। तद्विषूचिकामरणे च दातुरेष प्रसङ्ग। मातृगर्भस्थयोश्चान्योन्यदुःखनिमित्तत्वात्। वध्यस्यापि च तत्क्रिया सम्बन्धात् अग्निस्वाश्रयदाहवत्—(व्याख्या ४०५-१९)।

३ तिब्बतीभाषान्तर में इतना अधिक है:—"इसी प्रकार व्याधि-दुःख के लिये और उन वनस्पतियों के लिये जिनसे मृत्यु होती है, अधर्म का प्रसङ्ग होगा।" (तिब्बती पाठ सन्दिग्ध है)। चीनी भाषान्तरों में यह वाक्य नहीं है।

हैं तो आपको मानना होगा कि अहेतुक दृष्टान्तमात्र से—अग्नि-दृष्टान्त से आपके अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

७३ सी-डी. अदत्तादान—जो न दिया गया हो उसका आदान-बल या छल से परस्व का स्वीकरण है।[४]

[१५६] इसमें एक अपवाद सदा है—"संज्ञाविभ्रम से अन्यत्र।[१]" बल या छल से परस्वीकृत का आदान अदत्तादान है यदि जिसका द्रव्य वह अपहरण करना चाहता है उसके विषय में उसको संज्ञाविभ्रम नहीं होता।

स्तूप-द्रव्य का अपहरण करना बुद्धि से अदत्त द्रव्य का ग्रहण करना है—क्योंकि परिनिर्वाण-काल में भगवत् ने स्तूप को दिये हुए सब दानों को स्वीकार किया था, परिगृहीत किया था।[२] दूसरों के अनुसार यह एक ऐसे वस्तु का आदान है जिसे स्तूप के रक्षकों ने नहीं दिया है।[३] जिस द्रव्य का कोई स्वामी नहीं है उसे लेना उसका आदान है जिसे जनपद के स्वामी ने नहीं दिया है।

मृतभिक्षु[४] के भिक्षु-चीवरादि द्रव्य को लेना उस द्रव्य का आदान है जिसे सीमान्तर्गत

---

४. तिब्बती भाषान्तर [अदत्तादानम् परस्वस्वीकरणम् बलच्छलात ॥]
अत्थसालिनी; पृ० ९७-९८ महाव्युत्पत्ति, २८१, २८-३३ अदत्तस्य पञ्चमाषकादेः स्तेयचित्तेन मनुष्यगतिपरिगृहीतस्य तत्संज्ञया हरणहारणयोर्दूतेनापि। भिक्षुणीकर्मवाचन, पृ० १३७-८...अन्ततः फलतुषम् अपि परकीयम् नादातव्यम् कः पुनर्वादः पञ्चमासिकम् उत्तरपञ्चमासिकम् वा...।

१. व्याख्या—नान्यत्र संज्ञाविभ्रमात्। यदि देवदत्तद्रव्यं हरामीति यज्ञदत्तद्रव्यं हरति नादत्तादानमिति अभिप्रायः—(व्याख्या ४०६-५) शोधिये: अन्यत्र संज्ञाविभ्रमात् पृ० ७६ पंक्ति १२ से तुलना कीजिये ; अन्यत्राज्ञानात्; पृ० ६५ पंक्ति ४, अन्यत्र ग्लान्यात्; पाराजिक ४, अन्यज्ञाभियानात् इत्यादि।

२. परिनिर्वाणकाले परिगृहीतमिति दातृजनपुण्यानुग्रहार्थम, अननुग्रहे हि स्तूपे दानमफलम् स्यात् परिग्राहकाभावात्—(व्याख्या ४०६·७)—(४·१२१ देखिये, वहाँ एक दूसरा ही मत है)।

३. विभाषा, ११३,७ के द्वितीय आचार्यों का मत; यह मत अयथार्थ है क्योंकि उसके मानने में यह दोष है कि स्तूप के रक्षक, स्तूप-द्रव्य के आदान से अदत्तादान नहीं करेंगे।

४. व्याख्या—परिवर्तकम् मृतस्य भिक्षोश्चीवरादि द्रव्यम् (व्याख्या ४०६-८), (परिवत्तेति, 'बदलना'; चुल्ल, ६.१९२)—तिब्बती भाषान्तर के अनुसार, मृत का द्रव्य लेना; परमार्थ और ह्यु्नत्सङ्ग के अनुसार, प्रतिक्रान्त का द्रव्य लेना (महाव्युत्पत्ति, १३०, १७)।

संघ ने[५] नहीं दिया है, यदि ज्ञप्ति कर्म हुआ है (कृते कर्मणि—व्याख्या ४०६-९); विपरीत अवस्था में यह उसका आदान है जिसे सब बुद्धश्रावकों ने नहीं दिया है।

अगम्यागमनं　कामिथ्याचारश्चतुर्विधः।
अन्यसंज्ञोदितं वाक्यमर्थाभिज्ञे मृषा वचः ॥७४॥

[१५७] ७४ ए. बी. काममिथ्याचार अगम्य स्त्री के साथ सम्भोग है।[१] यह चतुर्विध है।

१. अगम्य स्त्री, परपरिगृहीत, माता, दुहिता, चाची या मामी[२] के साथ सम्भोग; २. अयोनि मार्ग से[३] अपनी स्त्री के साथ सम्भोग; ३. अयुक्त स्थान में—अभ्यवकाश, चैत्य, अरण्य[४]; ४. अकाल में—जब स्त्री गर्भिणी है, जब उसके शिशु की स्तन्योपभोग की अवस्था है,[५] जब उसने नियम लिया है (नियमवती)।[६] कुछ का कहना है—जब उसने अपने पति की अनुमति से नियम ग्रहण किया है।

---

५. 'सीमा का संघ', ह्यू नत्सङ्ग (पर्यन्त-अन्तः-सङ्घ); परमार्थ = नानावासगताः; तिब्बती भाषान्तर = अन्तः सीमापर्यापन्नाः।

१. = [अगम्यागमनम् काममिथ्याचारश्चतुर्विधः।]

अत्थसालिनी, पृ० ९८—किम्रोकुगा से उद्धृत महायान (योगाचार) ग्रन्थ के अनुसार ६ निषिद्ध हैं—१. अविषय, अगम्य, पुरुष, मातादि स्त्री; २. अमार्ग, अनङ्ग—केवल योनिमार्ग; ३. असमय—जब स्त्री नियमवती है, गर्भवती है, शिशु को स्तन्यपान कराती है, उपकसस्थ है, ग्लान है; ४. अस्थान; ५. 'प्रमाणरहित', मानमतिक्रम्य गच्छति; अयोग "लोक नियम के विरुद्ध"।

२. ह्यू नत्सङ्ग में इतना अधिक है—"···शेष यावत राजा से संरक्षित"। महाव्युत्पत्ति, २८१,२५१ की सूची देखिये (पितृरक्षिता आदि)।

३. महाव्युत्पत्ति, २८१,२६-२७ प्रविष्टः स्पर्शस्वीकृतौ प्रस्तावकरणे प्रस्तावकरणस्य मुखे वर्चो मार्गे वा। शिक्षासमुच्चय, पृ० ७६ से तुलना कीजिये—एवं स्वस्त्रीष्वपि अयोनिमार्गेण गच्छतः; सुत्तविभङ्ग १.९.३—अङ्गजातेन वच्चमग्गं...पस्सावमग्गं...मुखं...।

४. जापानी सम्पादक की विवृति में अरण्य है; ह्यू नत्सङ्ग में दूरस्थादि है; परमार्थ इसका अनुवाद करते हैं—"वह स्थान जहाँ ब्रह्मचर्य का अभ्यास करते हैं।" "खुला स्थान" निस्सन्देह 'अभ्यवकाश' है।

५. गर्भिणीगमने गर्भोपरोधः—(व्याख्या ४०६-१०); आप्ययन्ती (४.१०३ देखिये) स्तन्योपभोगावस्थपुत्रिका स्त्री। अब्रह्मचर्ये हि तस्याः स्तन्यम् क्षीयते। पालकस्य वा पुष्टये तत्स्तन्यम् न भवति (व्याख्या)।

६. = पोषधिका, ४.२८ अत्थसालिनी, पृ० ९८ का सारखा, ह्यू नत्सङ्ग "जब स्त्री ने उपवास का परिग्रह किया है"। शिक्षासमुच्चय, पृ० ७६ एवमुपवासस्थासु···—जैनों के विवाह के नियमों पर 'उवासगदसाओ' की संस्कृत टीका देखिये, होअर्नले का संस्करण, पृ० ११।

[१५८] प्राणातिपात के सदृश—"संज्ञाविभ्रम से अन्यत्र" यह अपवाद काममिथ्याचार को भी लागू होता है; जब कोई परपरिगृहीता के साथ इस संज्ञाविभ्रम के कारण सम्भोग करता है कि वह मेरी स्त्री है तो, कर्म-पथ नहीं होता।[१]

एक दूसरे वस्तु पर विविध मत हैं—जब कोई अमुक की स्त्री को अमुक अन्य की स्त्री करके ग्रहण करता है तो कर्म-पथ होता है या नहीं। कुछ के अनुसार, हाँ, क्योंकि परपरिगृहीता, कर्म के प्रयोग का अधिष्ठान हुई है, परपरिगृहीता का परिभोग भी है।

दूसरों के अनुसार, नहीं, जैसा प्राणातिपात में है जब आश्रय के विषय में संज्ञाविभ्रम होता है; प्रयोग की वस्तु परिभोग की वस्तु नहीं है।[२] किसके प्रति भिक्षुणीगमन काममिथ्याचार है ? जनपद के स्वामी के प्रति। उसके लिए यह मर्षणीय नहीं है।[३] जब स्वयं जनपद के स्वामी के लिये उसकी नियमवती स्त्री अगम्य है तब भिक्षुणी के लिये तो और भी कारण है।

एक बालिका के साथ अब्रह्मचर्य उसके समीप काममिथ्याचार है जिसके साथ उसकी सगाई हुई है और यदि उसकी सगाई नहीं हुई है तो उसके रक्षिता के समीप; यदि उसका कोई दूसरा रक्षिता नहीं है तो अन्ततः राजा के समीप (अन्त तो राज्ञः) काममिथ्याचार है—(विभषा ११३.८)।

७४ सी डी. जो अर्थ को समझता है उसके साथ आलाप का वाक्य मृषावाद है यदि अन्य संज्ञा से वह कहा गया हो।[४]

१. जो अर्थ को समझता है उसके साथ किया हुआ आलाप मृषावाद है, यदि उसका चित्त व्यक्त अर्थ से (अर्थवाद) भिन्न है। जब वक्ता अर्थ का ज्ञान नहीं रखता तब ऐसा वाक्य संभिन्न प्रलाप है।

२. वाक्य (२.४७ ए-बी.) कभी अनेक व्यञ्जनों से मिलकर बनता है। कौन कर्म-पथ होगा ? कौन मृषावाद होगा ?

---

१. ह्यूयन्त्सङ्ग में इतना अधिक है—"और विपरीत। वही यदि मार्ग, कालादि के विषय में विभ्रम हो।"

२. अन्यस्मिन् वस्तुनि प्रयोगोऽभिप्रेतोऽन्यच्च वस्तु परिभुक्तम्—(व्याख्या ४०६-१४)

३. तस्य हि तन्न मर्षणीयम्—(व्याख्या ४०६-१८)।

४. परमार्थः—"अन्य-चित्त—उक्त यह वाक्य जानने वाले को अर्थ (है) मृषावाद।" (जैसा अदत्तादान की कारिका में है—"परस्व का अपहरण")। यह दिखाता है कि हमारी कारिका का अन्तिम शब्द 'मृषावाद' है। हम उद्धार करते हैं—अन्य संज्ञोदितं वाक्यम् अर्थाभिज्ञे मृषा वचः।"

[१५९] अन्तिम जो विज्ञप्ति है और जो अविज्ञप्ति-सहगत है; अथवा वह व्यञ्जन जिसके श्रवण से अर्थ जानने में समर्थ होता है, पूर्व के व्यञ्जन मृषावाद के प्रयोग हैं।

३. अर्थाभिज्ञ ("वह सत्त्व जो अर्थ जानता है")—इस शब्द का अर्थ कैसे करना चाहिये ? क्या उस काल से अभिप्राय है जिस काल में वक्ता अर्थ का ज्ञान करता है; क्या वक्ता से अभिप्राय है जो अर्थ जानने में समर्थ है ? (अभिज्ञातुं समर्थः— व्याख्या ४०६.१९)। प्रथम पक्ष में आप स्वीकार करते हैं कि जब वक्ता ने अर्थ जान लिया है तब कर्म-पथ होता है। इससे यह अनुगत होता है कि अविज्ञप्ति ही कर्मपथ है। क्योंकि वाक्य का अर्थ मनोविज्ञान का विषय है और मनोविज्ञान श्रोत्रविज्ञान के अनन्तर होता है और वाग्-विज्ञप्ति श्रोत्रविज्ञान के साथ निरुद्ध होती है। इसलिए जिस काल में वक्ता अर्थ से अभिज्ञ होता है उस काल में विज्ञप्ति और नहीं होती। दूसरे पक्ष में यह कठिनाई नहीं उपस्थित होती। किन्तु वक्ता 'अर्थ से अभिज्ञ होने में समर्थ' हो, इसके लिए क्या चाहिये ?[१]

जो पुद्गल भाषा का ज्ञान रखता है और जिसमें श्रोत्रविज्ञान उत्पन्न हुआ है. वह 'अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ' है। वचन का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये जिसमें दोष न हो।

सूत्र[२] की शिक्षा है कि १६ 'व्यवहार' हैं; ८ अनार्य हैं।

---

१. शुआन्-चाङ्—'अर्थाभिज्ञ' इस शब्द का किस काल से सम्बन्ध है ? क्या यह अर्थ है—"जो [मनोविज्ञान] से श्रुत को प्रत्युत्पन्न में जानता है ?" क्या इसका यह अर्थ समझना चाहिये—"जो प्रत्युत्पन्न में उसके जानने की सामर्थ्य रखता है जिसे वह [श्रोत्रविज्ञान से] प्रत्युत्पन्न में सुनता है ?"—इन दो निर्णयों के क्या परिणाम हैं ? पहले पक्ष में वाक्यार्थ मनोविज्ञान का विषय है और वाग्विज्ञप्ति [जो श्रोता को भ्रम में डालती है] श्रोत्रविज्ञान (जो विभ्रान्त होता है) के साथ निरुद्ध होती है। इसलिए अविज्ञप्ति ही कर्म होगी [क्योंकि मनोविज्ञान अभी उत्पन्न नहीं हुआ है]। दूसरे पक्ष में यह आक्षेप अयुक्त है किन्तु जो अर्थ को ग्रहण नहीं करता उसके लिये उस काल में जब वह शब्द श्रवण करता है, यह कैसे कहा जा सकता है कि वह जानने में समर्थ है ? सुष्ठु विवेचन यह है कि उसे 'जानने में समर्थ' कहते हैं जिसमें विभ्रम-हेतुओं के अभाव में श्रोत्रविज्ञान उत्पन्न हो चुका है। वचन का विवेचन इस प्रकार करना चाहिये जिसमें दोष न हो।

२. दीर्घ ८,१३; विभाषा, १७१,७; अङ्गुत्तर, २·२४६,४·३०७; मज्झिम, ३·२९; दीघ ३·२३२—चत्तारो अनरियवोहारा: अदिट्ठे दिट्ठवादिता, अस्सुते सुतवादिता, अमुते मुतवादिता, अविञ्ञाते विञ्ञातवादिता। अपरेऽपि चत्तारो अनरियवोहारा—दिट्ठे अदिट्ठ-वादिता...(मज्झिम १·१३५ से तुलना कीजिये)। यह अक्षरशः विज्ञानकाय, फोलियो १२ बी. में उद्धृत है। विज्ञानकाय में पालि के समान 'मत' के अनन्तर 'विज्ञान' है। बौद्धधर्म पुराने शब्दों (उपनिषद्) का प्रयोग करता है और इनका व्याख्यान करता है।

[१६०] विना देखे कहना कि मैंने देखा है, विना सुने, जाने, अनुभव किये कहना कि मैंने सुना है, जाना है, अनुभव किया है; देखकर कहना कि मैंने नहीं देखा है; सुनकर, जानकर, अनुभवकर कहना कि मैंने नहीं सुना है, नहीं जाता है, नहीं अनुभव किया है—८ आर्य हैं—यदि नहीं देखा है तो कहना कि नहीं देखा है... ।

प्रश्न होता है कि इन आख्याओं का=दृष्ट, श्रुत, विज्ञात, मत का क्या अर्थ है।

चक्षुः श्रोत्रमनोविज्ञानानुभूतं त्रिभिश्च यत् ।
तद् दृष्टश्रुतविज्ञातमतं चोक्तं यथाक्रमम् ॥७५॥

७५. जो चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, मनोविज्ञान, तीन विज्ञानों से अनुभूत होता है वह यथाक्रम दृष्ट, श्रुत, विज्ञात मत कहलाता है।[१]

जो चक्षुर्विज्ञान से अनुभूत होता है उसे 'दृष्ट' कहते हैं...जो घ्राण, जिह्वा और कायविज्ञान से अनुभूत होता है उसे 'मत' कहते हैं।

यह अन्तिम निर्वचन कैसे युक्त है ?

वैभाषिकों का कहना है कि गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य अव्याकृत होने से मृतकल्प हैं; इसलिए इनकी 'मत' आख्या है।

सौत्रान्तिक—आप किस प्रमाण के अनुसार यह कहते हैं कि 'मत' शब्द से घ्रात आस्वादित, स्पष्ट समझना चाहिए।

वैभाषिक—सूत्र के अनुसार, युक्ति से।

[१६१] सूत्रवचन है :—हे मालकी मातर् ![२] चक्षु से जो रूप तुमने नहीं देखे

---

१. तिब्बती का अनुवाद—[चक्षुः श्रोत्रमनोविज्ञानानुभूतं त्रिभिश्च यत् ।
तद् दृष्टश्रुतविज्ञातमतं उक्तं यथाक्रमम् ॥]

मत, मृतकल्प, अत्थसालिनी, ३३८ से तुलना कीजिये—स्वेन्द्रियैः प्राप्तामता इत्याचार्यसङ्घभद्रः ।

२. व्याख्या, ४०७.८, (पाठ कुछ कम स्पष्ट है) में माहकीमातर् है। संयुत्त, ४.७२ में इस सूत्रान्त का श्रोता मालुक्यपुत्त (मालुंक्या) है। परमार्थ का पाठ 'मालकीमातर्' मालूम होता है; पु-कुआंग : मान् मू (मान=लम्बे बाल आदि) इसमें पाठ माला-मालर् या अलकी-मात्र या मल्लिका मातर् (महाव्युत्पत्ति २४०,१४ man-hoa=मल्लिका) मालूम होता है; विभिन्न मल्लिका हैं, कर्न, मैन्युअल, पृ० ४०—ह्यूनत्सङ्ग ta mow जिसकी माता बड़ी है (महल्लकी मलिक १)" शरच्चन्द्र दास के अनुसार तिब्बती भाषान्तर 'महिला' (मह से) शब्द धार्मिकोत्सव [मैंने सिलवांलेवी जे० प्रिजीलुस्की की सूचनाओं का इस टिप्पणी में उपयोग किया है।]

मज्झिम १·१३५, ३·२६१, दिट्ठं सुतं मुतं विञ्ञातं में 'पत्तं परियेसितं अनुविचरितं मनसा (न उपादियिस्सामि न च मे तन्निस्सितं विञ्ञाणं भविस्सति)' जोड़ता है।

हैं, जिन्हें पहले तुमने नहीं देखा था, जिनको तुम नहीं देखते हो, जिनके विषय में तुम नहीं सोचते हो कि मैं "इन्हें देखूं" क्या तुम समझते हो कि इनके कारण तुम में छन्द, राग, काम, प्रेम, आलाप, निकान्ति, अध्येषणा होते हैं[1] ? नहीं, भन्ते ! श्रोत्र से जिन शब्दों को तुमने नहीं सुना है...जिन धर्मों को तुमने मनस् से विज्ञात नहीं किया है क्या इनके कारण तुम में छन्द अध्येषणा होती हैं ? नहीं, भन्ते। हे मालकीमातर् ! जो दृष्ट है उसके विषय में तुम्हें दृष्टमात्र की प्रतीति होगी; श्रुत, विज्ञात, मत के विषय में तुम्हें श्रुतमात्र, विज्ञातमात्र, मतमात्र की प्रतीति होगी (मतमात्रं भविष्यति)।

दृष्ट, श्रुत, विज्ञात का अपदेश रूप, शब्द, और धर्म इन तीन विषयों में यथाक्रम होता है, इसलिये गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य में मत की आख्या होती है (बुद्धघोस का मत विसुद्धिमग्ग, ४५१)। यदि यह इष्ट न हो तो भगवत् के इस उपदेश में दृष्टादिभाव के वाह्य होने से गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य-सम्बन्धी व्यवहार का उल्लेख नहीं है।

सौत्रान्तिक—इस सूत्र का वह अर्थ नहीं है जो आप करते हैं और 'मंत' आख्या का जो व्याख्यान आप करते हैं उसका यह समर्थन नहीं करता। भगवत् यहाँ दृष्ट, श्रुत, विज्ञात मत, इन चार व्यवहारों के लक्षण वताना नहीं चाहते। उनका स्पष्ट विचार है कि दृष्टादि चतुर्विध व्यवहार में, जिनमें से प्रत्येक प्रकार रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, धर्म इस षड्विध विषय को आलम्वन बनाता है, तुमको दृष्टादिव्यवहारमात्र होगा और प्रिय-अप्रिय निमित्त का विषय में अध्यारोप नहीं होगा। इसलिए दृष्ट, श्रुत, मत, विज्ञात से क्या समझना चाहिये ?

[१६२] सौत्रान्तिकों के अनुसार जो पाँच रूपीन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, वह दृष्ट है; जो दूसरे से आगमित होता है वह श्रुत है; जो अव्यभिचारी अनुमान (युक्त्यनुमान-व्याख्या ४०७.१९) को अभिप्रेत है वह मत है; जो मन-इन्द्रिय से प्रत्यक्षीभूत होता है वह विज्ञात है।[2] इसलिये रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, यह ५ प्रकार के विषय दृष्ट, श्रुत,

---

१. संयुत्त, ४.७२ में केवल तीन समानार्थक शब्द हैं—अथि ते तत्थ छन्दो वा रागो वा पेमन्ति। नो हेतं भन्ते। इसके आगे के श्लोक ४.७२-७६ जो थेरीगाथा, ७९४ में हैं, संघभद्र ने दिये हैं। ह्यू नत्सङ्ग में आलय और निकान्ति हैं; धम्मपद, ४११ और ३४८ की अर्थकथा (फोसबोल, पृ० ४१३) से तुलना कीजिये —आलयं निकन्तिं अज्झेसनं परिबुद्धानं, गाहं परामासं तण्हं।

ह्यू नत्सङ्ग में राग के स्थान में तृष्णा है और वह तृष्णा को प्रेम के बाद रखते हैं।

२. यत् पञ्चभिरिन्द्रियैः प्रत्यक्षी (कृतम्) तद् दृष्टम्। यत् परत आगमितं तच्छ्रुतम्। यद्युक्त्यनुमानतो रुचितम् (=अभिप्रेतम्) तन्मतम् [यन् मनः प्रत्यक्षीभूतय (?) भावनाधिगतम् प्रत्यात्मवेद्यं तद् विज्ञातम्] (व्याख्या ४०७-१७) परमार्थ और ह्यू न् त्सङ्ग में केवल इतना है; यन् मनः प्रत्यक्षीभूतम् तद् विज्ञातम्।

मत, विज्ञात हैं। षष्ठ विषय धर्म दृष्ट नहीं है—यह चतुर्विध व्यवहार सूत्र को दृष्ट है। इसलिये यह अयुक्त है कि जिस विकल्प में 'मत' गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य की आख्या नहीं है, सूत्र में गन्धादि के व्यवहार के अभाव का प्रसङ्ग होगा। वैभाषिकों की युक्ति, युक्ति नहीं है।

पूर्वाचार्यों के[2] अनुसार 'दृष्ट' उसे कहते हैं जिसका प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय से करते हैं; 'श्रुत' उसे कहते हैं जो श्रोत्रेन्दिय से श्रुत होता है और दूसरे से आगमित होता है—(परतश्चागमितम् ४०७-२७); 'मत' उसे कहते हैं जो स्वस्वीकृत, स्वानुभूत होता है;[3] 'विज्ञात' उसे कहते हैं जो प्रत्यात्म प्रति संवेदित है, (प्रत्यात्मं प्रतिसंवेदितम्, सुखादिवेदना) जो समाहित अवस्था में अधिगत होता है।

[१६३] जो काय[4] से, वाक् से नहीं, अन्यथा अर्थ[1] आगमित करता है, उसका मृषावाद कैसे है ?

हाँ, शास्त्रवचन है :—"क्या कोई विना कर्म किये, बिना कायिक पराक्रम के प्राणातिपातावद्य से स्पृष्ट हो सकता है ? हाँ, जब वह वाक् से पराक्रम करता है।[2] क्या बिना वाक्-कर्म के कोई मृषावाद के अवद्य से स्पृष्ट हो सकता है ? हाँ, जब कोई काय से पराक्रम करता है। क्या कोई बिना कायिक या वाचिक कर्म के प्राणातिपातावद्य, मृषावादावद्य से स्पृष्ट हो सकता है ? हाँ, यथा मन—प्रदोष[3] से ऋषियों का प्राणातिपात

२. योगाचार (व्या० ४०७-२ ए) यत् प्रत्यक्षीकृतम् चक्षुषा...(व्या० ४०७-२६)।

३. (व्याख्या ४०७-२७)—प्रत्यात्मं प्रतिसंवेदितम् सुखाद्य समाहितेन चित्तेन। अधिगतं समाहितेन। लौकिकेनैव न लोकोत्तरेण लौकिकव्यवहारधिकारात्। जिसका प्रत्यक्ष अनास्रव या लोकोत्तर ध्यान में होता हैं वह 'विज्ञात' नहीं है किन्तु ज्ञात है।

४. इस परिच्छेद में जिस प्रश्न का विचार हुआ है उसका विचार बुद्धघोस ने किया है (अत्थसालिनी, पृ० ९०-९५)। इन दो विवेचनों में कई समानताएँ हैं—भिक्षु तूष्णीभाव से मृषावाद करता है, ऋद्धि से समन्वागत गर्भ की हत्या करता है; इसलिये वाक् और काय सम्बन्ध मन से हो सकते हैं।

१. यः कायेनान्यथार्थम् गमयति। (व्याख्या ४०८-१)

२. वाचा पराक्रमेत=वाचा पर मारयेत्—(व्याख्या ४०८-२) जब वाणी से बध करता है।

३. यह दण्डकारण्य आदि की कथा है जो ऋषियों के मनःप्रदोष से निर्जन अरण्यभूत हो गये (मज्झिम. १.३७८ वसुबन्धु, बिंशक, २० म्यूसिओं, १९१२-१ में उपालिसूत्र उद्धृत है)। यह मनस्कर्म की गुरुता को सिद्ध करता है (नीचे ४.१०५ ए बी देखिये),; मिलिन्द, पृ० १३०—सद्धर्मस्यत्युपस्थान में इस कथा के उल्लेख के लिये और रामायण के उद्धरण के लिए सिलवां लेवी देखिये। रामायण की कथा के लिये जे० एस० १९१८, १.९७ देखिये। रामायण में ऋषि-उशनस् के शाप के कारण दण्डकारण्य निर्जन हो गया।

से योग होता है। भिक्षभिक्षुपोपध में तूष्णींभाव से मृषावादी होता है।"[४]—(विभाषा, ११८.१९)।

किन्तु हम पूछते हैं कि ऋषि और भिक्षु का कर्मपथ, जो विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति दोनों होगा, कैसे सिद्ध होता है? ऋषि और भिक्षु काय—वाक् से पराक्रम नहीं करते, इसलिए विज्ञप्ति नहीं है और कायावचरी अविज्ञप्ति वहाँ नहीं हो सकती जहाँ विज्ञप्ति का अभाव है (४.२ ए)—इसका समाधान करने का यत्न होना चाहिये।[५]

वसुवन्धु विंशक २० सी-डी० में सिद्ध करते हैं कि अमनुष्य बीच में नहीं पड़ते (नीचे टिप्पणी ५ देखिये)। आरण्य की कथा, सिलवां लेवी, इंडियन नोट्स; उपालिसूत्र, जे० ए० १९२५, १.२६-३५—टोवीगिरिन, ३५।

४. भास्य—पोषधनि दर्शनम् चात्र—वास्तव में भिक्षुपोपध में विनयधर पूछता है (अनुश्राव) (व्याख्या ४०८.७) "क्या आप परि शुद्ध हैं?" (कच्चित् [स्] थ परिशुद्धाः) यदि भिक्षु को कोई आपत्ति है (सतीमापत्तिम्) और वह उसे आविष्कृत नहीं करता और तूष्णींभाव से अधिवासना करता है (अधिवासपति) तो वह मृषावादी होता है (मृषावादी भवेर)—एल० फिनो, जे० ए० १९१८, पृ० ४७६,४८८ के प्रातिमोक्ष के संस्करण की इस पाठ से तुलना कीजिये—"तत्रायुष्मतः पृच्छामि कच्चित् स्थान परिशुद्धाः"—महावग्ग, २.३।

५. भाष्य—कर्त्तव्योऽत्र यत्न; कर्तव्यः समाधिः (व्याख्या ४०८.१२)—"इस कठिनाई का समाधान वैभाषिकों को करना चाहिये।"

संघभद्र समाधान करते हैं: अर्थतः ऋषि प्राणातिपात के आज्ञाकारक (आज्ञापितारः) [आज्ञापयितारः—व्याख्या ४०८,१४] होते हैं। अमनुष्य सत्वों के विनाश करने का उनका पापाशय (सत्वपरित्यागप्रवृत्तपापाशय)जानकर (अवेत्य) सत्वों के विरुद्ध काय-पराक्रम करते हैं क्योंकि वह ऋषियों में अभिप्रसन्न हैं। इस काय-पराक्रम के कारण ऋषियों का कर्मपथ उत्पन्न होता है। ऋषि अपना आशय कैसे विज्ञापित करते हैं? (विज्ञप्ति) मनः प्रदोष के कारण अवश्य ही उनमें काय-वाग्विकार होते हैं; यदि वे शाप देते हैं तो अवश्य ही कायवाक् की चेष्टा होती है। अन्य आचार्य कहते हैं कि कामधातु की सर्व अविज्ञप्ति अवश्यमेव विज्ञप्ति के अधीन नहीं होती। यथा फलप्राप्ति के साथ ही पञ्चक की प्रातिमोक्ष संवर की उत्पत्ति होती है—(ऊपर पृ.६०)। इसी प्रकार कोई अकुशल अविज्ञप्ति भी विज्ञप्ति के बिना हो सकती है। क्या आप यह कहेंगे कि पञ्चक ने पूर्व विज्ञप्ति की थी? इतरत्र भी यही होगा, ऋषियों के सम्बन्ध में इतना ही कहना है। पोषध-मृषावाद के सम्बन्ध में यह कहना है कि अपरिशुद्ध भिक्षु सङ्घ में प्रवेश करता है, बैठता है, अपना ईर्यापथ कल्पित करता है (स्वमीर्यापथं कल्पयति, व्याख्या ४०८,२३), या किञ्चित् भाषण करता है। यह उसकी पूर्व विज्ञप्ति है [उस क्षण के पूर्व की जिस क्षण में वह तूष्णींभाव से अधिवासना करता है [(व्याख्या—४०८.१३) सङ्घभद्र, (२३.५, ७ ए)।

पैशुन्यं क्लिष्टचित्तस्य वचनं परभेदने।
पारुष्यमप्रियं सर्वं क्लिष्टं संभिन्नलापिता ॥७६॥

[१६४] ७६ ए-बी. भेद कराने के लिये क्लिष्ट चित्त का भाषण पैन्शुय है।[१]

जो भाषण दूसरों में भेद उत्पन्न करने के लिये, उनमें शत्रुता उत्पन्न करने के लिये, क्लिष्ट चित्त से होता है वह पैशुन्य है।

यह नियम यहाँ भी लागू है :—"जब वक्ता बुद्धिपूर्वक कहता है, जब आश्रय के विषय में विभ्रम नहीं हैं।"

७६ सी० पारुष्यवचन अप्रियवचन है।[२]

क्लिष्ट चित्त से दिया हुआ भाषण, जो अप्रिय है, जिसके प्रति दिया गया है उसको अभिज्ञात है, जिसके प्रति वह भाषण करना चाहता है उसी को उद्दिष्ट है—यह पारुष्य वचन[३] है।

[१६५] ७६ सी-डी. सर्व क्लिष्टवचन संभिन्नप्रलाप[१] है।

कारिका में है "सर्वं क्लिष्टम्" किन्तु यहाँ वचन से अभिप्राय है सर्व क्लिष्टवचन संभिन्नप्रलाप है। जिस पुद्गल का हमसे योग होता है वह पुद्गल संभिन्नप्रलापी होता है। इसलिये कारिका में से 'भिन्नप्रलाप' के स्थान में 'भिन्नप्रलापिता' है।

अतोऽन्यत् क्लिष्टमित्यन्ये लपनागीतनाव्यवत्।
कुशास्त्रवद् अभिध्या तु परस्वविषमस्पृहा ॥७७॥

७७ ए. अन्यवादियों के अनुसार संभिन्नप्रलाप अन्य से भिन्न क्लिष्टवचन है।[२]

मृषावाद, पैशुन्य और पारुष्य क्लिष्टवचन हैं; जो क्लिष्टवचन मृषावाद, पैशुन्य, पारुष्य से भिन्न है वह 'संभिन्नप्रलाप' कहलाता है।

---

१. पैशुन्यम् [परभेदाय क्लिष्टचित्तस्य भाषणम्]; अत्थसालिनी, पृ० ९९

२. पारुष्यम् [अप्रियम्]

३. अत्थसालिनी, पृ० १०० में 'फरुसा वाचा' शाप है, यह वह वचन है जिससे "कोई अपने या पराये का अप्रिय करता है" (याप अज्ञानं पि परं पि फरुसं करोति)—बुद्धघोस अन्यथाचित्त शाप का उदाहरण देते हैं; माता उस बच्चे को जो उसके मना करने पर भी वन को जाता है चाहती है कि भयानक महिषी के नीचे वह कुचल जाय या चाहती है कि उसके बच्चों पर मकान गिर पड़े; अध्यापक चाहता है कि उसके आलसी विद्यार्थी मर जावें। यहाँ 'फरुसा वाचा' नहीं है। इसके विपरीत जब कोई उससे कहता है 'अच्छी तरह सोओ' जिस का वह वध करने जाता है तो यह 'फरुसा वाचा' है।

१. सर्वं क्लिष्टं भिन्नप्रलापिता—मनु, १२.७ अनिबद्धप्रलाप।

२. तिब्बती का अनुवाद=[ततोऽन्यत् क्लिष्टमन्येतु]

७७ बी-सी यथा लपना, गीत, नाट्य; यथा कुशास्त्र ।[३]

यथा कोई भिक्षु, भिक्षा-लाभ आदि की कामना से गर्वोक्ति करता है ।[४]

[१६६] कोई चापल्य[५] से गीत गाते हैं; नाटक या नृत्य में नर्तक जनता को प्रसन्न करने के लिये सम्भिन्नप्रलाप[६] करते हैं; कुदर्शनों को स्वीकार कर तीर्थिक कुशास्त्र का पाठ करते हैं। परिदेव और सङ्गणिका[१] के साथ यह सब क्लिष्ट चित्त के आलाप होते हैं और मृषावाद, पैशुन्य और पारुष्य से जन्य हैं ।

किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि चक्रवर्ती महाराज के काल में ऐसे गीत होते हैं जो सम्भिन्नप्रलाप नहीं है ? इस काल में गीत नैष्क्रम्य से, न कि कामगुण से[२] प्रभावित होते हैं। अथवा एक-दूसरे मत के अनुसार इस काल में सम्भिन्नप्रलाप होता है क्योंकि आवाह, विवाहादि का अभिलाप होता है[३], किन्तु यह सम्भिन्नप्रलाप इस नाम का कर्म-पथ नहीं होता ।

---

३. लपनागीतनाट्यवत् । कुशास्त्रवत् । (व्याख्या ४०८, ३२)

४. यह भिक्षु मिथ्याजीवी है (४.८६ बी)। व्याख्या में 'मिथ्याजीव' का लक्षण दिया है—कुहना लपना नैमित्तिकता नैष्पेषिकता । वोगिहारा (बोधिसत्त्वभूमि. लीपजिग, १९०८) इन चार आख्याओं पर एक विस्तृत टिप्पणी देते हैं और आख्या में यहाँ दिये हुए 'लपना' शब्द के लक्षण को उद्धृत करते हैं—लपनां करोतीति लाभ-यशस्काम तथा सेवाभिद्योतिकां वाचं निश्चारयतीत्यर्थः (व्याख्या ४०८, ३३)। इसलिये लपना का अर्थ 'चाटुकारिता' करना चाहिये जैसा परमार्थ और ह्यू न्त्संग करते हैं। किन्तु वोगिहारा के उद्धरण नंन्जिओ १२९६ आदि) दिखाते हैं कि यहाँ उस भिक्षु से अभिप्राय है जो अपने गुणों का आलाप करता है। मज्झिम ३.७५, विभंग, ३५२ की विसुद्धिमग्ग की टीका, पृ० २२ आदि, जे० पी० टी० एस०, १८९१, ७९ ।

५. तिब्बती शब्द = लौल्य [शिक्षा समुच्चय, पृ० ६९]

६. तिब्वती वाक्य = नर्तक नृत्य में जनता का मनोरञ्जन करने के लिये सम्भिन्नप्रलाप करते हैं ।

१. महावस्तु, २.३५५ से सङ्गणीकारामाः..., दिव्य, ४६४,१९, मज्झिम, ३.११०; चिल्डर्स, पृ० ४४७ अत्थसालिनी, पृ० १०० में 'सम्फप्पलाप' के उदाहरण स्वरूप भारतयुद्ध और सीताहरण का पाठ दिया है ।

२. तिब्बती भाषान्तरः "...नैष्क्रम्य से समन्वागत हैं; तीर्थिकों के मन्त्र से समन्वागत नहीं हैं", ह्यू न्त्संग—"नैष्क्रम्य करते हैं, नैष्क्रम्य का उत्पाद करने में समर्थ हैं; क्लिष्टचित्त का प्रयोग नहीं करते ।" परमार्थ मूल शब्द का अनुवाद 'मिथ्या रस' देते हैं । 'नेक्खम्म' 'सङ्गणिका' का प्रतिपक्ष है, मज्झिम, ३, ११०—देखिये २, पृ० १०६ ।

३. आवाहविवाहाद्यभिलापसद्भावाद् व्याख्याः—(४० ए, ३) आवाह = दारिकाया

७७. सी-डी. अभिध्या परस्व के स्वीकरण की विषम स्पृहा है।[4]

विषम उपायों से (विषमेण), अन्याय[5] से, बल से या छल से, परस्व के स्वीकरण की स्पृहा—"परस्व मेरा हो!"[6]—यह अभिध्या नामक कर्मपथ है।

[१६७] एक-दूसरे के मत के अनुसार 'अभिध्या' से कामावचर सर्वतृष्णा समझना चाहिये क्योंकि पञ्चनीवरण सूत्र[1] कामच्छन्द के विषय में इस प्रकार कहता है—'अभिध्या ...का प्रहाण कर'।

किन्तु अन्य आचार्यों का अभिप्राय है कि चक्रवर्ती और उत्तरकुरु अभिध्या कर्म-पथ के आपन्न नहीं होते और तिस पर भी वह कामावचर-तृष्णा से विमुक्त नहीं हैं। हम स्वीकार करते हैं कि कामावचर की सर्वतृष्णा अभिध्या है। किन्तु सब अभिध्या कर्मपथ नहीं होती। दुश्चरितों में जो औदारिक होते हैं वही कर्म-पथ में संगृहीत होते हैं, सब नहीं (४. ६६ बी)।

व्यापादः सत्त्व विद्वेषो नास्तिदृष्टिः शुभाशुभे।
मिथ्यादृष्टिस्त्रयोह्यत्र.पन्थानः सप्त कर्म च ॥७८॥

दारकगृहागमनम्; विवाह = दारकस्य दारिकागृहागमनम्; अथवा दूसरों के अनुसार, आवाह = प्रवेशनक (Free union) विवाह = परिणमन; चिल्डर्स —आवहन, विवाहन, सेना, पियदासि, १.२०३ (पुत्र या दुहिता का विवाह) से तुलना कीजिये।—महाव्युत्पत्ति, २२३, २४६-४७ (आवाह = विवाह में कन्यादान; विवाह = कन्या-परिग्रह); २८१, २६१-२६२ जहाँ इसके विपरीत अर्थ दिया है।

४. अभिध्या या परस्वे विषमा स्पृहा।

५. विषमेणान्यायेनेत्युद्देशनिर्देशरूपौ पर्यायौ। (व्याख्या ४० ए ६)।

६. अत्थसालिनी, पृ० १०१—अहो वत्त इदं ममऽस्सा ति।

१. परमार्थ और ह्यू न्त्संग का यह अनुवाद है।

नीवरणानां अधिकारेण कामच्छन्दं अधिकृत्य...सोऽभिध्यां लोके प्रहाय विगताभिध्येन चेतसा बहुलं विहरति। व्यापादं स्त्यानमिद्धं औद्धत्यकौकृत्यम् विचिकित्सां लोके प्रहाय तीर्णकांक्षो भवति तीर्णविचिकित्सोऽकथंकथी कुशलेषु धर्मेषु। स पञ्चनीवरणानि प्रहाय... (व्याख्या ४०६. ७) संयुक्त, २६, ३, दीघ, ३.४६, मज्झिम, ३.३ अङ्गुत्तर, २.२१० विभङ्ग, पृ० २५२ में उद्धृत और व्याख्यात, जहाँ अभिध्या का व्याख्यान है; राग सराग आदि। इस सुत्र के अनुसार कामच्छन्द जो प्रथम नीवरण है, उसका पर्यायवाची अभिध्या है। नीवरणों पर कोश, ५.४६ देखिये।

७८ ए. व्यापाद सत्वों के प्रति द्वेष है ।[2]

यह सत्वों के प्रति द्वेष है जिसके कारण कोई दूसरे का अनिष्ट-चिन्तन करता है ।[3]

७८ बी-सी. न शुभ है, न अशुभ, यह नास्तिदृष्टि मिथ्यादृष्टि है ।[4]

[१६८] जैसा सूत्र में कहा है—"न दान है, न दृष्टि, न होम, न सुचरित, न दुश्चरित......लोक में अर्हत् नहीं हैं ।" जैसा इस सूत्र से प्रदर्शित होता है मिथ्यादृष्टि कर्मफल-आर्य की अपवादिका है ।[1] कारिका में आदिमात्र दर्शित है ।

१० अकुशल कर्म-पथों का यह निर्वचन है ।

कर्म-पथ इस शब्द का क्या अर्थ है ?

---

२. =[व्यापादः सत्वेषु द्वेषः] मनु, १२.५ मनसानिष्टचिन्तनम् ।

३. अत्थसालिनी, पृ० १०१—परविनासाय मनोपदोसलक्खणो...अहो वतायं उच्छिज्जेय्य विनस्स्येय्याति ।

४. नास्तिदृष्टिः शुभाशुभे । मिथ्यादृष्टिः (व्याख्या ४०९. २८)

आथिकवाद 'नास्तिदृष्टि' का प्रतिपक्ष है (मज्झिम, १.५१५ जैसा भाष्य बताता है 'मिथ्यादृष्टि' से पुग्गलपञ्ञत्ति की 'दिट्ठि-विपत्ति' समझना चाहिये । इस वाद की निन्दा सूत्र में की है; इसे अजितकेसकम्बलि का वाद बताया है (दीघ, १.५५, मज्झिम, १.५१५, संयुक्त, १६.१, ज्ञानप्रस्थान, २०.५, विभाषा ९८.१, पुद्गलप्रकरण, ह्यूनत्संग का अनुवाद, ३० हमने ४.६६ ए. में देखा है कि यह विपर्यास अकुशल क्यों है ।

मिथ्यादृष्टि, मिच्छादिट्ठि नियता और सामान्यतः दृष्टियों पर ४.१० (ऊपर पृ० ३६) ७९ सी. ८० डी. ५७ देखिये ।

पालि कथावत्थु, १४. ८-९ जिसकी अर्थकथा मुख्यतः मज्झिम, १.३८८ संयुत्त, ३.७३, ४.३०७; अङ्गुत्तर, २.३१ को उद्धृत करती है, जहाँ मिच्छादिट्ठि से शीलव्रतपरामर्श (कोश ५.७) अभिप्रेत है जिससे नरकोपपत्ति या तिर्यक्योनि में उपपत्ति होती है (इसी प्रकार थेरागाथा १०९१ की अर्थकथा, उस सत्व की गति के विषय में जो विश्वास करता है कि नर स्वर्ग में उपपन्न होते हैं) । किन्तु अत्थसालिनी, पृ० ३५८, 'मिथ्यादिट्ठि नियता' (=अभिधर्म का 'नास्तिदृष्टि शुभाशुभे') और अन्य मिच्छादिट्ठियों में (नीचे ४.९६ पर टिप्पणी देखिये) भेद करती है और पृ० १०१ में उसकी यह शिक्षा है कि केवल कर्मादि के अपवाद से 'मिच्छादिट्ठि' के 'कम्मपथ' की निष्ठा होती है, अन्य मिथ्यादृष्टियों से नहीं होती । एक्सपाजिटर का अनुवादः...कम्मपथभेदोहोति न अञ्ञदिट्ठीहि, कम्मपथभेद का अर्थ 'कर्म-पथ की निष्ठा' होना चाहिये, जैसे वचीभेद-वचन, ।

१ साकल्येन (? क्रमेण) कर्मफलार्यापवादिका (व्याख्या ४०९. १ ए.)

७८ सी-डी. तीन पथ है; कर्म भी सात हैं।[२]

अभिध्या, व्यापाद, मिथ्यादृष्टि कर्म के पथ हैं, चेतनाख्य कर्म (चेतना ४, १ बी) के पथ हैं। वास्तव में जो चेतना इनसे संप्रयुक्त होती है (तत्संप्रयोगिराती, व्याख्या ४०६, ३१) वह इन अभिध्यादि की गति से वाहित होती है[३]; क्योंकि इनके बल से इनके अनुरूप यह अभिसंस्करण करती है (अभिसंस्करोति—चेतयते ; यह उनकी गति से वाहित होती है।

[१६६] प्राणातिपात और ६ अन्य अवद्य कर्म हैं क्योंकि उनका स्वभाव काय-वाक्कर्म का है; और वह चेतनाख्य कर्म के पथ भी हैं क्योंकि जो चेतना उनका समुत्थान करती है (तत्समुत्थानचेतनायाः, ४.१० व्याख्या ४१०.३) वह इन अवद्यों को अधिष्ठित कर प्रवृत्त होती है (तान् अधिष्ठाय प्रवृत्ते; व्याख्या ४१०.४)।

कर्मपथ शब्द का अर्थ इसलिये केवल कर्म का पथ है कि जब यह अभिध्यादि है;यह कर्म और कर्मपथ दोनों है (कर्म-कर्मपथश्च, व्याख्या ४१०,१८) "जब यह प्राणातिपातादि है। यह समास 'असरूपाणामप्येकशेषः' (व्याख्या ४१०.५ 'जब समास के पद भिन्न होते हैं तब भी एक शेष दृष्ट होता है" पाणिनि, १.२.६४) इस सूत्र से सिद्ध होता है।

प्राणातिपात-विरति आदि, अनभिध्या आदि कुशल कर्म-पथों की योजना भी इसी प्रकार होनी चाहिये।

प्रयोग और पृष्ठ कर्म-पथ क्यों नहीं माने जाते (४, ६६ बी-डी) ? क्योंकि मौलकर्म के लिए प्रयोग की प्रवृत्ति होती है; क्योंकि पृष्ठों की प्रवृत्ति मौलकर्ममूलक होती है।[१] इसके अतिरिक्त सुचरित और दुश्चरितों में कर्मपथ ही औदारिक हैं। अन्ततः कर्म-पथ

---

२. हम उद्धार कर सकते हैं—त्रयम् तत्रपथः। कर्मापि सप्तकम्।

विभाषा, ११३.२१ चेतना को कर्मपथ क्यों नहीं मानते ? चेतना कर्म है। जिसे कर्म-पथ कहते हैं उसी से चेतना का गमन होता है...जैसे राजपथ उसे कहते हैं जिससे राजा आता जाता है किन्तु राजा राज-पथ नहीं है...। जो धर्म-चेतना का सहभू है वह चेतना का पथ हो सकता है और इसलिये वह कर्म-पथ कहलायेगा। किन्तु जब कोई दूसरे से प्राणातिपात कराता है तो प्राणातिपात की आज्ञा और प्राणातिपात के बीच बहुत काल व्यतीत हो सकता है, प्राणातिपात की चेतना निरुद्ध हो गई है; कोई कैसे कह सकता है कि धर्म (प्राणातिपात कर्म) चेतना का पथ है ? हम इसलिये कहते हैं कि जो धर्म चेतना का सहभू हो सकता है वह कर्मपथ है। किन्तु दो चेतनाएँ सहभू नहीं हो सकतीं।

३. तेषां वाहेन वहति = तेषां गत्या गच्छति। (व्याख्या, ४०६,३१)।

१. जब प्रयोग या पृष्ठ कर्म-पथ होते हैं (ऊपर पृ० १४३) तब वह अपने ही स्वभाव के कारण ऐसा होते हैं, दूसरे कर्म के साथ उनका जो संयोग होता है उसके कारण नहीं।

वही कर्म हैं जिनके उत्कर्ष और अपकर्ष में आध्यात्मिक और वाह्य भावों का उत्कर्ष अपकर्ष लोक में होता है (४.८५,३.९९)।[२]

सौत्रान्तिक चेतना को मनस्कर्म नहीं मानते; उनके मत में अभिध्यादि (४·६५ सी-डी) से अन्यत्र मनस्कर्म नहीं है। वह फिर कैसे इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं जो अभिध्यादि को कर्म-पथ की संज्ञा देता है ? उन्हीं को इसका परिहार वताना चाहिये—४·१२-१३ से तुलना कीजिये]।

[१७०] परिहार शक्य है। अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि मनस्कर्म हैं और दुर्गति के पथ हैं; अथवा वह इतरेतर आवाहन करते हैं क्योंकि अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि का आवाहन करती है (वाव्यति, व्याख्या ४११·६) और यह अभिध्या का आवाहन करते हैं।

१० अकुशलकर्म-पथ कुशलधर्मों के विरुद्ध हैं, किन्तु—

मूलोच्छेदश् छेदहृष्टचा कामाप्त्युत्पत्तिलाभिकः।
फलहेत्वपवादिन्या सर्वथा क्रमशो नृषु ॥७९॥

७९ ए. नास्तिदृष्टि कुशलमूल का समुच्छेद करती है।[१]

अधिमात्रपरिपूर्ण[२] (४.७९ डी) इस नवें प्रकार की मिथ्यादृष्टि से कुशलमूल का समुच्छेद होता है।

आक्षेप—आप कहते हैं कि केवल मिथ्यादृष्टि से कुशलमूल का समुच्छेद होता है किन्तु शास्त्र[३] में कहा है कि "अधिमात्र अकुशल मूल कौन हैं ? जिन अकुशल मूलों से कुशलमूल समुच्छिन्न होते हैं; वह अकुशलमूल जिनका प्रथम प्रहाण होता है जब काम-वैराग्य का लाभ होता है।" इस शास्त्रवचन से सिद्ध होता है कि लोभादि अकुशलमूल कुशलमूल का समुच्छेद करते हैं।

उत्तर—केवल मिथ्यादृष्टि कुशलमूल का समुच्छेद करती है; किन्तु अकुशलमूल से मिथ्यादृष्टि उपनीत (अध्याहृत) होती है; इसलिये शास्त्र इन अकुशलमूलों में मिथ्यादृष्टि

---

२. येषां उत्कर्षापकर्षेणाध्यात्मिकबाह्यानाम् उत्कर्षापकर्षौ लोके भवतः—(व्याख्या ४१०, २९)।

१. ७९ ए-बी. इसका उद्धार इस प्रकार हो सकता है—मूलच्छेदोनास्ति दृशा। दूसरा पाद ८० ए के 'छिनत्ति' शब्द से सम्बन्धित है। कुशलमूलों का अत्यन्त समुच्छेद नहीं हो सकता (२.३६ सी-डी, अनुवाद पृ० १८४)।

२. अधिमात्रपरिपूर्णा = अधिमात्राधिमात्रा (व्याख्या ४११,९)

३. ज्ञानप्रस्थान, २,८ विभाषा, ३५,५।

के कर्म का उपदेश करता है; जैसे लोक में कहते हैं कि डाकू गांव को जलाते हैं क्योंकि वह आग लगाते हैं जो गाँव को जलाती है।

किन कुशलमूलों का समुच्छेद होता है ?

७९ बी. कामावचर औपपत्तिक मूल।[४]

[१७१] यह कामाप्त कुशलमूल हैं जिनका समुच्छेद उस समय होता है जब मूलों का कोई छेद करता है; क्योंकि जो मूलों का समुच्छेद करता है वह रूपधातु या आरूप्यधातु के कुशलमूलों से समन्वागत नहीं होता।

यदि ऐसा है तो प्रज्ञाप्ति के इस वचन का क्या अर्थ है (प्रज्ञाप्तिभाष्यं कथं तर्हि नीयते ३.२१७ से तुलना कीजिये) (व्याख्या ४११.१८)—"इस पुद्गल के त्रैधातुक कुशलमूल समुच्छिन्न हैं ?" (विभाषा, ३५.१४)—इस वचन का यह अभिप्राय है कि इस क्षण में ऊर्ध्व धातुओं के कुशलमूलों की प्राप्ति दूरीभूत हो जाती है और क्योंकि इस पुद्गल की सन्तति जो पूर्व इन प्राप्तियों का भाजन थी, अब कामधातु के कुशलमूल के समुच्छेद से अभाजनत्व को प्राप्त होती है।

यहाँ उपपत्ति लाभिक कुशलमूल से अभिप्राय है—क्योंकि जो सन्तति कुशलमूल का समुच्छेद करती है वह पूर्व ही प्रायोगिक कुशलमूल से परिहीण हो चुकी होती है (प्रायोगिक, २.७१ बी, अनुवाद पृ० ३२०, विभाषा, ३५,१२)

जो मिथ्यादृष्टि मूलों का समुच्छेद करती है उसका विषय क्या है ?

७९ सी. वह मिथ्यादृष्टि जो हेतु-फल की अपवादिका है।[१]

हेतु का अपवाद "न कुशल कर्म है, न अकुशल कर्म।"

फल का अपवाद—"कुशल और अकुशल कर्म का विपाक-फल नहीं है।" (४.७८ बी-सी ५ ७)।

एक दूसरे मत के अनुसार यह दो मिथ्यादृष्टियाँ जो हेतुफल की अपवादिका हैं, मूल-समुच्छेद में उसी प्रकार एक साथ व्यापृत होती हैं जैसे आनन्तर्य मार्ग और विमुक्तिमार्ग क्लेशों के छेद में एक साथ व्याख्या होते हैं (६.२८, ६५ बी)।

अपरपक्ष यह है—जो मिथ्यादृष्टि कुशलमूल का समुच्छेद करती है, उसका आलम्बन (अर्थात् अपवाद) सास्रव है अर्थात् पहले दो सत्य हैं, उसका आलम्वन अनास्रव अर्थात् अन्तिम दो सत्य नहीं हैं; उसका आलम्बन संभागधातु है, विसभागधातु अर्थात् रूपधातु और आरूप्यधातु

---

४. =अर्थात् कामाप्तौपपत्तिकानि (मूला.न)। परमार्थ—"कामधातु का शुभ जिसका लाभ उपपत्ति के समय होता है; कामौपपत्तिकम् शुभम् (??)।"

१. हेतुफलापवादिन्या। (व्याख्या ४११.३१)

२०

नहीं हैं। वास्तव में जिस मिथ्यादृष्टि का आलम्बन अनास्रव या ऊर्ध्वधातु हैं वह दुर्बल है क्योंकि वह संप्रयोगमात्र से (४.१७-१८) इन संप्रयुक्त धर्मों में अनुशयन करती है।[२]

[१७२] किन्तु वैभाषिक कहते हैं।[१]

७९ डी. सब से।[२]

सर्व मिथ्यादृष्टि से कुशलमूलों का समुच्छेद होता है—वह जो हेतु की अपवादिका है, वह जो फल की अपवादिका है, वह जो अनास्रव का आलम्बन करती है, वह जो सास्रव का आलम्बन करती है, वह जो कामधातु का आलम्बन करती है, वह जो ऊर्ध्वधातुओं का आलम्बन करती है।

अपर पक्ष है कि कुशलमूल ९ ये प्रकार, मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-अधिमात्र, मध्य-मृदु आदि कुशलमूल मिथ्यादृष्टि के एक क्षण से सकृत् समुच्छिन्न होते हैं यथा सत्य के दर्शन से प्रहातव्य क्लेश के सब प्रकार इस सत्य के दर्शन से सकृत् प्रहीण होते हैं (६.१ सी-डी)।

किन्तु वैभाषिक कहते हैं।

७९ डी. क्रमशः।[३]

यथा सत्यभावनाहेय (सत्यभावना, ६.३३) क्लेश प्रहीण होते हैं उसी प्रकार कुशलमूल समुच्छिन्न होते हैं; अर्थात् अधिमात्राधिमात्र कुशलमूलप्रकार मृदु-मृदु मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न होता है और इसी प्रकार यावत् मृदु-मृदु कुशलमूलप्रकार जो अधिमात्राधिमात्र मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न होता है। यह वाद इस ग्रन्थ[४] के अनुसार है; "अणुसहगत"[५] कुशलमूल कौन हैं?

---

२. संप्रयोगमात्रानुशायित्वेन दुर्बलत्वात्—व्याख्या (४१२.३)—अनास्रवालम्बना विसभागधात्वालम्बना च या मिथ्यादृष्टिः सा संप्रयोगमात्रेण संप्रयुक्तेषु धर्मेषु अनुशेते नाऽलम्बनतः। तस्मादसौ दुर्बला।

१. भाष्य में है 'एवं तु वर्णयन्ति' और नीचे इसे दुहराया है। व्याख्या— एवं तु वर्णयन्ति वैभाषिका—(४१२.७) 'एवं' शब्द के प्रयोग से आचार्य अपनी सम्मति सूचित करते हैं।

२. सर्वथा।

३. क्रमशः।

४. एवमयं ग्रंथः परिपालितो भवति —परमार्थः वि- भा- सा-ग्- रन्-त। व्याख्या (४१२.१९) ज्ञान प्रस्थान, २, ८; विभाषा, ३५,६।

५. व्याख्या की पोथियों का पाठ 'अणुसहगत' (व्याख्या ४१२,२०) है। परमार्थ— "अत्यन्त-सूक्ष्म-सदा-सह।" किन्तु व्याख्या 'अणुसहगत' का 'मृदु-मृदु' निर्वचन है—प्रत्ययों के विचार में (२.६१ सी) संघभद्र स्थविरों के अनुसहगत कुशलमूलवाद की आलोचना करते हैं; यह पालि शब्द है, संयुत्त, ३.१३०, कथावत्थु पृ० २१.५ कोश २, अनुवाद पृ० २४५-२४६।

—जो कुशलमूलों के समुच्छेद के समय सबसे अन्त में प्रहीण होते हैं; वह जिनके अभाव में पुद्गल कुशलमूलसमुच्छिन्न कहलाता है।"

[१७३] आक्षेप—यदि क्रमशः समुच्छेद होता है तो इस वचन का क्या निरूपण होना चाहिये; "अधिमात्राधिमात्र अकुशल मूल कौन हैं? वह अकुशल मूल जिनसे कुशलमूल का समुच्छेद होता है?"

कुशलमूल समुच्छेद की समाप्ति को अभिसन्धान कर यह वचन कहा गया है क्योंकि अधिमात्राधिमात्र अकुशलमूल से कुशलमूल का निरवशेष छेद होता है। जब तक कुशलमूल का अन्तिम मृदु-मृदु प्रकार असमुच्छिन्न रहता है तब तक वह दूसरों की पुनरुत्पत्ति में हेतु हो सकता है।[१]

कुछ आचार्यों के अनुसार ९ प्रकारों का समुच्छेद, विना व्युत्थान के (अव्युत्थानेन)[२] दर्शनमार्ग से क्लेश के प्रहाण के समय में, सकृत् होता है—किन्तु वैभाषिक कहते हैं कि यह विना व्युत्थान के या पौनः पुन्येन उभवरीति से होता है (विभाषा, ५, १२)।

कुछ आचार्यों के अनुसार संवरप्रहाण (४.३४) मूलच्छेद के पूर्व होता है। किन्तु वैभाषिक कहते हैं कि जब उस चित्त का त्याग होता है जिसका यह संवरफल है (विभाषा ३५.१३) तब संवर का त्याग होता है।[३]

कुशलमूल का समुच्छेद कौन सत्व कर सकते हैं?

७९ डी, मनुष्यों में समुच्छेद होता है।[४]

[१७४] केवल मनुष्य छेद करते हैं, आपायिक नहीं; क्योंकि उनकी प्रज्ञा चाहे क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट दृढ़ नहीं होती; देव भी नहीं क्योंकि उनको कर्मफल प्रत्यक्ष होता है।[१] तीन द्वीप के पुद्गल, उत्तर कुरु के नहीं, क्योंकि पापाशय का[२] उनमें अभाव होता है।

---

१. पुनरुत्पत्तौ हेतुः स्यात् (व्याख्या ४१२.२९)—२.३६ सी-डी, पृ० १८४ भी देखिये।

२. व्युत्थान पर २.४४ ए-बी, पृ० २०६ देखिये।

३. जिस पुद्गल ने मृदु-मृदु चित्त से संवर का समादान किया है उसके संवर का त्याग तब होता है जब उसके मृदु-मृदु चित्त का जो मृदु-मृदु कुशलमूल से संप्रयुक्त है त्याग, समुच्छेद होता है। (व्याख्या ४५२.३२) और शुआन्-चाङ्।

४. [नृषु ॥]

१. अचिरोपपन्नस्य देवपुत्रस्य त्रीणि चित्तानि समुदाचरन्ति कुतोऽहं च्युतः कुत्रोपपन्नः केन कर्मणा। (व्याख्या, ४१३.३)।

२. पापाशय; ४.८० डी देखिये। विभङ्ग, ३४० के अनुसार 'आशय' से सामान्य आशय (—अभिप्राय) नहीं समझना चाहिये किन्तु दार्शनिक समस्याओं के प्रति भाव समझना

एक दूसरे मत[३] के अनुसार केवल जम्बुद्वीप के मनुष्य कुशलमूल का समुच्छेद करते हैं। किन्तु यह दृष्टि इस वचन के विरुद्ध है; "जम्बुद्वीप निवासी सर्वाल्प ८ इन्द्रियों के समन्वागत होते हैं; इसी प्रकार पूर्वविदेह और अवरगोदानीय के निवासी।"[४]

छिनत्ति स्त्री-पुमान् दृष्टिचरितः सोऽसमन्वयः।
सन्धिः कांक्षास्ति दृष्टेः स्यान्नेहानन्तर्यकारिणः ॥८०॥

८० ए. पुरुष और स्त्री का मूल का छेद करते हैं।[५]

एक दूसरे मत के अनुसार स्त्री मूलच्छेद नहीं करती क्योंकि उसके छन्द और प्रयोग मन्द होते हैं। किन्तु यह दृष्टि इस वचन के विरुद्ध है; "जो स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत है वह नियत रूप से ८ इन्द्रियों से समन्वागत है।" (२.१८ डी)

तृष्णाचरित मूलच्छेद नहीं करता क्योंकि उसका आशय चल है; केवल।

८० ए-बी. दृष्टिचरित।[६]

[१७५] छेद करता है क्योंकि उसका आशय पाप, हठ, गूढ[१] होता है। इन्हीं नियमों के अनुसार षण्ढादि[२] कुशलमूल का समुच्छेद नहीं करते क्योंकि वह तृष्णाचरित्त पक्ष के हैं (तृष्णा चरितपक्षत्वात्—व्याख्या ४१३.२०) क्योंकि उनकी प्रज्ञा आपायिकों के तुल्य दृढ़ नहीं होती।

मूलच्छेद का क्या स्वभाव है?

८० बी. छेद असमन्वय है।[३]

चाहिये; यह मानना कि लोक शाश्वत है...यह मानना कि तथागत निर्वाण के अनन्तर रहते हैं...भवदिट्ठि और विभवदिट्ठि के बीच की दृष्टि लेना।

३. भदन्त घोषक (जापानी सम्पादक की विवृत्ति)—तत्र विशेषेण तार्किकत्वात् (व्याख्या ४१३.६)।

४. ज्ञानप्रस्थान, १५,११ विभाषा, १३०,१२—भाष्य—एवं पौर्वविदेहिको गौदानीयकः (व्याख्या ४१३.१०)—सर्वाल्प ८ इन्द्रियों (५ वेदनेन्द्रिय, काय, जीवित और मन-इन्द्रिय) की संख्या दिखाती है कि श्रद्धादि इन्द्रियाँ पूर्वविदेह में हो सकती हैं।

५. छिनत्ति स्त्री-पुमान्।

६. दृष्टिचरितः—४.१०० की व्याख्या में इस आख्या का व्याख्यान है—सत्कायदृष्ट्यादिषु पञ्चसु चरितः प्रवृतो दृष्टिचरितः। दृष्टिर्वाचरितमस्येति दृष्टिचरितः। स ह्यूहापोह सामर्थ्यादन्यं शास्तारम् मार्गान्तरम् च ग्राहयितुम् समर्थो न तृष्णाचरित—नेत्तिप्पकरण; पृ० ७, १०९।

१. गूढ=प्रच्छन्न (व्याख्या ४१३.२०)—ह्यून्त्सङ्ग का अनुवाद—गम्भीर।

२. पण्डक, षण्ढ, उभयव्यञ्जनक, अव्यञ्जनक—विभाषा, ३५,१०।

३. तिब्बती भाषान्तर [सोऽसमन्वयः।]

जब कुशलमूल की प्राप्ति पुनरुत्पन्न होने से निरूद्ध होती है, जब उसका अनुबन्ध निरुद्ध होता है, तब अप्राप्ति, असमन्वागम (२.३७) का उत्पाद होता है।

जब अप्राप्ति उत्पन्न होती है तब कुशलमूल का समुच्छेद होता है। जब कुशलमूल समुच्छिन्न होते हैं तब उनकी प्रतिसन्धि कैसे होती है?

८० सी. प्रतिसन्धि विमति से, अस्तिदृष्टि आदि से।[४]

ऐसा होता है कि जिस पुद्गल के कुशलमूल समुच्छिन्न हैं वह हेतु-फल के सम्बन्ध में विमति या आस्तिदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि का उत्पाद करता है—जब सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है तब कहते हैं कि कुशलमूल प्रतिसंहित[५] हुए हैं, क्योंकि इन मूलों की प्राप्ति का इस समय से समुदाचार होता है (तत्प्राप्तिसमुदाचारात्)। मूल की प्रतिसन्धि ९ प्रकार से होती है किन्तु उनका प्रादुर्भाव क्रमशः होता है। यथा पहले आरोग्य होता है, पीछे क्रमशः बल का लाभ होता है।[६]

[१७६] ८० डी. आनन्तर्यकारी के लिये यहाँ नहीं।[१]

अन्य पुद्गल जिन्होंने कुशलमूल का समुच्छेद किया है, दृष्टधर्म में उनका पुनः ग्रहण कर सकते हैं किन्तु आनन्तर्यकारी (४.९७, जिसने कुशलमूल का समुच्छेद किया है, नहीं कर सकता। इस अवद्यकारी के विषय में कहा गया है—"यह पुद्गल दृष्टधर्म में कुशलमूल का पुनः ग्रहण करने के लिए अभव्य है; किन्तु वह नरक से च्यवमान हो या उपपद्यमान हो अवश्य ही उनसे पुनः समन्वागत होगा।"[२]—"उपपद्यमान" अर्थात् अन्तराभवस्थ हो [जो नरक गमन के पूर्व

---

४. तिब्बती भाषान्तर [विमत्यास्तिदृशा सन्धिः]

५. प्रतिसन्धितानि प्रतिसन्धिकृतानि प्रतिसन्धितानि। प्रातिपदिकधातुः प्रतिसंहितानीत्यपरे पठन्ति (व्याख्या ४१३.२४)।

६. ह्यू नत्सङ्ग—ऐसा होता है कि हेतु-फल के विषय में या यह विमति उत्पन्न होती है कि "कदाचित् हेतु और फल होते हैं," अथवा यह सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है कि "हेतु-फल अवश्य होते हैं, यह मिथ्या है कि वह नहीं होते।" इस क्षण में कुशलमूल प्रतिसंहित होते हैं। क्योंकि कुशल की प्राप्ति का उत्पाद होता है इसलिये कहते हैं कि इस पुद्गल ने कुशलमूल का फिर से ग्रहण किया है।—कुछ आचार्य कहते हैं कि ९ प्रकार की प्रतिसन्धि आनुपूर्विक होती है। किन्तु [वैभाषिक] कहते हैं कि कुशलमूल का पुनः ग्रहण एक बार में होता है; किन्तु उनका प्रादुर्भाव देर से थोड़ा-थोड़ा करके होता है यथा, रोग का अपगम एक प्रहार में होता है किन्तु बल-लाभ क्रमशः होता है।

१. नेहानन्तर्यकारिणः (व्याख्या ४१३.२७)।

अष्टसाहस्रिका, पृ० ३३६ बताती है कि क्यों—आनन्तर्यकारी आनन्तर्यचित्तेनाविरहितो भवति यावत् मरणावस्थायां न तच्चित्तम् शक्नोति प्रतिविनोदयितुम्...कथावत्थु, १३.३।

२. मध्यम, ३७,।

होता है]। "च्यवमान" अर्थात् [नरक से] च्युति के अभिमुख (नरकच्युत्यभिमुख-व्याख्या ४१३. ३०)।—कुशलमूल की प्रतिसन्धि च्यवमान होकर होती है जब वह हेतु-बल से समुच्छिन्न हुए हैं, उपपद्यमान होकर होती है जब वह प्रत्यय-बल से समुच्छिन्न हुए हैं। यदि भेद है जब वह स्वबल से, पर बल से समुच्छिन्न होते हैं।[3]

जो पुद्गल आशयविपन्न[4] है—

[१७७] अर्थात् मिथ्यादृष्टि के सम्मुखीभाव से विनष्ट है—(विपन्न है) वह दृष्टधर्म में कुशलमूल की प्रतिसन्धि करता है। जो पुद्गल आशयविपन्न और प्रयोगविपन्न है अर्थात् जो आनन्तर्य-क्रिया से भी विपन्न है, वह काय के भेद केअनन्तर ही मूल की प्रतिसन्धि करता है।[1] ["जिसने स्व-बल से, पर-बल से, मूल का समुच्छेद किया है..."] इसका यह पर्याय है—(अयं पर्यायः) जो दृष्टिविपन्न (मिथ्यादृष्टि से विनष्ट) है और जो दृष्टिविपन्न और शीलविपन्न दोनों है (आनन्तर्य क्रिया से भी विपन्न)[2] इनमें भी यही भेद है। [यह अनन्तर पूर्वोक्त का पर्याय है।]

यह सम्भव है कि एक पुद्गल समुच्छिन्न कुशलमूल होते हुए भी मिथ्यात्वनियत (३.४४ सी-डी) न हो। चार कोटि है—१. पूरण और ५. अन्य शास्ता, २. अजातशत्रु[3], ३. देवदत्तः ४. जिन पुद्गलों ने मूलच्छेद नहीं किया है और जो आनन्तर्यकारी नहीं हैं।

मिथ्यादृष्टि का पुद्गल जो कुशलमूल का समुच्छेद करता है अवीचि में दण्ड पाता है; आनन्तर्यकारी अवीचि में या अन्यत्र दण्ड पाता है।[4]

---

३. हेतुबलेन, अर्थात् सभागहेतुबलेन (व्याख्या ४१३.३१) (२.५२ ए)।

ऐसा होता है जब कोई स्वयं मिथ्यादृष्टि स्वीकार करता है—प्रत्ययबलेन अर्थात् परकीयवचन के बल से (परतोघोप)—स्वबलेन = स्वतर्कबलेन, अपनी युक्ति के बल से—पर बलेन = परतः श्रुतबलेन (व्याख्या ४१३.३२)।

४. ऊपर पृ० १७४ टिप्पणी २ देखिये।

१. संयुत्त, ५. २६६ में मिच्छादिटिठ्क और मिच्छादिट्ठिकम्मसमादान में भेद किया है। ४.९६ देखिये।

२. पुग्गालपञ्जत्ति, पृ० २१ देखिये जहाँ 'सीलविपन्न' (सब्बं दुस्सीलयं = सीलविपत्ति) और 'दिट्ठिविपन्न' (सब्बमिच्छादिट्ठि दिट्ठिविपत्ति) का लक्षण बताया है। बोधिचर्यावतार, ८.१०६ में उद्धृत समाधिराज में दृष्टिविपन्न—कुमार्गप्रपन्न।

३. ६ शास्ता, अयथार्थशास्ता (व्याख्या, १ पृ० ८.७ (व्या० ४१४.७) पूरणकाश्यप मस्करिन् गोशालीपुत्र, संजपिन् वैरटीपुत्र, अजित केशकम्बलक, ककुदकात्यायन और निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र हैं।

महाव्युत्पत्ति, १७९ (वोगिहारा और ससाकी के संस्करणों में अनेक चीनी और तिब्बती पर्याय देखिये); दिव्यावदान पृ० १४३ (वैरट्टीपुत्र, केशकम्बल), बर्नूफ़, भूमिका पृ० १६२, सद्धर्मपुण्डरीक, ४५० देवदत्त, अङ्गुत्तर; ४.१६४।

४. दो चीनी संस्करणों में नहीं है।४.९९ सी देखिये।

चेतना कर्म का समुत्थापक है। हम बताएँगे कि कितने कर्म-पथों के साथ चेतना वर्तमान हो सकती है।

युगपद् यावदष्टाभिरशुभैः सह वर्तते।
चेतना दशभिर्याविच्छुभैर्नैकाष्टपञ्चभिः ॥८१॥

८१ ए-सी. जहाँ तक अकुशलपथों का सम्बन्ध है चेतना अधिक से अधिक ८ पथों के साथ युगपत् रह सकती है।[५]

[१७८] एक कर्म-पथ के साथ चेतना—जब अभिध्या, व्यापाद या मिथ्यादृष्टि का सम्मुखीभाव बिना किसी अन्य 'रूपी' कर्म-पथ के होता है अथवा जब वह पुद्गल जो रूपी कर्म-पथों में से किसी एक का प्रयोग करता है अक्लिष्ट चित्त का होता है अर्थात् कुशल या अव्याकृत चित्त का होता है, जिस क्षण में उसके प्रयोग से यह कर्म-पथ निष्ठापित होता है।[१]

दो कर्म-पथों के साथ चेतना—जब व्यापन्नचित्त पुद्गल प्राणिवध करता है: जब अभिध्याविष्ट पुद्गल अदत्तादान करता है या काममिथ्याचार करता है या सम्भिन्नप्रलाप करता है।[२]

तीन कर्म-पथों के साथ चेतना—जब व्यापन्नचित्त पुद्गल युगपत् प्राणि-वध और अपहरण करता है।[३] किन्तु यह कहा जायगा कि क्या हमने नहीं देखा है कि अदत्तादान की निष्ठा

---

५. अष्टभिः यावदशुभैश्चेतना सह वर्तते। युगपत्।

१. अक्लिष्टचेतसो वापि तस्य प्रयोगेण रूपिणां अन्यतमस्य निष्ठापने—(व्याख्या ४१४.१८)। काममिथ्याचार को वर्जित करना चाहिये जो स्वयं क्लिष्ट चित्त से निष्ठापित होता है।

२. इसकी भाषा में दोष दिखाया जा सकता है। क्या स्वयंकृत कर्म से अभिप्राय है? तब यह बताना अयुक्त है कि वध करने वाला व्यापन्नचित्त का है, अदत्तादान करनेवाला लोभाविष्ट है। नियम यह है कि व्यभिचार में ही विशेषण इष्ट होता है—व्यभिचारे हि विशेषणं दृष्यते (व्याख्या ४१४.२६)। क्या दूसरे से कराये हुए कर्म से अभिप्राय है? तब अभिध्या, व्यापाद या मिथ्यादृष्टि प्राणातिपात, अदत्तादानादि के साथ युगपत् वर्तमान हो सकते हैं—उत्तर—स्वयंकृत कर्मों से अभिप्राय है और यदि हम विशेषण देते हैं तो यह कहना युक्त नहीं है कि यह विशेषण हैं किन्तु यह केवल दो कर्मपथों के स्वरूप का आख्यान है। हो सकता है, किन्तु जिस विकल्प में एक पुद्गल अभिध्याचित्त से दूसरे से प्राणातिपात करता है उस विकल्प में भी दो कर्म-पथ होते हैं। उत्तर—हाँ सत्य ही इसको बताना चाहिये किन्तु आचार्य ने यह उदाहरण मात्र कहा है। इसलिये दोष नहीं है।

३. व्यापन्नचित्तस्य प्राणिमारणापहरणे युगपत्—व्याख्या (४१५.२) यत्र मारणेनैवापहरणम् सिध्यति। तत्र हि व्यापादप्राणिवधादत्तादानकर्मपथा युगपद् भवन्ति।

लोभमात्र से (४.७०) सिद्ध होती है—यह नियम अपहरण मात्रचित्त वाले पुद्गल के अदत्तादान की परिसमाप्ति के लिए (परिसमाप्तौ) है ।[४]

पुनः तीन कर्म-पथों के साथ चेतना—जब पराये से कराये हुए दो रूपी कर्म-पथों की परिसमाप्ति के क्षण में अभिध्या का सम्मुखी भाव होता है ।

[१७६] चार कर्म-पथों के साथ चेतना - जब भेद के अभिप्राय से अनृतवचन या परुष-वचन होता है—तब एक मानस कर्म-पथ होता है और तीन वाचिक होते हैं ।[१] अथवा जब चित तीन रूपी कर्म-पथों की परिसमाप्ति काल में अभिध्यादिगत होता है ।

पाँच, छै, सात, कर्म-पथों के साथ चेतना—जब ४, ५, ६, रूपी कर्म-पथ की समाप्ति-काल में चित अभिध्यादिगत होता है ।

८ कर्म-पथों के साथ चेतना—एक पुद्गल प्राणातिपातादि ६ कर्म-पथों का प्रयोग करता है; जिस काल में यह ६ कर्म-पथ निष्ठा को प्राप्त होते हैं उस काल में यह अभिध्यागत होता है और स्वयं काममिथ्याचार करता है । चेतना ६-१० कर्म-पथों के साथ नहीं रह सकती क्योंकि अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि युगपत् नहीं होते ।

८१ सी-डी. चेतना १० कुशल कर्म-पथों के साथ रह सकती है ।[२] १०. कुशल कर्म-पथ और चेतना युगपत् हो सकते हैं ।

८१ डी. यह १, ८, ५ कर्म-पथों के साथ नहीं रहती ।[३]

---

४. अनन्यचित्तस्य तत्परिसमाप्तौ स नियम —(व्याख्या ४१५.७), व्याख्या (४१५ ११)। अन्यचित्तस्य तु मारणचित्तस्य नायं नियमः । यह नियम युक्त नहीं है यदि उस पुद्गल से अभिप्राय है जो वध के लिये अपहरण करता है ।

१. अनृतवचन जो पैशुन्य है, क्योंकि मृषावादी का आशय भेद उत्पन्न करने का है जो सम्भिन्नप्रलाप है क्योंकि सर्व क्लिष्ट वचन सम्भिन्नप्रलाप (४.७६ सी-डी) है । यही परुषवचन के सम्बन्ध में है—अनृतवचन के लिये मानस-कर्म-पथ अभिध्या या व्यापाद हो सकता है; परुषवचन के लिये मानसकर्म-पथ व्यापाद है ।

एक ही वचन अनृतवचन, पैशुन्य, सम्भिन्नप्रलाप होता है—इसलिये तीन वाचिक कर्म पथ नाम से हैं, स्वभाव से नहीं । एक दूसरे मत के अनुसार स्वभाव-भेद भी है क्योंकि तीन विज्ञप्तियाँ भिन्न हैं । [वक्ता छले जाते हैं, विभक्त होते हैं इत्यादि] ।

२. तिब्बती भाषान्तर—[दशभिर्यावच्छुभैर्]

३. नैकाष्टपञ्चभिः ॥

चेतना एक कर्म-पथ के साथ वर्तमान नहीं हो सकती—यह एक कर्म-पथ मानस नहीं हो सकता क्योंकि कुशलचित्त में अनभिध्या और अव्यापाद का अवश्य भाव होता है; यह

[१८०] दो कर्म-पथों के साथ चेतना—आरूप्य समापत्ति में, क्षयज्ञान या अनुत्पादज्ञान से समन्वागत (६.४५,५०) ५ विज्ञान कुशल हैं। इसलिए दो कर्म-पथ हैं—अनभिध्या, अव्यापाद।[१]

तीन कर्म-पथों के साथ चेतना—जब मनोविज्ञान सम्यग्दृष्टि से संप्रयुक्त होता है और ७ रूपी कुशल कर्म-पथ का अभाव होता है।

चार कर्म-पथों के साथ चेतना—जब अकुशल या अव्याकृत चित्त के साथ उपासक या श्रामणेर-संवर का समादान होता है जिस संवर में प्राणातिपातादि विरति चार रूपी कुशल कर्म-पथ संगृहीत होते हैं।

६ कर्म-पथों के साथ चेतना—जब ५ विज्ञान कुशल होते हैं और इन्हीं संवरों का समादान होता है—४ रूपी कुशल कर्म-पथ, अनभिध्या, अव्यापार।

सात कर्म-पथों के साथ चेतना—जब कुशल मनोविज्ञान के साथ इन्हीं संवरों का समादान होता है; पूर्वोक्त के साथ सम्यग्दृष्टि सप्तम होता है।

अथवा जब अकुशल या अव्याकृत चित्त से भिक्षु-संवर का समादान होता है; केवल ७ रूपी कर्म-पथ।

९ कर्म-पथों के साथ चेतना—[तीन कोटि] पाँच विद्वानों (चक्षुरादिविज्ञान) के कुशल होते हुए भिक्षु-संवर का समादान होता है; सम्यग्दृष्टि का अभाव है; इसी संवर का समादान आरूप्य-समापत्ति के उस काल में होता है जब योगी क्षयज्ञान या अनुत्पादज्ञान से समन्वागत होता है। [इसमें दो कर्म-पथ होते हैं, इसकी ऊपर परीक्षा हो चुकी है—संवर के ७ सात कर्म-पथों को जोड़ना चाहिये जो यहाँ अविज्ञप्ति नहीं है]।

संवरसंगृहीत एकरूपी कर्म-पथ नहीं हो सकता क्योंकि संवरों में कम से कम प्राणातिपात-अदत्तादान-काममिथ्याचार-मृषावाद विरति अवश्य होती हैं।

पाँच कर्म-पथों के साथ चेतना वर्तमान नहीं हो सकती। इसका अर्थ होगा कि (उपासक आदि) अत्यन्त कठिन संवरों में चार कर्म-पथ और एक कुशल मानस कर्म-पथ होंगे किन्तु अनभिध्या और अव्यापाद का अवश्य सह-भाव है।

आठ कर्म-पथों के साथ चेतना वर्तमान नहीं हो सकती, वास्तव में अकुशल या अव्याकृत चित्त की अवस्था में भिक्षु केवल ७ कुशल कर्म-पथों से समन्वागत होता है और जब कुशल चित्त की अवस्था होती है तब वह कम से कम ९ से समन्वागत होता है।

१. क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान दृष्टि नहीं है (७.१); इसलिये इस पुद्गल की चेतना सम्यग् दृष्टि-सहगत नहीं होती। आरूप्य-समापत्तियों में रूप का अभाव होता है और इसलिये ७ कायिक और वाचिक कुशल कर्म-पथों से संयुक्त संवर भी नहीं होता।

ध्यान समापत्ति में वह क्षय या अनुत्पादज्ञान से समन्वागत होता है। [सम्यग्दृष्टि का अभाव है; ध्यान संवर (अविज्ञप्ति) में संगृहीत ७ रूपी कर्म-पथ होते हैं।][2]

[१८१] दस कुशल कर्म-पथों के साथ चेतना—इनसे अन्यत्र; जब क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान को वर्जित कर अन्य कुशल मनोविज्ञान के साथ भिक्षु-संवर का समादान होता है; सर्व चेतना जो ध्यान-संवर और अनास्रव संवर की सहवर्तिनी है और क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान से असंप्रयुक्त है।

हमने दिखाया है कि किन अवस्थाओं में संवर संगृहीत कुशल कर्म-पथों के साथ चेतना वर्तमान होती है। यदि संवर-निर्मुक्त कुशल कर्म-पथ दृष्टि में हों तो चेतना एक पथ, ५ पथ, ८ पथ के साथ भी हो सकती है।

१. जब एकाङ्गविरति का समादान होता है और इस विरति के समुत्थापक चित्त से अन्यचित्त होता है अर्थात् क्लिष्ट या अव्याकृत चित्त होता है; २. जब द्वयङ्ग विरति का समादान होता है और पुद्गल का कुशल मनोविज्ञान होता है। इस कुशल मनोविज्ञान में तीन मानस-कर्म और दो विरति, दो रूपी कर्म, संगृहीत होते हैं; ३. जब इन्हीं अवस्थाओं में पञ्चाङ्गविरति का समादान होता है।[1]

वह कौन कर्म-पथ हैं जो विविध गतियों में सम्मुखीभावतः या प्राप्तितः[2] होते हैं?

सम्भिन्नालापपारुष्यव्यापादा नरके द्विधा।
समन्वागमतोऽभिध्यामिथ्यादृष्टी कुरौ त्रयः ॥८२॥

---

२. भाष्यः (व्याख्या ४१७.६) कुशलेषु पञ्चसु विज्ञानेषु तत्समादाने क्षयानुत्पादज्ञान-सम्प्रयुक्ते च मनोविज्ञाने तस्मिन्नेव च ध्यानसंगृहीते—ह्यूनत्सङ्ग स्पष्ट रूप से तीन कोटि बताते हैं; "जब ५ विज्ञान कुशल होते हैं और भिक्षु संवर का समादान होता है..." [किओकुगाः सम्यग् दृष्टि का अभाव है क्योंकि वह ५ अकुशल दृष्टियों को स्वीकार करता है]।

१. यह उदाहरण रूप कहा है। पांच कर्म-पथ तब भी होते हैं जब कोई क्लिष्ट या अव्याकृत चित्त से, ५ पाप से प्रतिविरत होता है।

२.' वास्तव में' सम्मुखीभावतः, स्वयं; समन्वागमात्, समन्वयात्, प्राप्तितः, लाभतः।

नारकीय सत्वों में अभिध्या नहीं होती; नरक में अभिध्या नहीं है; किन्तु उन्होंने अभिध्या का प्राप्तिच्छेद (२-३६ बी) नहीं किया है; वह अतीत अभिध्या से जो पूर्व जन्म में थी, समन्वागत होते हैं।

८२ ए-बी. नरक में दो प्रकार के भिन्न प्रलाप, पारूष्य व्यापादक होते हैं।[३]

[१८२] भिन्नप्रलाय, क्योंकि नारकीय सत्त्व परिदेव करते हैं; पारुष्य, क्योंकि नारकीय सत्व अन्योन्य निग्रह[१] करते हैं; व्यापाद, क्योंकि चित्त-सन्तान के पारुष्य से वह एक-दूसरे से द्वेष करते हैं—(चित्त-सन्तान पारुष्यात्)।[१]

८२ सी-डी. अभिध्या और मिथ्यादृष्टि, प्राप्ति से।[२]

नारकीय सत्वों में अभिध्या और मिथ्यादृष्टि होती हैं किन्तु नरक में यह सम्मुखीभावतः नहीं होतीं—सर्वरञ्जनीय वस्तु[३] के अभाव से, कर्मफल के प्रत्यक्षत्व से।

नरक में प्राणातिपात का अभाव होता है क्योंकि नारकीय सत्व कर्मक्षय से (२. अनुवाद पृ० २१७-९) च्युत होते हैं। अदत्तादान और काममिथ्याचार का भी अभाव होता है क्योंकि नारकीय सत्वों के द्रव्य और स्त्री-परिग्रह का अभाव होता है—(द्रव्यस्त्रीपरिग्रहाभावात्)। प्रयोजन के अभाव से मृषावाद नहीं होता; प्रयोजन के अभाव से पैशुन्य नहीं होता क्योंकि नारकीय सत्व पूर्व से ही नित्य भिन्न होते हैं।

८२ डी. उत्तरकुरु में तीन।[४]

अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि इस अर्थ में कुरु में होते हैं कि कुरु के निवासी अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि से समन्वागत होते हैं। किन्तु सम्मुखीभावतः अभिध्या का वहाँ अभाव होता है क्योंकि वहाँ 'यह मेरा है' ऐसा करके किसी वस्तु का परिग्रह नहीं होता; इसी प्रकार व्यापाद नहीं होता क्योंकि सन्तान स्निग्ध होती हैं; क्योंकि सर्व आघात वस्तु का अभाव होता है; इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि नहीं होती क्योंकि पापाशय नहीं होता—(अपापांशयत्वात्—व्याख्या ४१७.३२)—(४.८० डी)।

---

३. =[भिन्नप्रलापपारुष्यव्यापादा नरके द्विधा।] विभाषा, ११३,५।
नरकः नर=मनुष्य, क=बुरा, नरक=वह स्थान जहाँ पापी उपपन्न होते हैं; अथवा रक्=अनुकूल (धातुपाठ, १०,१९७ से तुलना कीजिये), नरक=वह स्थान जहाँ अनुकूल वस्तु नहीं है। (विभाषा, ११२,४)।

१. निग्रह; शुआन्-चाङ्, 'म' शाप देना, द्वेष करना; व्युत्पत्ति २५५,४, उदानवर्ग, २०.९।

२. तिब्बती भाषान्तर=[समन्वागमतोऽभिध्यामिथ्यादृष्टी]

३. विभाषा (१७२,५); सञ्जीव नरक में (३.५९), लोकप्रज्ञप्ति, बुधिस्ट कास्मालजी, पृ० ३२४, महावस्तु, १.१०) शीत वायु जो नारकीय सत्वों को 'पुनरुज्जीवित' करती है, अभिध्या को उत्तेजित करती है; किन्तु उसके लिये अभिध्या कर्म-पथ नहीं है।

४. [कुरौ त्रयम् ॥]

सप्तमः स्वयमप्यत्र कामेऽन्यत्र दशाशुभाः ।
शुभास्त्रयस्तु सर्वत्र सम्मुखीभावलाभतः ॥८३॥

[१८३] ८३ ए. सप्तम कर्म-पथ यहाँ स्वयं भी होता है ।[१]

सम्भिन्नप्रलाप यहाँ सम्मुखीभावतः होता है क्योंकि कभी-कभी कुरुवासी क्लिष्ट चित्त से गीत गाते हैं ।

क्योंकि यहाँ पापाशय नहीं होता, क्योंकि यहाँ आयु नियत है (३. ७८ सी; २. अनुवाद पृ० २१९), क्योंकि द्रव्य, स्त्री के परिग्रह का यहाँ अभाव है और प्रयोजन के अभाव से भी प्राणातिपात और अन्य कर्म-पथ का कुरु में अभाव होता है ।

यदि कुरुवासियों में परिग्रह नहीं होता तो इनका अब्रह्मचर्य कैसे होता है—(कथमेषाम ब्रह्मचर्यम्-व्याख्या ४१८.५)? जिस किसी स्त्री के साथ वह काम-सम्भोग की इच्छा करते हैं उसका हाथ पकड़कर वह किसी वृक्ष की ओर जाते हैं । यदि यह स्त्री अवगम्य होती है तो वृक्ष द्वन्द्व को अपनी शाखाओं से आच्छादित कर लेता है; यदि इसके विपरीत है तो वृक्ष द्वन्द्व को आच्छादित नहीं करता ।[२]

८३ बी. अन्यत्र कामधातु में, १० अकुशल कर्म-पथ ।[३]

नरक और उत्तरकुरु को छोड़कर कामधातु में अन्यत्र १० अकुशल कर्म-पथ सम्मुखीभावतः होते हैं ।

तिर्यक्, प्रेत और देवों के लिये अकुशल कर्म-पथ असंवर निर्मुक्त (४. २४ सी देखिये) होते हैं; मनुष्यों के लिये अकुशल कर्म-पथअसंवर संग्रहीत या निर्मुक्त होते हैं ।

क्या देवों में प्राणातिपात होता है? देव एक-दूसरे को नहीं मारते किन्तु वह प्रेतादि अन्यगतिस्थों को मारते हैं । एक दूसरे मत के अनुसार शिरश्च्छेद से देवों का भी बध होता है[४] ।

[१८४] ८३ सी-डी. तीन कुशल कर्मपथ सर्वत्र सम्मुखीभावतः, समन्वागमतः होते हैं ।[१]

---

१. तिब्बती भाषान्तर=[सप्तमोऽत्र] स्वयमपि ।

२. उत्तरकुरु में विवाह नहीं होता—महाभारत, १.१२२,७ ।

३. तिब्बती भाषान्तर =[कामेऽन्यत्र दशाशुभाः ।]

४. देवा अपि शिरोमध्यच्छेदान्म्रियन्त इति—(व्याख्या ४१८.८) । कहते हैं—देवो देवन्न मारयति (व्याख्या ४१८.९)—देव, देव को नहीं मारता । इससे यह परिणाम निकलता है कि देव अवध्य हैं । वास्तव में उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-छिन्न होकर पुनरुत्पन्न होते हैं; किन्तु उनके शिर, उनके मध्य के छेद से, पुनः प्रतिसन्धान नहीं होता । इसलिये देवताओं का वध हो सकता है ।

१. तिब्बती भाषान्तर=[शुभत्रयं तु सर्वत्र सम्मुखीभावलाभतः ॥]

सर्वत्र, तीन धातुओं में और पाँच गतियों में, अनभिध्या, अव्यापाद और सम्यग्दृष्टि सम्मुखीभावतः और समन्वागमतः होते हैं।

आरूप्यासंज्ञिसत्त्वेषु लाभतः सप्त शोषिते।
सम्मुखीभावतश्चापि हित्वा सनरकान् कुरून् ॥८४॥

८४ ए-बी. आरूप्यों में, असंज्ञिसत्वों में, लाभतः सात[२]।

आरूप्यधातु के सत्वों में और असंज्ञिसत्वों में (२. ४१ डी), ७ रूपी कुशल कर्म-पथ, कायिक और वाचिक, केवल लाभतः होते हैं।

वास्तव में जो आर्य आरूप्य धातु में उपपन्न होते हैं वह अतीत और अनागत, अनास्रव-शील या संवर से समन्वागत होते हैं और असंज्ञिसत्व इन्हीं अवस्थाओं में ध्यान-संवर (४. १३ सी) से समन्वागत होते हैं।

जिस अतीत अनास्रव संवर से आरूप्यधातु में उपपन्न आर्य समन्वागत होता है उसका आश्रय वह भूमि या भूमियाँ (चार ध्यान) हैं जहाँ उसने संवर को उत्पादित और निरोधित किया है; जिस अनागत अनास्रव संवर से वह समन्वागत होता है उसका आश्रय इसके विपरीत पाँच भूमियाँ (कामधातु और ४ ध्यान) होती हैं।[३]

८४ बी-डी. नारकीय सत्व और उत्तर कुरु को वर्जित कर शेष के लिये सम्मुखी-भावतः भी[४]।

[१८५] शेषित अर्थात् अन्य धातुओं में, अन्य गतियों में।

नारकीय सत्वों में और कुरुवासियों में समादानशील का अभाव होता है। अन्यत्र सात रूपी कुशल पथ सम्मुखीभावतः होते हैं।

एक भेद व्यवस्थापित करना चाहिये। तिर्यक् और प्रेतों में कुशल कर्म-पथ संवर-

---

२. तिब्बती भाषान्तर=[आरूप्यासंज्ञिसत्त्वेषु लाभतः सप्त]

३. तिब्बती भाषान्तर=यद् भूम्याश्रयं अनास्रवं शीलं आर्येणोत्पादितम् निरोधितम् तेनारूप्येषु अतीतेन समन्वागतो भवति। पञ्चभूम्याश्रयेण तु अनागतेन (व्याख्या ४१८,१४)—'उत्पादित' से 'वर्तमानमध्वानम् गमितम्' (व्याख्या ४१८,१५) समझना चाहिये; 'निरोधित' से 'अतीतमध्वानम् गमितम्' (व्याख्या ४१८,१६)। विभाषा, १३२,६ में इस प्रश्न पर विचार हुआ है।

४. तिब्बती भाषान्तर=[शेषिते] सम्मुखीभावतश्चापि नारकंकुरु वर्जिते ॥]

निर्मुक्त होते हैं; रूपधातु में वह सदा संवर-संगृहीत होते हैं। अन्यत्र वह दोनों में से किसी प्रकार के हो सकते हैं।

सर्वेऽधिपतिनिष्यन्दविपाकफलदा मताः।
दुःखानाद् मारणाद् ओजो नाशनात् त्रिविधं फलम् ॥८५॥

८५ ए. बी. सब कर्म-पथ विपाकफल, निष्यन्दफल, अधिपतिफल को देने वाले होते हैं।[1]

कुशल और अकुशल, १० कर्म-पथों को त्रिविधं फल होता है।

---

१. सर्वेऽधिपतिनिष्यन्दविपाकफलदा मताः।

वसुबन्धु के व्याख्यान कुछ पर्यायों के साथ विभाषा ११३.१६ के हैं। २.५६ और अगली कारिकाओं में इन तीन फलों का निरूपण किया गया है। कैसे कर्म अतीत होकर फलप्रदान कर सकता है, इस पर पुद्गल प्रकरण जिससे कोश समाप्त होता है, देखिये—(ह्यूनत्सङ्ग का अनुवाद ३०,१३ बी) और मध्यमिक वृत्ति, पृ० ३१६ आदि का महत्त्वपूर्ण विवाद देखिये।

जो कुछ पुद्गल प्रतिसंवेदित करता है वह सब पूर्वकृत कर्म के कारण नहीं है (मज्झिम, २.२१४)। काश्यप डी-न्यू के सूत्र के अनुसार, (संयुत्त, २.१८ के समान आरम्भ) जो कर्मप्रज्ञाप्ति (सूत्र विभाग, ६२,२४१ ए.) का एक अध्याय है, दुःख स्वतः होता है (जब कोई केश, हस्त इत्यादि का छेद करता है), परतः होता है (जब दूसरा हस्तच्छेद करता है), स्वतः और परतः होता है (जब दूसरे की सहायता से कोई हस्तच्छेद करता है), न स्वतः, न परतः, किन्तु हेतुप्रत्ययवश होता है—"यथा, उदाहरण के लिये हवा के चलने से, वर्षा पड़ने से, विद्युत् से विताड़ित होने से गृह-पात होता है या वृक्ष टूटते हैं या पर्वत के शिखर ध्वस्त होते हैं, किन्हीं के पैर छिन्न हो जाते हैं...। यहाँ हेतु और प्रत्यय से दुःख का उत्पाद होता है। हे काश्यप! सर्व सुख और सर्व दुःख, स्वतः, परतः, स्वतः और परतः, ऋतु से उत्पन्न होते हैं...हेमन्त में अत्यन्त शीत से, वर्षा ऋतु में अत्यन्त उष्ण से, ग्रीष्म में शीतोष्ण से, सुख और दुःख का उत्पाद होता है।"—किन्तु समस्या इन व्याख्यानों से हल नहीं होती। हम जानते हैं कि वास्तव में चित्त-क्षेप (जो दुःख वेदना है) भूतों के प्रकोप से उत्पन्न होता है और विपाक से नहीं, किन्तु भूत-प्रकोप विपाक (४.५८) है। इसी प्रकार व्याधि आदि को समझना चाहिये। 'उतुज' पर मिलिन्द, पृ० २७१, विसुद्धिमग्ग, ४५१, कम्पेंडियम् पृ० १६१ (दुःख के प्रभाव का उल्लेख नहीं है) से तुलना कीजिये; उतु परिणामज ८ प्रकार के दुःखों में परिगणित है, मिलिन्द, १३४-१३५—दीघ, ३,१३९, 'ऋतुज', मिलिन्द, ३०३, संयुत्त, ४.२३०, अङ्गुत्तर, १.१७३।

[१८६] १. प्रत्येक अकुशल कर्मपथ से जो आसेवित, भावित, बहुलीकृत[1] होता है, अवद्यकारी नरक में प्रतिसन्धि ग्रहण करता है।[2] यह विपाक का फल है।[3]

२. यदि अवद्यकारी मनुष्य-गति में जन्म लेता है, तो प्राणातिपात से अल्पायु होता है—(अल्पायुर्भवति-व्या० ४१८.२५); अदत्तादान से भोग व्यसनी होता है; काममिथ्याचार से उसकी पत्नी पतिव्रता नहीं होती (ससपत्नदार); मृषावाद से उसका अभ्याख्यान होता है (अभ्याख्यान-बहुल); पैशुन्य से उसके मित्र शत्रु हो जाते हैं (भिन्नपरिवार); पारुष्य से वह केवल अमनोज्ञ बातें सुनता है (अमनायश्रवण); सम्भिन्नप्रलाप से उसके वचन का कोई विश्वास नहीं करता (अनादेयवचन); अभिध्या से वह महेच्छ (६.६) होता है; व्यापाद से वह अत्यन्त द्वेष वाला होता है; मिथ्यादृष्टि से उसको अत्यन्त मोह होता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि में मोह अत्यन्त होता है। यह निष्यन्द फल है, किन्तु यह कहा जायगा कि मनुष्य-भव, चाहे स्वल्प हो, एक कुशल कर्म का विपाक है। उसे प्राणातिपात का निष्यन्द-फल कैसे मान सकते हैं ?

[१८७] हम यह नहीं कहते हैं कि यह जन्म प्राणातिपात का फल है; हम कहते हैं कि

---

१. व्याख्या (४१८.२४) के अनुसार सूत्र इन तीन आख्याओं से प्रयोग, मौल, पृष्ठ की सूचना देता है। जैसा हम नीचे पृ० १८७-८ में देखेंगे, सब निकाय इस विवेचन को नहीं स्वीकार करते।

२. नारकीय प्रतिसन्धि विपाक के उदाहरण के रूप में दी गई है; तिर्यक् प्रतिसन्धि, प्रेतादि प्रतिसन्धि भी विपाक हैं।

३. [प्राणातिपातेनासेवितेन, भावितेन बहुलीकृतेन नरकेषूपपद्यते] स चेद् इत्थंत्वमा-गच्छति मनुष्याणां सभागतां प्राणातिपातेनाल्पायुर्भवति। अदत्तादानेन भोगव्यसनी भवति... कर्मप्रज्ञप्ति (ब=सूत्रविभाग, ७२ फीलिओ २०६ ए);...अधिमात्र प्राणातिपात से नारकीय सत्त्वों में उपपत्ति होती है; मध्य प्राणातिपात से तिर्यक् योनि में; मृदुप्राणातिपात से प्रेतों में।" दशभूमक, २ में (मध्यमकावतार, २ में उद्धृत, म्यूसिओं, १९०७, पृ० ९० में अनूदित) यही सिद्धान्त है—अङ्गुत्तर, ४,२४७ से तुलना कीजिये—पाणातिपातो भिक्खवे आसेवितो भावितो बहुलीकतो निरयसंवत्तनिको तिरच्छानयोनिसंवत्तनिको पेत्तिविसय संवत्तनिको। यो सब्बलहुसो प्राणातिपातस्स विपाको मनुस्सभूतस्स अप्पायुकसंवत्तनिको होति, जातक, १. पृ० २७५; प्राणातिपातकम्मं नाम निरये निरच्छानयोनिपं पेत्ति विसये असुरकाये च निब्बत्तेति मनुस्सेसु निब्बसट्ठाने अप्पायुकसंवत्तनिकं होति।

फियर फ्रैगमेण्ट्स ऑफ़ कंजूर (कर्मविभङ्ग); सद्धर्मस्मृत्युपस्थान (लेवी, रामायण के इतिहास के लिये, जे. ए. एस, १९१८, १.९ शिक्षासमुच्चय, ६९ आदि में उद्धत; शावाने, सैकं शांत. कांत, १.१९८; आदि।

प्राणातिपातावद्यकारी प्राणातिपात के कारण अल्पायु होगा; मनुष्यभव को जो कुशल कर्म के कारण होता है, अल्प बनाने में प्राणातिपात हेतु है।

३. प्राणातिपात के अभीक्ष्ण आसेवन से ओषधि, भूमि आदि बाह्य भाव अल्पवीर्य[1] (अल्पौजस्) होते हैं; अदत्तादान के कारण वह शिलावृष्टि, धूलवृष्टि या क्षारवृष्टि से अभिभूत होते हैं (अशनिरजोबहुल);[2] काममिथ्याचार के कारण वह धूलि या क्षार से अवकीर्ण (रजोवकीर्ण) होते हैं; मृषावाद के कारण वह दुर्गन्धपूर्ण होते हैं; पैशुन्य के कारण वह उन्नत-निम्न (उत्कूलनिकूल = उन्नतनिम्न, व्या० ४१८.२८) होते हैं; पारुष्य के कारण वह बाह्यभाव ऊसर-जङ्गल (ऊषरजङ्गल) हो जाते हैं—यहाँ यह भूमियाँ अभिप्रेत हैं—वह विप्रकृष्ट = (विगर्हित) और पापिक होते हैं—ओषधि आदि अभिप्रेत हैं; सम्भिन्नप्रलाप के कारण ऋतु-परिणाम विषम होते हैं (विषमर्तुपरिणामा बाह्याभावाः व्या० ४१.३०); अभिध्या के कारण फल अल्प होते हैं; व्यापाद के कारण फल क्षारयुक्त होते हैं; मिथ्यादृष्टि के कारण फल कम होते हैं या उनका अभाव होता है, यह अधिपति-फल है।

क्या यह भी प्राणातिपात के कारण है कि अवद्यकारी नरक में उपपद्यमान हो पीछे मनुष्य-जन्म में अल्पायु होता है?

कुछ के अनुसार यह भी प्राणातिपात के कारण है। नारकीयभव विपाकफल है, अल्पायुष्कत्व प्राणातिपात का निष्यन्दफल है। [वास्तव में विपाक सदा वेदना है।]

दूसरों के अनुसार प्राणातिपात के प्रयोग से नरक में प्रतिसन्धि होती हैं; मौलकर्म से अल्पायु होता है।[3]

[१८८] यह सत्य है कि सूत्र प्राणातिपात को नरकोपपत्ति का हेतु बताता है किन्तु वह प्राणातिपात से केवल मौल प्राणातिपात नहीं वरन् सपरिवार प्राणातिपात का ग्रहण करता है। जिसे निष्यन्द फल कहते हैं, वह यहाँ विपाक फल और अधिपति फल का अतिवर्तन नहीं करता (नातिवर्तते)। हेतु और फल में सादृश्यविशेष होने से इसे निष्यन्द फल कहते हैं। (प्राणातिपात, अल्पायुष्कत्व; अदत्तादान, भोगव्यसनी इत्यादि)।

जब एकबार बाल निरय में उत्पन्न होता है तब उसके लिये मनुष्य-जन्म दुर्लभतर है, लगभग असम्भव है। यदि वह दीर्घ अध्व के अनन्तर मनुष्यत्व का लाभ करता है तो इस जन्म के (कुल आदि) अमनोज्ञ लक्षण होते हैं और वह दुश्चरित का आचरण पुनः करता है। इसके लिये मज्झिम, ३.१६६ (बालपंडितसुत्त, जे० पूजिलुस्की, लिजे व अशोक, पृ० १२० देखिये)।

१. अवद्य मनुष्य की आयु को अल्प करते हैं और शस्यादि को अल्पवीर्य बनाते हैं—चक्कवत्तिसीहनादसुत्त (दीघ ३.७०-७१, लोकप्रज्ञप्ति, ११ बुधिष्ट कास्मालोजी पृ०३०६ आदि में अनूदित)।

२. अशनिः शिलावृष्टिः। रजोधूलवृष्टिः क्षारवृष्टिर्वा—(व्याख्या ४१८.२७)।

३. भाष्य—तत्र प्रयोगेणेह मौलेनेत्यपरे (व्या० ४१९.२)।

[१८६] भगवत् मिथ्यावाच्, मिथ्याकर्मान्त, मिथ्याजीव को अलग-अलग गिनाते हैं।[1] क्या इसके कहने का यह अर्थ है कि मिथ्याजीव, मिथ्यावाच् और मिथ्याकर्मान्त से पृथक् है?

यह पृथक् नहीं है—

लोभजं कायवाक्कर्म मिथ्याजीवः पृथक् कृतः ।
दुःशोधत्वात् परिस्कारलोभोत्थं चेन्न सूत्रतः ॥८६॥

८६ ए-सी. राग से उत्पन्न कायवाक्कर्म 'मिथ्याजीव' हैं; इसे पृथक् किया है क्योंकि इसकी शुद्धि कठिन है।[2]

द्वेष और मोह से उत्पन्न काय-वाक्-कर्म यथाक्रम मिथ्याकर्मान्त और मिथ्यावाच् कहलाते हैं। राग से उत्पन्न मिथ्याजीव हैं, इसे पृथक् इसलिये किया है क्योंकि मिथ्याजीव की विशुद्धि कठिन है। राग का स्वभाव अपहारक का है—जो कर्म-चित्त-राग उत्पन्न करता है उसकी रक्षा करना कठिन है। मिथ्याजीव की शुद्धि के जीवनपर्यन्त कठिन होने से भगवत् ने मिथ्याजीव को पृथक् किया है जिसमें वह शुद्धि के लिये प्रयत्नशील हो। यहाँ एक श्लोक[3] उदाहृत करते हैं—"विविध दृष्टियों से नित्य पर्यवस्थित होने के कारण गृही के लिए दृष्टि का शोध करना कठिन है; भिक्षु को आजीव का शोध करना कठिन है क्योंकि उसकी वृत्ति पराधीन है।"

---

१. संयुत्त, २८,१३; विभाषा, ११६,११—यह तीन मिथ्याङ्ग हैं, दीघ, ३.२५४,४.८६ सी-डी. में प्रतिषिद्ध मत के अनुसार 'आजीव' केवल जीवन का उपकरण, चीवर-पिण्डपातादि परिष्कार की प्राप्ति का प्रकार है।

२. =, रागजं कायवाक्कर्म मिथ्याजीवः पृथक्कृतः। दुः शुद्धेः] विसुद्धिमग्ग, पृ० २२ में आजीवपारिसुद्धि देखिये—धम्मपद, २४४-२४५ : सुजीवमहिरी केन...
मिथ्याजीव अष्टसाहस्रिका, पृ० ३३४ में वर्णित है।

३. अत्थसालिनी २२० अत्राह—विभाषा, ११६,१३—गृहस्थेन हि दुःशोधा दृष्टिर्विविधदृष्टिना। आजीवो भिक्षुणा चैव परेष्वायत्तवृत्तिना॥ (व्या०४२०,८)।
व्याख्या (४२०.६) में गृही की दृष्टियाँ परिगणित हैं—कौतुक मङ्गल तिथि मुहूर्त नक्षत्रादि दृष्टि। डिक्शनरी आफ़ सेण्टपीटर्ज् वर्ग, कौतुकमङ्गल-मङ्गलों पर चिल्डर्स देखिये; ६वाँ शिलालेख (सेना, १.२०३); सुत्तनिपात २५८; जातक, ८७: ह्यूवर, सूत्रालङ्कार, ३०२—महाव्युत्पत्ति, २६६,१६ मङ्गलपोषध—वैडल, लामाइज्म, ३६२; ग्रुनवेडल मिथोलोगी, ४७; ललित, ३७८,६ मङ्गलपूर्ण कुम्भ।

जो भिक्षु पिण्डपातादि के लिये पराधीन है उसके कुहना, लपना, नैमित्तिकता नैष्पेषि[क]ता और लाभेन लाभनिश्चिकीर्षा मिथ्याजीव होते हैं। देखिये ४.७७ बी-सी [व्याख्या ४२०.१४]। ६, १२६ देखिये—३.१६४ से तुलना कीजिये; सुमङ्गलविलासिनीः न कोतूहलमङ्गलिको होति कम्मं पच्चेति नो मङ्गलम्।

[१९०] ८६ सी-डी. यदि यह कहो कि यह केवल जीवितोपकरण-राग से समुत्थित कर्म है तो नहीं, क्योंकि यह मत सूत्र विरुद्ध है।[१]

यदि कोई यह विचार करे कि अपने रञ्जन के लिये ही जो नृत्य-गीतादि प्रयुक्त होता है वह मिथ्याजीव नहीं है, क्योंकि मिथ्याजीव केवल वह काय-वाक् कर्म हैं जो जीवितोपकरण-[२] राग से समुत्थित होते हैं तो यह युक्त नहीं है। वास्तव में शीलस्कन्धिका में[३] भगवत् उपदेश देते हैं कि हस्तियुद्धादि दर्शन मिथ्याजीव है। क्यों? क्योंकि यह मिथ्याविषय का परिभोग है।

---

१. =[वस्तुरागोत्थश्चेन्न सूत्र विरोधतः ॥] अक्षरार्थ—परिष्कार, उपकरण रागोत्थश्चेत्...।

२. जीवितोपकरण, महाव्युत्पत्ति; २३६,३२।

३. शीलस्कन्धिकायां इति शीलस्कन्धिकानां संनिपाते (व्याख्या ४२०.१८;) इसे इस प्रकार शोधना चाहिये—शीलस्कन्धानां...। शीलस्कन्धिका शीलस्कन्ध का संग्रह है। तिब्बती भाषान्तर और ह्यूनत्सङ्ग के अनुसार—शीलस्कन्धसूत्र; परमार्थ : शीलसंनिपातसूत्र।

जापानी सम्पादक संयुक्त १८,२१ का हवाला देते हैं। यह संयुत्त ३.२२८ (जो पुद्गल नीचे बैठकर भोजन करता है इत्यादि) के रूप हैं किन्तु वसुबन्धु को जो ग्रन्थ अभिप्रेत है वह ब्रह्मजाल और सामञ्ञफल (दीघ १.६,६५; लोटस आफ द गुड ला ४६५, रजिडेविड्स, डायलाग्स, १.१७; ओ फ्रांक, दीघ आउरवाल, पृ० ५) के 'सीलों' का संस्कृत रूपान्तर है। व्या० में दिया हुआ उद्धरण पालि और दीर्घ के चीनी भाषान्तरों से भिन्न है। हम इस उद्धरण को पूरा देते हैं—

यथा त्रिदण्डिन्[A] एके श्रमणब्राह्मणाः श्रद्धादेयं परिभुज्य विविधदर्शनसमारम्भानुयोगम् अनुयुक्ता विहरन्ति। तद्यथा हस्तियुद्धेऽश्वयुद्धे रथयुद्धे पत्तियुद्धे यष्टियुद्धे मुष्टियुद्धे सारसयुद्धे वृषभयुद्धे महिषयुद्धे अजयुद्धे मेषयुद्धे कुक्कुटयुद्धे वर्तकयुद्धे लावकयुद्धे स्त्रीयुद्धे पुरुषयुद्धे कुमारयुद्धे कुमारिका युद्धे उद्गूरणे उद्यूथिकायां[B] ध्वजाग्रे बलाग्रे सेनाव्यूहे अनीकसंदर्शने महासमाजम् वा प्रत्युनुभवन्त्येके। इत्येवंरूपाच्छ्रमणो विविधदर्शनसमारंभानुयोगात् प्रतिविरतो भवति॥ यथा त्रिदण्डिन्नेके श्रमणब्राह्मणाश्रद्धादेयं परिभुज्य विविधशब्दश्रवणसमारम्भानुयुक्ता विहरन्ति, तद्यथा रथशब्दे पतिशब्दे शङ्खशब्दे भेरीशब्दे आडम्बरशब्दे नृत्तशब्दे गीतशब्दे गेयशब्दे[C] अच्छादाशब्दे पाणिस्वरे कुम्भतूणीरे...चित्राक्षरे[C] चित्रपदव्यंजने लोकायत प्रतिसंयुक्ते[D] आख्यायिका वा श्रोतुमिच्छन्त्येके। इत्येवंरूपाच्छ्रमणो विविधशब्दश्रवणसमारम्भानुयोगात् प्रतिविरतो भवति। (व्या० ४२०.१८)।

ए. त्रिदण्डिन् (तिदण्डिक, त्रैदण्डिक) पर अङ्गुत्तर, ३.२७६, मज्झिम ५७, मिलिन्द १९१ महानिद्धेस, ८९,३१०,४१६ की श्रमण और अन्यतीर्थिक की सूची देखिये। रजि डैविड्स, डायलाग्स, १.२२० की टिप्पणियाँ, बेण्डल, शिक्षा-समुच्चय ३३१; फूशे, गान्धार, २.२६२।

[१६१] हमने देखा है (२.५६) कि ५ फल हैं—अधिपतिफल, पुरुषकार, निष्यन्द, विपाक, विसंयोगफल। प्रश्न है कि विविध प्रकार के कर्मों के कितने फल होते हैं।

प्रहाणमार्गे लभते सफलं कर्म पञ्चभिः।
चतुर्भिरमलेऽन्यच्च सास्रवं यच्छुभाशुभम् ॥८७॥

८७ ए-बी. प्रहाणमार्ग में सास्रव कर्म के पाँच फल होते हैं।[1]

प्रहाणमार्ग इसलिये कहलाता है क्योंकि यह मार्ग प्रहाणार्थ है या इसलिये कि इसके द्वारा क्लेश प्रहीण होते हैं (प्रहीयन्तेऽनेन)। इस मार्ग को आनन्तर्य कहते हैं। इसका व्याख्यान आगे चलकर (६.२८,४९) होगा। यह दो प्रकार का है—अनास्रव और सास्रव।

[१६२] जो कर्म सास्रव आनन्तर्य मार्ग में संगृहीत है उसके ५ फल होते हैं—

१. विपाकफल—सुखविपाक जिसकी भूमि वही है जो कर्म की है; २. निष्यन्दफल—समाधिज धर्म, कर्म सदृश, उत्तर (समाधिजा[2] उत्तरे सदृशा धर्माः); ३. विसंयोग-फल—क्लेशों से विसंयोग, क्लेशों का प्रहाण; ४. पुरुषकार फल—यह कर्म जिन धर्मों को आकृष्ट करता है (तदाकृष्ट) अर्थात् (१) विमुक्तिमार्ग (६.२८), (२) सहभूधर्म,[1] (३) अनागत धर्म जिसकी प्राप्ति इस कर्म के बल से होती है (यच्चानागतं भाव्यते), (४) स्वयं वह प्रहाण;[2] ५. अधिपत्ति फल—उस कर्म को, पूर्वोत्पन्न धर्मों (२.५९) को वर्जित कर सर्व संस्कृत धर्म।

बी. उद्गालवशे उत्सतिकायाम् (केम्ब्रिज का पाठ—ई० जे० टामस ने सूचित किया है)—महाव्युत्पत्ति, २६१, ५१ और ५३ के अनुसार शोधित—प्रातिमोक्ष, पाचित्तिय ४८-५० पातयन्तिका ४७, फिनों, जे. ए. एस. १९१३,२.५१२।

सी. शय्याशब्दे...कंचिते चित्राक्षरे—दीघ ३.१८३: नच्चगीतवादित्त अक्खानपाणिस्सर कुम्भथूने (जातक, ५. पृ० ५०६, ६. पृ० २७६ कुम्भथून, थूनिक; महावस्तु, २.१५४,३.११३ कुम्भतूणि, तुन, तूणिक, थूनिक; चक्रिकवैतालिकनटनतंकऋल्लमल्लपाणिस्वरिका शोभिका लंघका कुम्भतूणिका...।

डी. प्रतिसंयुक्ता (?) पढ़िये।

१. तिब्बती भाषान्तर=[प्रहाणमार्गेसमलम्] सफलं [कर्मपञ्चभिः।]

२. कर्म सदृश अर्थात् जो न अनास्रव हैं, न अव्याकृत। परमार्थ और ह्यून्त्सांग, २.५२ के निर्वचनों के अनुसार, अनुवाद करते हैं—"उत्तर सभाग, सम या ऊर्ध्वधर्म।"

१. व्याख्या, (४२१.११), अर्थात् चित्तसंप्रयुक्त धर्म और चित्तविप्रयुक्त धर्म (जाति आदि); २.३५ देखिये। विभाषा (९,११) के अनुसार सहभू रूप और अनुवर्ती विप्रयुक्त हैं।

२. पुरुषकार फलं तदाकृष्टा धर्मास्तद्यथा विमुक्तिमार्गः सहभुवो यच्चानागतं भाव्यते तच्च प्रहाणम्। इसलिये प्रहाण विसंयोगफल और पुरुषकार फल दोनों हैं। (व्याख्या ४२१.२२)।

८७ सी. अनास्रव के चार फल होते हैं,[३] विपाक-फल को वर्जित कर पूर्व के।

८७ सी-डी. अन्य सास्रव शुभ या अशुभ भी इसी प्रकार।[४]

जो कर्म प्रहाणमार्ग में संगृहीत नहीं है, जो सास्रव है, जो कुशल या अकुशल है, उसके भी विसंयोग-फल को छोड़कर ४ फल होते हैं।

अनास्रवं पुनः शेषं त्रिभिर् अव्याकृतं च यत्।
चत्वारि द्वे तथा त्रीणि कुशलस्य शुभादयः ॥८८॥

८८ ए-बी. अनास्रव कर्म का शेष और अव्याकृत, तीन फल।[५]

अनास्रव कर्म-शेष का—अर्थात् प्रहाणमार्ग में असंगृहीत किन्तु प्रयोग विमुक्ति-विशेष मार्गों में (६.६५ बी) संगृहीत अनास्रव कर्म का—विसंयोग-फल नहीं होता क्योंकि यह प्रहाण हेतु नहीं है, विपाक फल भी नहीं होता क्योंकि यह अनास्रव है।

अव्याकृत कर्म भी चाहे निवृत्ति हो या अनिवृत्ताव्याकृत, इन दो फलों से रहित होता है। विविध शुभ, अशुभ, अव्याकृत कर्मों का स्वभाव क्या हो सकता है?

[१९३] ८८ सी-डी. कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्म कुशल कर्म के चार, दो, तीन फल होते हैं।[१]

कुशल कर्म के निष्यन्दफल, विसंयोगफल, पुरुषकार फल और अधिपति-फल कुशल धर्म होते हैं। विपाकफल का स्वभाव अव्याकृत है (२.५७)।

कुशलकर्म से पुरुषकार फल और अधिपति फल अकुशल धर्म होते हैं।

कुशलकर्म का निष्यन्द-फल अवश्य कुशल होता है; विसंयोग फल का स्वभाव कुशल है।

कुशलकर्म के विपाकफल, पुरुषकाल फल और अधिपतिफल अव्याकृत धर्म हैं।

अशुभस्य शुभाद्या द्वे त्रीणि चत्वार्यनुक्रमम्।
अव्याकृतस्य द्वे त्रीणि त्रीणि चैते शुभादयः ॥८९॥

---

३. तिब्बती भाषान्तर = [चतुर्भिरमलम्]

४ तिब्बती भाषान्तर = [अन्यत् सास्रवम्] यच्छुभाशुभम् ॥ (व्या० ४२१ २३)।

५. अनास्रवं पुनः शेषं अव्याकृतं च यत् त्रिभिः। (व्या० ४२१.३०)।

१. चत्वारि द्वे तथा त्रीणि कुशलस्य [शुभादयः]; (व्याख्या ४२२.५) चतुर्थपाद, ८९ बी. के अनुसार "अनुक्रम" जोड़िये (भाष्य)।

८९ ए-बी. कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्म यथाक्रम दो, तीन, चार अकुशल कर्म के फल हैं।[2]

'अनुक्रमम्' पद का अर्थ 'यथाक्रमम्' है।

अकुशल कर्म के दो फल—पुरुषकार फल और अधिपत्ति फल—कुशल धर्म हैं।

तीन फल—विपाक और विसंयोगफल को छोड़कर—अकुशल धर्म हैं।

चार फल—विसंयोग फल को छोड़कर—अव्याकृत धर्म हैं।

इसलिये इसे स्वीकार करना पड़ता है कि अकुशल धर्मों का निष्यन्दफल अव्याकृत धर्म हो सकते हैं, यह कैसे ?[3]

[१९४] सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि (५.६ बी.) यह दो अव्याकृत धर्मों के निष्यन्दफल हैं—अर्थात् सर्वत्रग (२.५४,५.१२) क्लेश जो दुःखसमुदय दर्शन से प्रहातव्य हैं और रागादि क्लेश जो दुःखदर्शनहेय हैं।

८९ सी-डी. यह धर्म-कुशल, अकुशल अव्याकृत—अव्याकृत कर्म के २,३, ३ फल हैं।[1]

दो फल—पुरुषकार-फल और अधिपति-फल—कुशल धर्म हैं।

तीन फल—विपाकफल और विसंयोगफल को छोड़कर—अकुशलधर्म हैं। वास्तव में पाँच प्रकार के (२.५२ बी) अकुशल धर्म जो दुःखादि दर्शनहेय हैं, सत्कायदृष्टि और अन्तग्राह दृष्टि इन दो अव्याकृतों के निष्यन्दफल हैं।

तीन फल—यथा-ऊर्ध्व—अव्याकृत हैं।

काल, भूमि आदि के विषय में—

सर्वेऽतीतस्य चत्वरि मध्यमस्याप्यनागताः।
मध्यमा द्वे अजातस्य फलानि त्रीण्यनागताः ॥९०॥

९० ए. सर्व प्रकार के धर्म अतीत कर्म के चार फल हैं।[2]

सर्वधर्म अथवा सर्वप्रकार के धर्म अर्थात् अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागतधर्म अतीतकर्म

---

२. अशुभस्य शुभाद्या द्वे त्रीणि चत्वार्यनुक्रमम्।

३. सभागहेतु और उसके फल में सादृश्य होना चाहिये। यह फल निष्यन्दफल है। किन्तु अकुशल धर्म अव्याकृत धर्म (निवृताव्याकृत प्रकार का धर्म) से भिन्न है क्योंकि इसका विपाक होता है। किन्तु दोनों क्लिष्ट हैं। यही सादृश्य है।

१. अव्याकृतस्य द्वे त्रीणि त्रीणि चैते शुभादयः।

२. तिब्बती भाषान्तर=[चत्वार्यतीतस्य सर्वे]

के चार फल हो सकते हैं।[३] विसंयोगफल को वर्जित करना चाहिये जो अध्वपतित नहीं हैं।

९० बी. अनागतधर्म मध्यम कर्म के चार फल हैं।[४]

[१९५] मध्यम कर्म अर्थात् प्रत्युत्पन्न के विसंयोग-फल को छोड़कर चार फल होते हैं, जो अनागत धर्म हैं।

९० सी. दो मध्यम धर्म हैं।[१] प्रत्युत्पन्न धर्म मध्यम कर्म के अधिपति-फल और पुरुषकार-फल हैं।

९० सी-डी. अजात कर्म के तीन फल हैं जो अनागतधर्म हैं[२]—विपाकफल, अधिपतिफल, पुरुषकारफल। अनागत कर्म का निष्यन्दफल नहीं होता (२.५७ सी)।

स्वभूमिधर्माश्चत्वारि त्रीणि द्वे चान्यभूमिकाः।
शैक्षस्य त्रीणि शैक्षाद्या अशैक्षस्य तु कर्मणः ॥९१॥

९१ ए-बी. स्वभूमि धर्म के चार फल होते हैं, अन्यभूमिक धर्म तीन या दो फल होते हैं।[३]

किसी भूमि का कर्म विसंयोग-फल को वर्जित कर चार फलों का उत्पाद करता है। यह फल स्वभूमि धर्म हैं।

कर्म की भूमि से अन्य भूमि के अनास्रव धर्म इस कर्म के तीन फल होते हैं—पुरुषकार फल, अधिपतिफल और २.५३ के सिद्धान्त के अनुसार निष्यन्दफल भी।

कर्म की भूमि से अन्य भूमि के सास्रव धर्म इस कर्म के पुरुषकारफल और अधिपतिफल होते हैं।

---

३. एक अतीत कर्म हो सकता है। अतीत धर्म जो इस कर्म के पश्चात् उत्पन्न होता है और जो उसका विपाक है उसका विपाकफल है, जो धर्म इससे आकृष्ट होते हैं, जो सहजात या पश्चात् अनन्तर जात हैं, उसके पुरुषकार-फल हैं; सब धर्म जो सहोत्पन्न हैं या पश्चात् उत्पन्न होकर अब अतीत हो गये हैं उसके अधिपतिफल हैं; सब सदृश धर्म जो पश्चात् उत्पन्न हुए और अब अतीत हैं, उसके निष्यन्दफल हैं। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्म अतीतकर्म के चार फल हैं।

४. मध्यमस्याप्यनागताः। (व्या० ४२२.३२)

१. तिब्बती भाषान्तर [द्वे मध्यमा]

२. तिब्बती भाषान्तर=[अजातस्य फलत्रयमनागताः ॥]

३. तिब्बती भाषान्तर=[स्वभूमिकास्तु चत्वारि त्रीणि द्वे चान्यभूमिकाः]

९१ सी. शैक्षादि धर्म शैक्ष कर्म के तीन फल होते हैं।[४]

शैक्ष धर्म शैक्ष कर्म के निष्यन्दफल, पुरुषकार-फल और अधिपति-फल होते हैं।

[१९६] इसी प्रकार अशैक्ष धर्म। नैवशैक्ष नाशैक्ष धर्म शैक्ष कर्म के पुरुषकारफल, अधिपति फल और विसंयोग-फल हैं।

धर्मा शैक्षादिका एकम् फलं त्रीण्यपि च द्वयम्।
ताभ्यामन्स्य शैक्षाद्या द्वे द्वे पञ्चफलानि च॥९२॥

९१ डी ९२ बी. शैक्षादि धर्म अशैक्षादि कर्म के एक फल, तीन फल, दो फल होते हैं।[१] शैक्ष धर्म इस कर्म के अधिपतिफल हैं।

अशैक्ष धर्म इस कर्म के अधिपतिफल, निष्यन्दफल, पुरुषकारमूल हैं। नैवशैक्षनाशैक्षधर्म इस कर्म के अधिपतिफल और पुरुषकारफल हैं।

९२ सी-डी. शैक्षादि धर्म दो पूर्व कर्मों से अन्य कर्म के दो फल, दो फल, पाँच फल होते हैं।[२] नैवशैक्षनाशैक्ष कर्म से यहाँ अभिप्राय हैं।

शैक्षधर्म और अशैक्षधर्म इस कर्म के पुरुषकारफल और अधिपतिफल हैं।

नैवशैक्षनाशेक्ष धर्म इस कर्म के पाँच फल हैं—

त्रीणि चत्वारि चैकं च हग्हेयस्य तदादयः॥
ते द्वे चत्वार्यथ त्रीणि भावनाहेयकर्मणः॥९३॥

९३ ए-बी. दर्शनहेय धर्म, भावनाहेय धर्म, अप्रहेय धर्म, दर्शनहेय कर्म के तीन फल, दो फल, एक फल हैं।[३] दर्शनहेय धर्म दर्शनहेय कर्म के अधिपति, पुरुषकार और निष्यन्द फल हैं।

[१९७] भावनाहेय धर्म इस कर्म के चार फल हैं—विसंयोगफल को छोड़कर। अप्रहेय धर्म इस कर्म के अधिपतिफल हैं।

---

४. तिब्बती भाषान्तर=[शैक्षस्य त्रीणि शैक्षाद्याः]—विसंयोग न शैक्ष है, न अशैक्ष। ६.४५,२.३८ ए देखिये।

१. तिब्बती भाषान्तर=[अशैक्षस्य तु कर्मणः। शैक्षधर्मादयस्...।

२. तिब्बती भाषान्तर=[शैक्षादयस्तदन्यस्य द्वे द्वे फलानि पञ्च च॥]

३. तिब्बती भाषान्तर=[त्रीणि दर्शनहेयस्य चत्वार्येकम्] तदादयः। तदादयः=दर्शन हेयादयः (व्या० ४२४.२)।

९३ सी-डी. यही धर्म भावनाहेय कर्म के २, ४, ३ फल होते हैं।[1] दर्शनहेयधर्म भावनाहेय कर्म के पुरुषकार और अधिपतिफल हैं। भावनाहेयधर्म इस कर्म के चार फल हैं—विसंयोग-फल को छोड़कर। अप्रहेय धर्म इस कर्म के पुरुषकार, अधिपति और विसंयोग फल हैं।

अप्रहेयस्य ते त्वेकं द्वे चत्वारि यथाक्रमम्।
अयोगविहितं क्लिष्टं विधिभ्रष्टं च केचन ॥९४॥

९४ ए-बी. यही धर्म अप्रहेय कर्म के यथा क्रम १, २, ४ फल हैं।[2] दर्शनहेयधर्म अप्रहेय कर्म के अधिपति-फल हैं।

भावनाहेय धर्म इस कर्म के अधिपति और पुरुषकारफल हैं।[3] अप्रहेय धर्म इस कर्म के चार फल हैं—विपाकफल को छोड़कर।

भाष्य में 'यथाक्रमम्' है जैसा आदि में (४.८९ बी.) यथाक्रमम् के अर्थ में 'अनुक्रमम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'यथाक्रमम्' का पुनः ग्रहण है, इससे यह परिणाम निकलेगा कि इस शब्द का ग्रहण प्रत्येक निर्वचन में होना चाहिये। यह अभिसंक्षेपन्याय है। (व्या० ४२४.१३)

[१९८] कर्म-सिद्धान्त की मीमांसा में निम्न प्रश्न पुनः पूछा जाता है — शास्त्र [ज्ञान-प्रस्थान] योगविहित, अयोगविहित, नैवयोगविहित नायोगविहित कर्म का उल्लेख करता है। इन तीन कर्मों का क्या विवेचन है?

९४ सी-डी. अयोगविहित कर्म क्लिष्ट कर्म है; कुछ के अनुसार विधि प्रभ्रष्ट कर्म भी।[1]

कुछ का कहना है कि अयोगविहित कर्म क्लिष्ट कर्म है क्योंकि यह अयोनिशोमनस्कार से सम्भूत होता है।[2] दूसरों के अनुसार विधिप्रभ्रष्ट कर्म भी अयोगविहित कर्म है। जब कोई पुद्गल जैसा उसको उचित है, उसके विपरीत चक्रमण करता है, अवस्थान करता है, भोजन करता है, चीवर धारण करता है, तब यह कर्म जो अनिवृत्ताव्याकृत हैं अयोग विहित हैं क्योंकि यह पुद्गल अयोगेन कार्य करता है। योगविहित कर्म के विषय में भी इसी प्रकार का मतभेद है।

---

१. तिब्बती भाषान्तर = [ते तु द्वे चत्वारि त्रीणि भावनाहेयकर्मणः ॥] ते = दर्शन-हेयादयः। (व्याख्या ४२४.५)

२. तिब्बती भाषान्तर = अप्रहेयस्य ते त्वेकम् द्वे चत्वारि यथाक्रमम्। (व्या० ४२४.११)

३. भावनाहेय पुरुषकारफल —कुशल धर्म जिनका उत्पाद अनास्रव मार्ग से व्युत्थान के काल में होता है।

१ [अयोगविहितम् क्लिष्टं विधिप्रभ्रष्टमित्यपि ॥]

२. अयोनिशोमनस्कार = अयोन्या अन्यायेन क्लेशयोषेन यः प्रवृत्तो मनस्कारः... (व्याख्या)।

यह कुशल कर्म है अथवा कुशल तथा अविधिप्रभ्रष्ट कर्म है। जो कर्म योगविहित और अयोगविहित से अन्य है, वह नैवयोगविहित नायोगविहित कर्म है।

एक कर्म, क्या एक जन्म या कई जन्म आक्षिप्त करता है (आक्षिपति) ?

क्या कई कर्म, एक जन्म या कई जन्म का आक्षेप करते हैं ? सिद्धान्त के अनुसार—

एकं जन्म क्षिपत्येकम् अनेकं परिपूरकम् ॥
नाक्षेपिके समापत्ती अचित्ते प्राप्तयो न च ॥९५॥

९५ ए. एक कर्म, एक जन्म का आक्षेप करता है।[३]

'जन्म' शब्द 'जाति' की आख्या नहीं है किन्तु निकायसभाग की (२.४१ ए) आख्या है। जो निकायसभाग में आता है उसके लिये कहा जाता है कि इसका जन्म हुआ है।

[१९९] १. एक कर्म एक जन्म का आक्षेप करता है, अनेक का नहीं। सौत्रान्तिक – यह वाद स्थविर अनिरुद्ध के वचन के विरुद्ध है—

"केवल इस पिण्डपात-दान के विपाकवश त्रयस्त्रिंश देवों में ७ वार उपपन्न होकर मैं समृद्ध शाक्यों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ।"[१]

उत्तर—इस पिण्डपात-दान से अनिरुद्ध ने समृद्धि का लाभ किया है; उसने पूर्व निवासों की स्मृति का लाभ किया है; उसने अनेक अन्य पुण्यकर्म सम्पन्न किये हैं—अपनी इस उक्ति से वह इसका उत्थान दिखाना चाहते हैं।[२] यथा, एक पुद्गल एक दीनार से सहस्र दीनार अर्जित कर यह कह सकता है कि "एक दीनार से मैंने इस सम्पत्ति का लाभ किया है।"

---

३. एकं जन्माक्षिपत्येकम्। विभाषा, १९, १६, २०, १४ के अनुसार—योगसूत्र का यही सिद्धान्त है।

१. परमार्थ—अतीतकाल में एक पिण्डपात-दान के विपाक से ही मैं त्रयस्त्रिंश देवों में ७ बार उपपन्न हुआ हूँ, ७ बार मैं चक्रवर्तिन् राजा हुआ हूँ और इस जन्म में मैं समृद्ध शाक्यकुल में उत्पन्न हुआ हूँ। ह्यून्त्सङ्ग का वर्णन इससे अधिक विस्तृत है, उसमें भी ७ देवजन्म और चक्रवर्तिन् के कुल में ७ मनुष्य जन्म का उल्लेख है।

व्याख्या (४२४.२९) के अनुसार अनिरुद्ध ने नगरशिखी प्रत्येक बुद्ध को (मज्झिम, ३.६९; जातक, ३९०; धम्मपद, ३५५ के प्रत्येक बुद्धों में से एक) यह दान दिया था; थेरगाथा, ९१० (अनुवाद देखिये, पृ० ३२९ के अनुसार यह दान यसस्सिन् उपनाम के उपरिट्ठ को दिया गया था। मज्झिम की सूची में उपरिट्ठ और यसस्सिन् दो अलग-अलग प्रत्येक बुद्ध हैं।

२. देमेवील, बी० ई० एफ० ई० ओ०, तिब्बती भाषान्तर १९२०, ४.१६१। स तेन समृद्धि लब्ध्वा जातिस्मृतिमन्यानि च पुण्यानि कृत्वा तदुत्थानं दर्शयति।

वह पुनः उत्तर देता है[३]—अनिरुद्ध ने अपने भिक्षादान के कारण, अपने भिक्षादान के सम्बन्ध में, अनेक चेतना-प्रवाह का प्रवर्तन किया है—प्रत्येक चेतना का एक फल होता है।

२. अनेक कर्म युगपत् एक जन्म का आक्षेप नहीं करते, क्योंकि यदि अन्यथा होता तो जन्मों का आक्षेप भागशः होता। किन्तु यह स्वीकार किया जाता है कि जब एक जन्म केवल एक कर्म से आक्षिप्त होता है तो—

९५ बी. अनेक कर्म जन्म के परिपूरक होते हैं।[४]

[२००] यथा, एक चित्रकार चित्र के क्षेत्र को तूलिका की एक रेखा से परिच्छिन्न करता है और पश्चात् इस चित्र को भरता है[१]—यथा, मनुष्य के तुल्य होते हुए भी किसी के इन्द्रिय, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, सकल होते हैं; कोई वर्ण, आकृति, संस्थान और वल के उत्कर्ष से सुन्दर होता है और किसी में इसका या उसका अभाव होता है।[२]

केवल कर्म ही नहीं जन्म का आक्षेप करता है। सब सविपाक धर्म भी, अर्थात् वेदनादि आक्षेप करते हैं।[३] किन्तु—

९५ सी-डी—न दो अचित्तक समापत्ति और न प्राप्ति आक्षेप करती हैं।[४]

यद्यपि यह सविपाक हैं तथापि दो अचित्तक समापत्ति (२.४२) आक्षेप नहीं करती क्योंकि वह कर्म के साथ नहीं होतीं (सह न भवतः)। प्राप्ति (२.३६) आक्षेप नहीं करतीं क्योंकि आक्षेपक कर्म के साथ होते हुए भी उनका वही फल नहीं होता जो कर्म का होता है।[५]

---

३. शुआन-चाङ्—"पुनः कुछ कहते हैं...।"

४. अनेकं परिपूरकम्।

१. परमार्थ—यथा, एक चित्रकार एकरूप से मनुष्य के चित्र की कल्पना करता है और उसे अनेक रूपों से पूरिपूर्ण करता है।

२. एक मनुष्य सकलेन्द्रिय होता है, दूसरा विकलेन्द्रिय होता है। परिपूरक कर्म के भेद से यह अनुपपन्न है क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ आक्षेपक कर्म के फल हैं—"षडायतन का आक्षेप होता है।" (आक्षिप्यते) किन्तु वर्ण, संस्थान आदि परिपूरक कर्म के फल हैं (व्याख्या, ४२४.३१)।

३. शुआन-चाङ्—केवल कर्म ही नहीं किन्तु सब सविपाक धर्म भी जन्म का आक्षेप करते हैं; और उसके परिपूरक होते हैं। किन्तु कर्म के प्राधान्य के कारण केवल कर्म का ही उल्लेख होता है। किन्तु यह धर्म जब वह कर्म के सहभू नहीं होते, परिपूरक हो सकते हैं किन्तु आक्षेप नहीं कर सकते; क्योंकि उनका बल स्वल्प है। दो प्रकार हैं—"न दो समापत्ति आक्षेप करती हैं...।" चेतनाख्य कर्म से संप्रयुक्त वेदनादि चैत्त उसके साथ आक्षेप करते हैं।

४ [अचित्तकसमापत्ती नाक्षिपतो न चाप्तयः।]

५. कर्मणाऽनेकफलत्वात्—व्याख्या (४२५ ८)—तदाक्षेपकेण कर्मणा सहभवन्त्योऽपि प्राप्तयो न तेनैवं सफलाः —विभाषा, १९,१३ में घोषक का मत देखिये —समागतादि को आकृष्ट करने का सामर्थ्य प्राप्ति में नहीं होता।

[२०१] भगवत्-वचन है कि आवरण तीन हैं—कर्मावरण—कर्म ही आवरण है या कर्म का आवरण—क्लेशावरण, (क्लेश ही आवरण है), विपाकावरण (विपाक ही[१] आवरण है)। तीन आवरण क्या हैं ?

आनन्तर्याणि कर्माणि तीव्रक्लेशोऽथ दुर्गतिः।
कौरवासंज्ञिसत्वाश्च मतमावरणत्रयम् ॥९६॥

९६. आनन्तर्य कर्म, अभीक्ष्ण क्लेश, दुर्गति-असंज्ञिसत्त्व-कुरु—यह त्रिविध आवरण है।[२]

कर्मावरण पाँच आनन्तर्य कर्म हैं—मातृवध, पितृवध, अर्हत्-वध, सङ्घ-भेद, दुष्टचित्त से तथागत का लोहितोत्पाद।[३]

शुआन-चाङ् में यह अधिक है "अन्य [सविपाक धर्म] आक्षेप करते हैं और परिपूरक होते हैं।"

१. यही वाद बोधिसत्वभूमि, १.§४,६ आदि में है। पालि में, जैसा यहाँ है, 'आवरण' वह है जो आर्यमार्ग-प्रवेश में अन्तराय है, जो एक पुद्गल को अभव्य बनाता है। तीन आवरणों का उल्लेख अङ्गुत्तर, ३.४३६ और विभङ्ग, ३४१ में है किन्तु यह तीन अन्य धर्मों से संप्रयुक्त हैं—(असद्धो च होति अच्छन्दिको च दुप्पञ्ञो च) [संयुत्त, ५.७७ दीघ, १.२४६ के 'आवरण' विनय में प्रतिबन्ध, 'नीवरण' हैं (कोश, ५.५९ देखिये)]।

महायान में क्लेश और ज्ञेयावरण से अभिप्राय भव्यता के आवरण, मार्ग-प्रवेश की योग्यता के आवरण से नहीं है किन्तु चित्त-विमोक्ष के आवरण से है। इसी प्रकार कोश ६.७७ में अर्हत्-चित्त को छोड़कर अन्यचित्त एक आवृत्ति से 'ढका होता है'—योगसूत्र ४.३०।

शिक्षासमुच्चय, २८० आदि का 'कर्मावरण' अभिधर्म का 'कर्मावरण' है। 'अक्षण' जिनके प्रतिपक्ष ४ मार्ग हैं, अंशतः विपाकावरण के अनुरूप हैं। (महाव्युत्पत्ति, १२०,८३; नैनजिओ ७२८ और अन्य प्रभव, रेलिजिओ आमिना, ७०, सैङ्क सान्त कान्त, १.३२,२३१ आदि)।

२. [आनन्तर्याणि कर्माण्यभीक्ष्णक्लेशो दुर्गतयः।
असंज्ञिसत्वाः कुरव आवरणत्रयं मतम् ॥]
विसुद्धिमग्ग, १७७ के लक्षणों से तुलना कीजिये।

३. यह विभङ्ग, पृ० ३७८ का क्रम है। महाव्युत्पत्ति, १२२ में अर्हत् का प्राणातिपात पितृवध के पूर्व है; धर्म-संग्रह, ६० में तथागत का लोहितोत्पाद सङ्घभेद के पूर्व है।

(१) सुत्तनिपात, २३१ (खुद्दकपाठ,६)। ६ अभिठान; अङ्गुत्तर, १.२७ : आर्य के लिए ६ असम्भव वस्तु अर्थात् १. मातुघात, २. पितुघात, ३. अरहन्तघात, ४. लोहितुप्पाद, ५. सङ्घभेद, ६. अञ्ञसत्थु-उद्देस [निस्सन्देह ६ का अर्थ 'बुद्ध से अन्य किसी शास्ता को स्वीकार करना' है।]

[२०२] क्लेशावरण अभीक्ष्ण क्लेश है। क्लेश दो प्रकार का है—अभीक्ष्ण और तीव्र।[1] अभीक्ष्ण क्लेश निरन्तर रहता है, तीव्र क्लेश अधिमात्र क्लेश है। अभीक्ष्ण क्लेश आवरण होता है, यथा षण्ढ में। जो क्लेश समय-समय पर उपस्थित होता है, जिसका स्फोट तीव्र होता है, उस क्लेश का निरोध हो सकता है किन्तु निरन्तर समुदाचार करने वाला क्लेश, यद्यपि मन्द भी हो, निरुद्ध नहीं हो सकता। जिस पुद्गल में यह प्रवृत्त होता है, वह उसके निरोध के लिए यत्न करने का समय नहीं पाता। मृदु से यह मध्य होता है, मध्य से अधिमात्र होता है, इसलिए यह आवरण है।

---

(२) अङ्गुत्तर, ३.४३६ छः वस्तुओं का उल्लेख करता है जिनके कारण पुद्गल अभव्य होता है, आर्यमार्ग-प्रवेश में असमर्थ होता है...। पूर्वसूची के १-५ और 'दुप्पञ्ञो होति जडो एल मूगो'।

(३) चुल्लवग्ग, ७.३,९ इदम् देवदत्तेन पठमं आनन्तरिककम्मं उपचितं यं दुट्ठचित्तेन वधकचित्तेन तथागतस्स रुधिरं उप्पादितं; ६.१७,३ में प्रसिद्ध सूची के ५ आनन्तर्य भिक्षुणी के साथ अब्रह्मचर्य और तिर्यक्भाव आदि के सहित परिगणित हैं।

(४) धम्मसङ्गणि, १०२८ (अत्थसालिनी, पृ० ३५८) उन ६ धर्मों का व्याख्यान करती है, जो नियत रूप से दुर्गति के कारण होते हैं (मिच्छत्तनियत, कोश, ३.४४ सी-डी देखिये)—पञ्च कम्मानि अनन्तरकानि या च मिच्छादिट्ठि नियता,—"पाँच आनन्तर्यकर्म और नियत मिथ्यादृष्टि।" पुग्गलपञ्ञत्ति इनको अपायनियत बताती है—पञ्चपुग्गला आनन्तरिका ये च मिच्छादिट्ठिका = "५ आनन्तर्य के आपन्न और मिथ्यादृष्टिक पुद्गल"।

'नियत मिथ्यादृष्टि' का क्या अर्थ करना चाहिये ?

अत्थसालिनी का विवेचन—मिच्छादिट्ठि नियताति अहेतुवाद-अकिरियवाद-नत्थिकवादेसु अञ्ञतरा ("यौङ्गटिन और रज़ि डैविड्स का अनुवाद)। हम इस प्रकार अनुवाद करेंगे—नियतमिथ्यादृष्टि अहेतुवाद, अक्रियावाद, नास्तिकवाद में से कोई एक है।" (मज्झिम, ३.७८)। वह मिथ्यादृष्टि (ऊपर पृ० १६७) अभिप्रेत है, जो अन्य दृष्टियों के असदृश मिथ्यादृष्टि नामक कर्मपथ है, अत्थसालिनी, पृ० १०१—नत्थिकाहेतुअकिरिय-दिट्ठीहि एव कम्मपथभेदो होति न अञ्ञदिट्ठीहि [अन्य मिथ्यादृष्टियों में यथा सत्कायदृष्टि है]। इसलिए वह प्रधान मिथ्यादृष्टि 'नियत' है जो कोश के अनुसार कुशलमूल का समुच्छेद करती है (नास्तिदृष्टि, ४.७९)। 'नियत मिथ्यादृष्टि' उस पुद्गल के लिए 'सनियम मिथ्यादृष्टि' है अर्थात् 'मिच्छत्तनियम' के साथ है जो इस दृष्टि को रखता है। अभिधम्म के अनुसार इस पापी का पतन नियत है। हमने देखा है (४.८० डी) कि अभिधर्म का वाद इससे भिन्न है।

(५) ३.१८२, टिप्पणी २ देखिये। विभङ्ग, पृ० ३७८ में ५ 'कम्मानि आनन्तरिकानि' गिनाए गये हैं।

१. 'तिब्ब' से आवरण नहीं होता, मज्झिम, १.३०८।

[२०३] विपाकावरण तीन दुर्गतियाँ—नरक, तिर्यक्, प्रेत—और सुगतियों का एक भाग—उत्तर कुरु में मनुष्य-भव, असंज्ञिदेवों में दिव्य भव है।

आवरण का क्या अर्थ है ?

जो आर्यमार्ग और आर्यमार्ग के प्रायोगिक कुशलमूल अर्थात् ऊष्मगतादि (६.१७) को आवृत्त करता है।

आक्षेप—आनन्तर्य के साथ-साथ कर्म के अन्य प्रकारों को कर्म के आवरण के रूप में, आवरण करने वाले कर्मों के रूप में, गिनाना चाहिए। जो कर्म नियतरूप से अपायादि का उत्पाद करते हैं (अपायादिनियत),[१] जो अण्डज योनि, संस्वेदज योनि, स्त्रीत्व और अष्टम भव का नियत रूप से उत्पाद करते हैं; वह आवरण हैं।

उत्तर - यहाँ वही कर्म वर्णित हैं जो पाँच दृष्टियों से दूसरों से सुखपूर्वक देखे जाते हैं (सुदर्शक) और जो कर्ता के लिए भी सुज्ञेय हैं (सुप्रज्ञक) अधिष्ठानतः आनन्तर्य का कर्मपथ प्राणातिपात, मृषावाद, प्राणातिपात-प्रयोग है। इसका फल अनिष्ट है। यह नरक-गति का प्रापक है। इसके विपाक का काल अनन्तर उपपत्ति हैं। यह उपपद्यवेदनीय है। अवद्यकारी पुद्गल स्वयं पितृघातक...कहलाता है। इन पाँच कारणों से आनन्तर्य कर्म सुदर्शक और सुप्रज्ञक हैं।[२]

आवरणों में सर्वपापिष्ठ क्लेशावरण है, इससे लघु कर्मावरण है। क्योंकि यह दो आवरण केवल दृष्टधर्म में नहीं किन्तु अनन्तर उपपत्ति में भी अधिगम-धर्म को अभव्य बनाते हैं।

[२०४] वैभाषिकों के अनुसार (विभाषा, ११५.१७) क्लेशावरण सर्वपापिष्ठ है क्योंकि यह कर्मावरण का आवाहन करता है। कर्मावरण, विपाकावरण की अपेक्षा अधिक गुरु है क्योंकि यह इस आवरण का आवाहन करता है।

---

१. "अपायादि"—'आदि' शब्द से असंज्ञिसमापत्ति (२.४१ बी-सी) महाब्रह्म—(४४४ बी-डी, ६.३८ ए-बी) संवर्तनीयकर्म और षण्ढपण्ड को भयव्यञ्जन—संवर्तनीयकर्म का ग्रहण होता है। जो पुद्गल मार्ग में प्रवेश करता है वह अधिक से अधिक सात भव के पश्चात् मोक्ष का लाभ करता है। (६.३४ ए बी)। इसलिए जिस पुद्गल ने ऐसा कर्म किया है जिसका विपाक अष्टम भव होता है, वह आर्यमार्ग में नहीं प्रवेश कर सकता (सुत्तनिपात, को २३० देखिये)।

२. भाष्य—[पञ्चधा] सुदर्शकानि सुप्रज्ञकानि। अधिष्ठानतः फलतो गतित उपपत्तितः पुद्गलतश्च (व्या०४२५.१९)। इसका यह अर्थ हो सकता है—"...जिस गति में इनका उत्पाद होता है वह मनुष्यगति है...। अवद्यकारी पुरुष या स्त्री है, षण्ढ-पण्डक नहीं है।"

'आनन्तर्य' शब्द का क्या अर्थ है ?[१]

पाँच पाप 'आनन्तर्य' कहलाते हैं क्योंकि यह अपने विपाक में उपपद्य वेदनीय कर्मों से अन्तरित नहीं हो सकते अर्थात् अभिभूत नहीं हो सकते।[२] अथवा आनन्तर्य का आपन्न दृष्टधर्म के अनन्तर ही नरक में प्रतिसन्धि लेता है। इसलिए पापी एक 'अनन्तर' (अन्तर के विना) है। इसलिए उस धर्म को 'आनन्तर्य' कहते हैं जिसके योग से आपन्न 'अनन्तर' होता है, यथा श्रामण्य उस धर्म को कहते हैं जिसके योग से एक पुद्गल श्रमण (६.५१) होता है।

किन धातुओं में आवरण पाये जाते हैं ?

त्रिषु द्वीपेष्वानन्तर्यं षण्ढादीनां तु नेष्यते।
अल्पोपकारालज्जित्वात् शेषे गतिषु पञ्चसु ॥९७॥

९७ ए. तीन द्वीपों में आनन्तर्य।[३]

उत्तरकुरु के निवासी और वह सत्त्व जो मनुष्य नहीं हैं, आनन्तर्य कर्म के अयोग्य हैं। ऊर्ध्वधातुओं में तो आनन्तर्य के अभाव का और भी कारण है। मनुष्यों में केवल स्त्री और पुरुष आनन्तर्य कर्म कर सकते हैं।

[२०५] ९७ बी. अल्प उपकार और अल्प लज्जावश षण्ढादि के लिये यह पाप इष्ट नहीं हैं।[१]

जिन कारणों से षण्ढादि में असंवर (४.४३ सी०) का अभाव है, उन्हीं कारणों से तथा इस कारण से भी कि उनके माता-पिता केवल एक विकल आत्मभाव उनको प्रदान करते हैं और

---

१. विभाषा, ११९.४—'आनन्तर्य' यह नाम क्यों है?—दो कारणों से (प्रत्यय से)—(१) इन पाँच पापों का यह नाम इसलिए है क्योंकि यह न दृष्टधर्म में और न अपर उपपत्ति में किन्तु केवल अनन्तर उपपत्ति में विपच्यमान होते हैं; (२) क्योंकि यह केवल नरक में विपच्यमान होते हैं, अन्य गतियों में नहीं। दो आशय से कर्म आनन्तर्य होता है—१ क्योंकि यह उपकारकों का अपकार करता है, २ क्योंकि यह गुण-क्षेत्र का अपकार करता है। आनन्तर्य के लिए दो प्रत्यय आवश्यक हैं—१ प्रयोग और २ फलनिष्पत्ति। प्रयोग हो किन्तु यदि फलनिष्पत्ति न हो तो आनन्तर्य नहीं होता। फल-निष्पत्ति हो किन्तु यदि प्रयोग न किया हो तो आनन्तर्य नहीं होता...। (कथावत्थु, १२.३) से तुलना कीजिये।

२. अत्थसालिनी, पृ० ३५८ से तुलना कीजिये। एक आनन्तर्यकारी अवीचि में प्रक्षिप्त किया गया, कोश, ३.१२ डी (मार); देवदत्त और अन्य चार, मिलिन्द, पृ० १०१, कर्न, मैन्युअल, पृ० ३६

३. त्रिषु द्वीपेषु आनन्तर्यम्। (व्या० ४२५.३०)।

उत्तरकुरु में नहीं—नियतायुष्कत्वात् प्रकृतिशीलत्वात् तत्र शासताभावाच्च। (व्याख्या ४२६.९)।

१. षण्ढादीनां तु नेष्यते। अल्पोपकारलज्जित्वात्। (व्या० ४२६.१२, २२)।

उनका अपत्य-स्नेह स्वल्प होता है और इसलिये वह अल्प उपकारक हैं।[2] और इसलिए भी कि षण्ढ अपने माता-पिता के लिये तीव्र लज्जित्व (=ह्री अपत्राप्य, २ ३२) का अनुभव नहीं करता जिसके विपादन (विकोपन) के लिये वह आनन्तर्य से स्पृष्ट हो, अतः षण्ढादि का आनन्तर्य इष्ट नहीं है। इन्हीं कारणों से प्रेत और तिर्यक् यदि वह अपने माता-पिता का वध करें तो आनन्तर्य से स्पृष्ट नहीं होते। भदन्त कहते हैं कि जिन पशुओं की बुद्धि पटु होती है यथा आजानेय अश्व वह आनन्तर्य से स्पृष्ट होते हैं (विभाषा ११९.६)।[3]

इन्हीं कारणों से अपने अमानुष माता-पिता का वध करके मनुष्य आनन्तर्य का भागी नहीं होता।

९७ डी. अन्य दो आवरण पाँच गतियों में।[4]

उत्तरकुरुओं में उपपत्ति मनुष्यों के लिये विपाकावरण है। असंज्ञिसत्त्वों में उपपत्ति देवों के लिये विपाकावरण है। विविध आनन्तर्य कर्मों का क्या स्वभाव है?

[२०६] चार काय कर्म हैं; एक वाक्कर्म है; तीन प्राणातिपात हैं; एक मृषावाद है; एक प्राणातिपात का प्रयोग है[1] क्योंकि तथागत का मरण दूसरे के उतक्रम से नहीं हो सकता।[2]

हम कहते हैं कि सङ्घभेद मृषावाद है और यह मृषावाद चतुर्थ आनन्तर्य है। यह कैसे? यदि सङ्घभेद को हम एक आनन्तर्य मानते हैं तो इसका कारण यह है कि हेतु में फल का उपचार होता है और हम सङ्घभेद के हेतु मृषावाद को सङ्घभेद का नाम देते हैं। अथवा सङ्घभेद शब्द का (कारण साधन) यह अर्थ लेना चाहिए—'वह जिससे सङ्घ भिन्न होता है।' वास्तव में—

---

२. ऊपर पृ० २०४ टिप्पणी १ देखिए, जात्यन्ध का आत्मभाव विकल होता है किन्तु यहाँ जो वैकल्य विवक्षित है वह वैकल्य है जो अधिगम-धर्म का विरोधी है। इसके अतिरिक्त जात्यन्ध से उसके माता-पिता स्नेह करते हैं।

३. व्याख्या, (४०६.२४)—श्रूयते यथा कश्चिदेव विशिष्टाश्च आजानेयो मारतम् न गच्छतीति वाससा मुखं प्रच्छाद्य मातरं गमितः। तेन पश्चाज्ज्ञात्वा स्वमङ्गजातमुत्पाटितमित्येवमाजानेयोऽश्वः पटुबुद्धिः। अस्यानन्तर्यम् स्यादित्यभिप्रायः। विभाषा में यह वस्तु दूसरे शब्दों में कहा गया है। इसमें 'आजानेय' का अर्थ 'सुन्दर कर्ण' नाग है। परमार्थ और ह्यूनत्सङ्ग में केवल ts'ong hoei है। महाव्युत्पत्ति २१३ (liang=शुभ) देखिये।

४. तिब्बती भाषान्तर=[शेषो गतिषु पञ्चसु ॥]

१. ह्यूनत्सङ्ग इन लक्षणों को कारिका रूप में देते हैं।

२. अनुपक्रमधर्माणो हि तथागताः (चुल्लवग्ग, ७.३, १० की भाषा से तुलना कीजिये) —व्याख्या (४२७.२)—अपरोपक्रममरणधर्माण इत्यर्थः।

सङ्घभेदस्त्वसामग्री स्वभावो विप्रयुक्तकः।
अक्लिष्टाव्याकृतो धर्मः सङ्घस्तेन समन्वितः ॥९८॥

९८ ए सी. सङ्घभेद का स्वभाव असामग्री है। यह एक चित्त-विप्रयुक्त, अक्लिष्टाव्याकृत धर्म है।[3]

सङ्घभेद अर्थात् असामग्री एक चित्त-विप्रयुक्त (२.३५, अनुवाद पृ० १७८ टिप्पणी, २ और ३०४), अनिवृत्ताव्याकृत संस्कार है। यह आनन्तर्य क्यों होगा? जो पुद्गलसङ्घ का भेद करता है, जो भेत्ता है, वह इस विप्रयुक्त धर्म से समन्वागत नहीं है। इसके विपरीत—

९८ डी. यह सङ्घ है जो इससे समन्वित है।[4]

जिसका भेद होता है वह, भेत्ता नहीं, 'सङ्घभेद' नामक संस्कार से 'समन्वागत' होता है।

किन्तु भेत्ता किससे समन्वागत होता है?

तदवद्यमृषावादस्तेन भेत्ता समन्वितः।
अवीचौ पच्यते कल्पम् अधिकैरधिका रुजः ॥९९॥

९९ ए-बी. सङ्घभेद का अवद्य मृषावाद है। इससे भेत्ता समन्वागत होता है।[5]

[२०७] भेत्ता सङ्घभेद के अवद्य से समन्वागत होता है, यह मृषावाद है। यह मृषावाद सङ्घभेद के साथ उत्पन्न होता है (सङ्घभेद सहज)। यह वाग्विज्ञप्ति-अविज्ञप्ति स्वभाव का है। इस मृषावाद से समन्वागत—

९९ सी. भेत्ता एक कल्प पर्यन्त अवीचि में पच्यमान होता है।[1]

वह अवीचि महानिरय में एक अन्तर कल्प (३.८३)[2] तक पच्यमान होता है। अन्य आनन्तर्य के आपन्न नियतरूप से अवीचि में पच्यमान नहीं होते।

---

३. सङ्घभेदस्त्वसामग्रीस्वभावो विप्रयुक्तकः। अक्लिष्टाव्याकृतो धर्मः। विभाषा ६०.१६ के अनुसार। (व्या० ४२७ ९) सङ्घभेद, विभाषा, ११६. पृ० ६०३।

४. तिब्बती भाषान्तर = [तेन सङ्घः समन्वितः ॥]

५. तिब्बती भाषान्तर = [तदवद्यम् मृषावादस्तेन भेत्ता समन्वितः।]
अथवा: तत्किल्बिषम्...।

१. तिब्बती भाषान्तर = [अवीचौ पच्यते कल्पम्]

२. इतिवुत्तक, १८ आपायिको नेरयिको कप्पट्ठो सङ्घभेदको...सङ्घं समग्गं भित्वानकप्पं निरयम्हि पच्चति। अङ्गुत्तर, ३.४०२...आपायिको देवदत्तो नेरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो... और ५.७५ (चुल्लवग्ग, ७.५, ४)...सङ्घम् भेत्वा कप्पट्ठियं किब्बिसं पसवति। किं पन कप्पट्ठियं किब्बिसन्ति। कप्पं आनन्द निरयम्हि पच्चतीति आपायिको नेरयिको...सङ्घम् समग्गं भेत्वान कप्पं निरयम्हि पच्चतीति।

किन्तु सर्व आनन्तर्य उपपद्यवेदनीय है। क्या होगा यदि एक पुद्गल अनेक आनन्तर्य का अवद्यकारी हो?

९९ डी. अधिक अवद्य से अधिक व्यथा होती है।[3]

[२०८] कई आनन्तर्यों का आपन्न अवीचि में अति मृदुमांस के महत्काय से समन्वागत होता है जिससे वह द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण, पञ्चगुण कष्ट का अनुभव करता है और उसके दुःख अत्यन्त दुःसह और अनेक होते हैं।

सङ्घ का भेद कौन कर सकता है?

भिक्षुर्दृक्चरितो वृत्ती भिनत्त्यन्यत्र बालिशान्।
शास्तृ मार्गान्तरक्षान्तौ भिन्नो न विवसत्यसौ ॥१००॥

१०० ए-बी. दृष्टिचरित, शीलवान् भिक्षु भेद करता है।[1]

इतिवुत्तक की गाथा का विचार कथावत्थु १३,१ में किया गया है। राजगिरिकों का विश्वास है कि एक [महा] सकल कल्प (सकलं कप्पं) दृष्ट है। बुद्धघोस के अनुसार एक [महा] कल्प का ८० वां भाग समझना चाहिये [अर्थात् एक 'अन्तर कल्प' जो अवीचि का सामान्य 'आयुकप्प' है, देखिये कोश, ३.८३ बी]।

विभाषा (३५, १५, ११६) में कई मत वर्णित हैं। कुछ का मत है कि 'कल्प' से भगवत् का अभिप्राय चालीस अन्तर कल्पों से है। यह संवर्तकल्प और विवृतावस्था का कल्प है या विवर्तकल्प और संवृत्तावस्था का कल्प है (कोश, ३,९० बी)। दूसरे 'महाकल्प' का ग्रहण करते हैं (८० अन्तर कल्प), अन्य 'अन्तर कल्प' का। इसके अतिरिक्त विनय का एक सूत्र है जो व्याकृत करता है कि देवदत्त मनुष्यों में उस काल में पुनरूपपन्न होगा जब मनुष्य की आयु ४००'०० वर्ष की होगी। इसलिये हम 'कल्प' से आयु की वृद्धि या ह्रास का काल समझ सकते हैं, अर्थात् एक अन्तर कल्प का अर्द्ध (९२ ए-बी देखिये) सङ्घ मिलिन्द १११ के अनुसार देवदत्त ने वर्तमान कल्प के ६ भागों के प्रथम के अन्त में संघ-भेद का पाप किया है। वह नरक में अन्य पाँच भाग व्यतीत करेगा और नरक से च्युत हो प्रत्येक होगा।

देवदत्त, विभाषा, ३४ पृ० १७७ कालम ३ पंक्ति १९—अवीचि के पश्चात् मनुष्य-जन्म और मोक्ष; डाकुमेण्ट्स, ऑफ् अभिधर्म, बी-ई एफ् ई-ओ, १९३०,१९ देखिये।

महायान के जिन ग्रन्थों का जापानी सम्पादक ने उल्लेख किया है, उनका भी अध्ययन होना चाहिये।

३. तिब्बती भाषान्तर=[अधिकादधिका व्यथा]

१. कारिका संख्या १०० के पहले दो पाद का अनुवाद=भिक्षुर्दृष्टिचरितः शीलवान् भिनत्त्यन्यत्र बालान्। भाष्य की टीका करते हुए व्याख्या में यह शब्द आते हैं=भिक्षुर्भिनत्ति ...दृष्टिचरित...। परमार्थ का पाठ--भिक्षुर्दृष्टिसुचरितः भिनत्त्यन्यास्मिन् देशे बालान्। परमार्थ

२४

भिक्षु ही भेद करता है। गृही, भिक्षुणी[2] आदि भेद नहीं करते। यह भिक्षु दृष्टिचरित होता है, तृष्णाचरित[3] नहीं। वह शीलवान् होता है, शीलविपन्न नहीं क्योंकि शीलविपन्न भिक्षु का वचन अप्रामाणिक होता है।

सङ्घभेद कहाँ होता है?

१०० बी. अन्यत्र।

वहाँ नहीं होता जहां तथागत होते हैं। सङ्घभेद उस स्थान में असम्भव है जहाँ शास्ता हैं क्योंकि तथागत दुःप्रसह हैं और उनका वचन प्रमाण से पूर्ण होता है।

सङ्घभेत्ता जिनका भेद करता है, वह कौन हैं?

१०० बी. बाल।

केवल बाल, आर्य नहीं क्योंकि वह धर्म का प्रत्यक्ष करते हैं। एक मत के अनुसार सङ्घभेत्ता क्षान्ति-लाभी का भी भेद नहीं कर सकता।[4]

[२०६] किससे सङ्घ का भेद होता है?

१०० सी-डी जब यह एक-दूसरे शास्ता का, मार्गान्तर का, ग्रहण करता है तब यह भिन्न है।[1]

ने भाष्य का जो पाठ दिया है, उसके अनुसार भाष्य मिथ्याचरितभिक्षु को सम्यक्चरितभिक्षु के प्रतिपक्ष में रखता है। इसलिये हम इस प्रकार उद्धार कर सकते हैं—भिक्षुर्दृष्टिसुचरितो भिनत्त्यन्यत्र बालकान्।

२. केवल भिक्षु, क्योंकि बुद्ध भिक्षु हैं और भेत्ता की वृत्ति प्रतिस्पर्धी की है।

३. तृष्णाचरित, ऊपर पृ० १७४ देखिये।

४. शुआन-चाङ्—"वह केवल पृथग्जनों का भेद करता है, आर्यों का नहीं क्योंकि आर्यधर्म का साक्षात्कार करते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार क्षान्तिलाभी का भी भेद नहीं हो सकता। इन दो मतों का समन्वय करने के लिये आचार्य कहते हैं"—बाल।

धर्म से आगमधर्म और अधिगमधर्म (८.३९ ए-बी.), एक ओर शास्त्र, दूसरी ओर बोधिपाक्षिकधर्म समझना चाहिये।

क्षान्ति द्वितीय निर्वेधभागीय या सत्यदर्शन के प्रयोग हैं ६ १८ बी। क्षान्तिलाभी यद्यपि पृथग्जन है तथापि दृष्टसत्य कल्प है।

१. पूर्व वाक्य (१०० ए-बी) का कर्तृपद भेत्ता है—"यह दृष्टिचरित शीलवान् भिक्षु है जो ऐसे देश में जहाँ बुद्ध नहीं हैं, बालों का भेद करता है"—भिक्षुर्दृष्टिसुचरितो भिनत्त्यन्यत्र बालकान्। आचार्य आगे कहते हैं—"अन्य शास्ता, अन्यमार्ग का, ग्रहण कर यह भिन्न होता है। [भेद की इस अवस्था में] यह उस रात्रि के अतीत नहीं होता।" 'यह'...से सङ्घ, बालों का सङ्घ समझना चाहिये। हम उद्धार कर सकते हैं—

जब यह अर्थात् वाल तथागत से अन्य शास्ता का ग्रहण करते हैं और तथागत से उपदिष्ट आर्यमार्ग से अन्य आर्यमार्ग का ग्रहण करते हैं तब सङ्घ भिन्न होता है।

एक वार भिन्न होने पर यह कितने काल तक भिन्न रहता है ?

१०० डी. यह अतिक्रमण नहीं करता। उसी रात्रि का।[२]

[२१०] जब सङ्घ भिन्न होता है तब प्रत्यूष में सङ्घ पुनः निश्चित रूप से समग्र होता है। जिस सङ्घ-भेद का हमने वर्णन किया है और जो 'आनन्तर्य है।

चक्रभेदः स च मतो जम्बूद्वीपे नवादिभिः।
कर्मभेदस्त्रिषु द्वीपेष्वष्टाभिरधिकैश्च सः ॥१०१॥

१०१ ए. वही चक्रभेद कहलाता है।[१]

भगवत् का धर्मचक्र तब भिन्न होता है, क्योंकि मार्ग की प्रवृत्ति का विवन्धन होता है (मार्गप्रवृत्तिविष्ठापनात्)।[२] इसलिये उस समय चक्रभेद और सङ्घभेद दोनों होता है।[३]

चक्र का भेद कहाँ होता है ?

१०१ बी. जम्बुद्वीप में।[४] अन्य द्वीपों में नहीं, जहाँ बुद्ध का उत्पाद नहीं होता।

[अन्य शास्तृमार्गक्षमो भिन्नो] न विवसत्यसौ ॥ [व्या० ४२७.२६]

परमार्थ—"किससे (कियता) सङ्घ-भेद का लाभ करता है ? जब यह अन्य शास्ता, अन्य मार्ग का, ग्रहण करता है तब यह भिन्न है...।"

सङ्घभेद पर हेस्टिंग्ज की इनसाइक्लोपीडिया, ऑफ् रिलिजन्स ऐण्ड इथिक्स के 'कौंसिल,' वाले लेख में दिये हुए हवाले देखिये ४, पृ० १८० बी—सङ्घभेद का पालि-निर्वचन, विविध प्रकार के सङ्घ-भेद, इनके लिये चुल्लवग्ग, ७.५ महावग्ग, १०,१,६;५,४, अङ्गुत्तर, १.१६ देखिये—प्रातिमोक्ष, फिनो जे. एस. १६१३ पृ० २२—वैशाली सङ्गीति-सम्बन्धी आम्नाय (आवासकप्प), म्यूसिआँ, १६०५, पृ० २७७,३१८—देवदत्त की कथा राकहिल, लाइफ्—सारनाथ का लेख, ओएर्तल द्वारा सम्पादित एपिग्राफिआ इण्डिका, ८ पृ० १६६।

२. भाष्य—व्याख्या (४२७.२६)—न विवसत्यसौ न तां रात्रिं परिवसतीत्यर्थः।

१. तिब्बती भाषान्तर=[अयम्] चक्रभेदो [मतः]

२. यावत्सङ्घो न प्रतिसन्धीयते तावन् मार्गप्रवृत्तिर्विष्ठिता भवति। न कस्यचिद् सन्ताने मार्गः सम्मुखीभवतीत्यर्थ—[व्या० ४२७.२८]

३. इस सङ्घभेद को 'चक्रभेद' की आख्या देते हैं क्योंकि यह चक्रभेद में हेतु है।

४. तिब्बती भाषान्तर=[जम्बुद्वीपे]

कितने भिक्षुओं से ?

१०१ बी. नौ या इससे अधिक से ।[५]

परम संख्या नियत नहीं है । सङ्घ का भेद कम से कम ८ भेद्य भिक्षुओं से होता है । नवाँ भिक्षु अवश्य भेत्ता होता है । सङ्घ का भेद होने के लिये सङ्घ को अवश्यमेव दो पक्षों में विभक्त होना चाहिये—प्रथम बुद्ध-पक्ष, द्वितीय भेत्ता का पक्ष । इस प्रकार दो सङ्घ बनते हैं; प्रत्येक में चार भिक्षु होते हैं जो सङ्घ के लिये न्यूनतम संख्या है । (विभाषा, ११६.४) ।[६]

[२११] एक अन्य प्रकार का सङ्घ-भेद है जो चक्र-भेद से भिन्न है और जिसमें आनन्तर्य नहीं है । यह सङ्घ-कर्म के भेद से होता है (कर्मभेदाद् भवति) । जब किसी सीमा के भिक्षु पोषधादि सङ्घ-कर्म के करने में नाना मत के होते हैं (व्यग्र=नानामति)—[व्या. ४२८.३] ।

१०१ सी. तीन द्वीपों में कर्म-भेद ।[१]—वहाँ ही जहाँ सद्धर्म है ।

१०१ डी. आठ या अधिक भिक्षुओं से यह सङ्घ-भेद होता है ।[२]

चार-चार भिक्षुओं के दो पक्ष यहाँ भी होना चाहिये किन्तु यहाँ अपने को शास्ता कहने वाला शास्तृमानी भेत्ता नहीं होता ।

६ काल में चक्र-भेद नाम का सङ्घ-भेद नहीं हो सकता—

आदावन्तेऽर्बुदात् पूर्वं युगाच्चोपरते मुनौ ।
सीमायां चाप्यबद्धायां चक्रभेदो न जायते ॥१०२॥

१०२. आदि में, अन्त में, अर्बुद से पूर्व, एक युग से पूर्व,—जब मुनि निर्वृत्त होते हैं, जब सीमा अबद्ध है, चक्र-भेद असम्भव है ।[३]

आदि में, जब चक्रप्रवर्तन को आरम्भ हुए अल्प समय ही व्यतीत हुआ है; अन्त में,

---

५. नवादिभिः । विभाषा ११६.५

६. भाष्य - [अष्टौ भिक्षवः सङ्घः । नवमो भेत्ता] । अवश्यं हि सङ्घेन द्वयोः पक्षयोः स्यातव्यम् सङ्घद्वयेन च । [व्या० ४२७.३२]

१. तिब्बती भाषान्तर = [कर्मभेदस्त्रिषु द्वीपेषु]—महाव्युत्पत्ति, २७६,१४-१५ (कर्मभेदवस्तु) देखिये ।

२. अष्टाभिरधिकैश्च सः ॥ [व्या० ४२८.५]

३. [आदावन्ते] ऽर्बुदाद् [एकयुगात् प्राङ् निर्वृत्ते मुनौ ।]
अबद्धायां [च] सीमायाम् [न चक्रभेदसम्भवः ॥]

दिव्य १५० देखिये, जिन कर्मों का सम्पादन बुद्ध को करना है उनमें...त्रिभाग आयुष उत्सृष्टो भवति । सीमाबन्धः कृतो भवति । श्रावकयुगम् अग्रतायां निर्दिष्टम् भवति ।

भगवत् के निर्वाण-काल में—इन दो कालों में सङ्घ एक रस होता है।[४] इन दो कालों के अन्तराल में अर्बुद[५] के प्रादुर्भाव के पूर्व भेद असम्भव है—जब तक शासन में शीलार्बुद, दृष्टचर्बुद का प्रादुर्भाव नहीं होता।

[२१२] एक युग के उत्पाद के पूर्व भी यह असम्भव है—जब तक अग्र-श्रावक-युग का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि भेद की अवस्था में सङ्घ रात्रि का परिवास नहीं करना चाहिये (परिवसति) और क्योंकि इस श्रावक-युग का कर्त्तव्य सङ्घ का प्रति सन्धान करना है। भेद असम्भव है जब मुनि निर्वृत्त हैं क्योंकि शास्ता के एक बार परिनिर्वृत्त होने पर भेत्ता का प्रतिद्वन्द्वी नहीं होगा (प्रतिद्वन्द्वाभावात्)। अन्ततः जब सीमा अबद्ध है (सीमायामबद्धायाम्)[१], क्योंकि जब एक सीमा में दो पक्ष होते हैं तभी कहते हैं कि सङ्घ भिन्न हुआ है।

शाक्यमुनि की तरह सब बुद्धों का चक्रभिन्न नहीं हुआ है—यह उनके पूर्वकृत कर्म के अधीन है।[२]

---

४. एकरस = अव्यग्र = एकमति (व्या० ४२८.८) पूर्वावस्था में प्रीति-प्रामोद्य; पश्चिम अवस्था में चित्त की उद्विग्नता और संवेग।

५. ह्यु न्-त्सङ्ग 'अर्बुद' का अनुवाद फोड़ा करते हैं। तिब्बती भाषान्तर का अनुवाद 'दोष' है। संयुत्त, १.४३ में लुण्ठक, अपहारक लोक के अर्बुद कहे गये हैं। समन्तपासादिका (पृ० २९४,२९५,३०७)...सासनस्स अब्बुदं च मलं च...(मारिस, जे. पी. टी. एस. १८८६ के हवाले)।

१. व्याख्या (४२८ए)—सीमायामबद्धायामिति मण्डलसीमायाम्। एकस्यां हि सीमायाम् पृथक् कर्मकरणात् सङ्घद्वैधम् भवति। ननु च प्रकृतिसीमास्ति ग्रामनगरादि। सत्यमस्ति। ज्ञप्तिसीमायां तु सत्यां सा प्रकृतिसीमा व्यवस्थाप्यत इति। तस्या अपि बन्धो व्यवस्थाप्यत एवेति वेदितव्यम्।

२. जब शाक्यमुनि बोधिसत्व थे तब उन्होंने पाँच अभिज्ञाओं से समन्वागत एक ऋषि के पर्षद् का भेद किया था (व्याख्या ४२८.२४; विभाषा, ११६.१७)। यहाँ मिलिन्द १६१ से विरोध है। मिलिन्द के अनुसार बोधिसत्व के पूर्वकृत कर्म के कारण देवदत्त ने सङ्घ भिन्न नहीं किया था। एक प्राचीन वाक्य यह था—तथागतो अभेज्जपरिसो।

बुद्ध ने अपने पूर्व 'अवद्यों का 'अतिक्रमण' नहीं किया है, दिव्य ४१६—"क्या तुमने मुनि के इस वाक्य को नहीं जाना है कि जिन भी अपने कर्म से वियुक्त नहीं होते?—"भगवत् के पैर में भिक्षाटन के समय एक काँटा विंध गया और उन्होंने कहा—इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः। तत्कर्मणो विपाकेन पाते विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥—(षड्दर्शनसंग्रह सुआलीका संस्करण, पृ० २६)॥ जिस शिलाखण्ड ने भगवत्पाद को आहत किया था, उस पर शावाने रिलिजिओ एमिनान्त, पृ० १५५; फाहिआन्, लेगे, ८३ देखिये। भगवत् की पीठ में पीड़ा होती है, क्योंकि उन्होंने एक असत्यसन्ध मल्ल के गर्दन के पास के मेरुदण्ड भाग को समुच्छिन्न किया था, सर्वास्तिवादियों का विनय शावाने, सङ्घ सान्त कान्त, २.४२४ में मिलिन्द १३४, १७९ से तुलना कीजिये।

पूर्व परिगणित मातृघात आदि अवद्य ही क्यों आनन्तर्य हैं? अन्य अवद्य क्यों नहीं।

उपकारिगुणक्षेत्रनिराकृति विपादनात्।
व्यञ्जनान्तरितेऽपि स्याद् माता यच्छोणितोद्भवः ॥१०३॥

[२१३] १०३ ए-बी. क्योंकि यह उपकारि-क्षेत्र, गुण-क्षेत्र की निराकृति या विपादन करते हैं।[1]

मातृ पितृ-वध आनन्तर्य हैं क्योंकि वह उपकारी का विनाश करते हैं। माता और पिता उपकारी हैं क्योंकि उन्होंने जन्म दिया है। वध उनका नाश कैसे करता है? उनकी निराकृति से।[2]

अर्हत्-वध और अन्तिम दो आनन्तर्य, आनन्तर्य हैं क्योंकि अर्हत्, सङ्घ और बुद्ध, गुण-क्षेत्र हैं।[3] सङ्घ और बुद्ध की निराकृति नहीं होती किन्तु उनका विपादन (=विकोप) होता है।

किन्तु यदि माता और पिता का व्यञ्जन परिवृत्त हुआ है, यदि माता का मातृत्व और पिता का पितृत्व विनष्ट हो गया है?

१०३ सी. व्यञ्जन के अन्यथाभाव पर भी आनन्तर्य होता है[4] यदि मारण उसका हो जो माता थी, यदि मारण उसका हो जो पिता था।

वास्तव में यह कहा है (विभाषा, ११९.७)—"क्या उस पुरुष को मार कर जो उसका पिता नहीं है, जो अर्हत् नहीं है, किसी का आनन्तर्य होता है?—हाँ, यदि वह अपनी उस माता

मज्झिम ३.२२७ के अनुसार तथागत के केवल अनास्रव सुखावेदना होती है। (अनास्रवा सुखावेदना)—"यदि सत्व अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण सुख-दुःख का अनुभव करते हैं तो तथागत ने सदा कुशल कर्म किये है क्योंकि वह इस जन्म में ऐसी अनास्रव सुखावेदना का प्रतिसंवेदन करते हैं। यदि सत्व ईश्वर के निर्माणहेतु से (इस्सरनिम्मानहेतु) सुख-दुःख का अनुभव करते हैं तो तथागत एक कारुणिक ईश्वर से निर्मित हैं।"

१. उपकारिगुणक्षेत्रनिराकृतिविपादनात् ७९, पृ० १२१; सिद्धि, परिशिष्ट, पृ० ७८५ में। व्याख्या के अनुसार 'उपकारिक्षेत्रस्य निराकृतेः' समझना चाहिये [व्या० ४२८.३१)।

२. निराकृति=परित्याग (ऊपर पृ० १५३ देखिये) माता और पिता उपकारी कैसे हैं, इसके लिये दिव्य ५१, अवदानशतक, १.१९४,२०४ देखिये (आप्यायिकौ पोषकौ संवर्धकौ स्तन्यस्य दातारौ...), इतिवृत्तक, पृ० ११०।

३. गुणक्षेत्रत्वात् (व्या० ४२८.२७)—वह "गुणों के क्षेत्र हैं" अथवा क्योंकि वह गुणों के आश्रय हैं (गुणानामाश्रयत्वात्), अथवा क्योंकि अपने गुणों के कारण (गुणैः) वह क्षेत्र हैं—इस क्षेत्र में उप्त पुण्य बीज महाफल का देने वाला होता है।

४. तिब्बती भाषान्तर=[व्यञ्जनान्यथाभावेऽपि]

का वध करता है जिसके व्यञ्जन का अन्यथाभाव हुआ है। क्या उस स्त्री को मार कर जो उसकी माता नहीं है, जो अर्हती नहीं है, किसी का आनन्तर्य होता है?—हाँ, यदि वह अपने उस पिता का वध करता है जिसके व्यञ्जन की परावृत्ति हुई है।"

[२१४] जब किसी स्त्री का कलल च्युत (?) होता है और एक दूसरी स्त्री अपने गर्भाशय[५] में उसे पूरित (?) करती है तो इन दो स्त्रियों में से कौन-सी स्त्री माता समझी जाती है जिसका वध आनन्तर्य है?

१०३ डी. माता वह स्त्री है जिसके शोणित से उद्भव होता है।[१]

दूसरी स्त्री मातृकल्प है, वह माता के योग्य सर्व कृत्यों को सम्पादित करती है। वह आप्यायिका, पोषिका, संवर्धिका है।[२]

आनन्तर्य नहीं होता यदि अपनी माता को मारने की इच्छा से एक पुद्गल अन्य आश्रय का वध करता है; आनन्तर्य नहीं होता यदि एक पुद्गल एक दूसरे आश्रय का वध करना चाहता है किन्तु अपनी माता का वध करता है।[३] उदाहरण के लिये, वह पुद्गल जिसने

---

५. स्थविर इसे नहीं स्वीकार करते—"यदि कलल जीवित है तो इसकी च्युति नहीं होती। यदि वह च्युत होता है तो मृत है क्योंकि एक जीवित सत्व सकल मल पल्वल का विलङ्घन नहीं कर सकता"...किन्तु सूत्र में वर्णित है कि कुमार काश्यप का जन्म इसी प्रकार हुआ था। क्योंकि दूसरी स्त्री जन्म-द्वार में कलल को अवस्थापित करती है और जब तक वह गर्भाशय में रहता है तब तक उसे श्वास से पूरित करती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कलल मलपल्वल का विलङ्घन करता है। अथवा वह उसे पीती है...(सङ्घभद्र)।

१. [माता] यच्छोणितोद्भवः [व्या० ४२६.८]।

२. [द्वितीयापि] सर्वकृत्येष्ववलोक्या—व्याख्या (४२६.११)—सर्वमातृयोग्येषु कार्येषु द्रष्टव्येति अभिप्रायो मातृकल्पत्वात्। ह्यू नत्संङ्ग—"[मातृयोग्य] जितने कार्य हैं वह सब दूसरी माता से देखे जाते हैं।" 'आप्यायिका', 'कदावाहिका' है। यह गर्भावस्था के अन्त का आवाहन करती है। 'पोषिका', स्तन्यदायिका है, जो अपना स्तन्यपान कराती है। 'संवर्धिका', 'औदारिकाहारकल्पिका' है (पी० कार्डिअर का अनुवाद) अथवा दूसरों के अनुसार आप्यायिका = स्तन्यधातृका, पोषिका, क्योंकि वह औदारिक आहार का अभ्यास कराता है; 'संवर्धिका' क्योंकि वह स्नान कराती है और विषम आहार का परिहार करती है (विषम-परिहार)। व्याख्या (४२६.१३; ऊपर पृ० २१३, टिप्पणी २। दिव्य ३०३ में 'आप्यायितः पोषितः संवर्धितः' है। आप्यायिका (मेलाङ्ग एशिआतिक, ८.१४६); आप्यायन, महाव्युत्पत्ति, १६७.१३०।

क्रीडापरिणिका पोषिका, मारिस, कांग्रेस, आफ् लण्डन, १८६३, पृ० ४७७।

३. कथावत्थु २०,१ और कर्मप्रज्ञप्ति में इस प्रश्न का विचार किया गया है। उत्तरापथकों का मत है कि 'अनन्तरिय वत्थुओं की गुरुता के कारण जो पुद्गल अबुद्धिपूर्वक (असंचिच्च, अपनी माता आदि का वध करता है वह आनन्तरिक (या अनन्तरिक) होता है। सूत्रकृताङ्ग, १.१,२; २.६,२६. (यैकोबी, जैनसूत्र, २.२४२, ४१४) से तुलना कीजिये।

मञ्चतलावलीन अपनी माता को यह समझ कर मारा कि यहाँ एक पुरुष सोया हुआ है और धावक पुत्र जिसने मशक को मारने की इच्छा से अपने पिता को मारा, आनन्तर्य के आपन्न नहीं होंगे।[४]

[२१५] यदि एक ही प्रहार में एक पुद्‌गल अपनी माता और एक अन्य आश्रय को मारता है तो अविज्ञप्तियाँ होती हैं—केवल प्राणातिपात की अविज्ञप्ति और आनन्तर्य की अविज्ञप्ति—किन्तु विज्ञप्ति आनन्तर्य के बल के कारण आनन्तर्य ही होती है। घोषक के अनुसार (विभाषा, १८,१८) सदा दो विज्ञप्तियाँ होती हैं क्योंकि विज्ञप्ति परमाणुनिर्मित होती है।

जो पुद्‌गल उसके भाव को बिना जाने एक अर्हत् का वध करता है, वह आनन्तर्य करता है क्योंकि प्राणातिपात का विषय इस प्रकार नियत है—"मैं अमुक का वध करता हूँ" ऐसा वह विचारता है।

जो पुद्‌गल अपने पिता का वध करता है, जो अर्हत् है उसका एक ही आनन्तर्य अर्थात् अर्हत्वधाख्य आनन्तर्य होता है क्योंकि पिता और अर्हत् का एक ही आश्रय है।

आक्षेप[१]—[अर्हत् रुद्रायण जो अपने पुत्र शिखण्डिन् की आज्ञा से मारा गया मारक से

---

४. शावाने, साङ्क सान्तकान्त, संख्या ३३६ (च सुङ्गलु नैनजिओ १११५ देखिये। हमारा अनुवाद 'रजक' है; शावाने का पाठ 'रंजक' है भाष्य में 'धावक' है जिसका अर्थ व्याख्या (४२६.१७) में 'रजक' है।

१. परमार्थ—यदि ऐसा है तो अवदान यह क्यों कहता है—"आओ! शिखण्डी से कहो .."। ह्यूनत्सङ्ग यदि ऐसा है तो यह बताना चाहिये कि अवदान यह क्यों कहता है कि बुद्ध शिखण्डी से कहते हैं कि "तुमने दो आनन्तर्य किये हैं...।" विभाषा (११६.७) भी इस वाक्य को बुद्ध का बताती है और पुनः कहती है कि "किस प्रकार शिखण्डिन् एक जीवित का विनाश कर दो आनन्तर्य कर सकता है? उसका केवल एक आनन्तर्य है क्योंकि उपकारी पिता और गुणक्षेत्र अर्हत् का एक ही आश्रय है। विभाषा को कहना चाहिये था—"तुमने दो कारणों से, पितृघात और अर्हत्-वध से, आनन्तर्य किया है" और यह 'दो आनन्तर्य' का उल्लेख करती है क्योंकि यह आनन्तर्य-द्वित्व से शिखण्डी की गर्हा करना चाहती है। अन्य आचार्यों के अनुसार यद्यपि एक ही आनन्तर्य है तथापि दुःख विपाक गुरुतर है।"

व्याख्या (४२६.२२)—रौरुके नगरे रुद्रायणो नाम राजा शिखण्डिनम् नाम पुत्रमभिषिच्य प्रव्रजितः। प्रव्रज्यार्हत्वम् अधिगतवान्। स रौरुकांभ्यासमागतवान्। पुना राज्यमाकांक्षतीत्यामात्यप्रक्रामितेन तेन शिखण्डिना राज्ञा स्वपिता मारितः। तेन तु मार्यमाणावस्थायां सभारको मनुष्य उक्तो गच्छ शिखण्डिनं ब्रूहि।

दिव्य, ५६७ में मूल सर्वास्तिवादियों के विनय से तुलना कीजिये, टोकियो, १६.६ फोलिओ ६२-६६, लेवी के तुङ्गपाओं, ८.१०६ और ह्यूबर, बीईएफ़ईयो, १६०६, पृ० १४ में उद्धत। कई मारक मनुष्य हैं। नैनजिओ, १३२६ राजा उदसेन (?) जो अर्हत् हैं अपने पुत्र राजसेन की आज्ञा से चण्डाल से मारा जाता है (शावान; साङ्क सान्त कान्त, ३.१३१)। जैनों में इसी प्रकार की कथाएँ हैं। (महाराष्ट्री एरजे युगन, पृ० ३३)।

कहता है—] "जाओ ! शिखण्डी से कहो कि तुमने दो आनन्तर्य किये हैं—पितृघात और अर्हत् का वध।" इस वचन का कैसे विवेचन करें ?—रुद्रायण के कहने का अभिप्राय यह है कि उसके पुत्र ने दो आनन्तर्य कारणों से आनन्तर्य किया है (द्वाभ्यां कारणाभ्याम्, व्या० ४२९.२५)। अथवा रुद्रायण अपने पुत्र के आचरण को द्विमुख से गर्हित करने के लिये 'दो आनन्तर्य' का उपचार करता है।

[२१६] जो पुद्गल दुष्ट चित्त से तथागत का रुधिरोत्पाद करता है क्या वह अवश्यमेव आनन्तर्यकारी है ?

जब उसका वध करने का आशय होता है तब वह आनन्तर्यकारी होता है।

बुद्धे न ताऽनेच्छस्य प्रहाराद् नोर्द्ध मर्हति।
नानन्तर्यप्रयुक्तस्य वैराग्यफलसम्भवः ॥१४०॥

१०४ ए. जब बुद्ध को विताड़ित करने का चित्त होता है तब नहीं।[१]

जो सत्त्व एक ऐसे पुद्गल को घातक प्रहार देता है जो प्रहार के अनन्तर अर्हत् होता है; क्या वह आनन्तर्य करता है ?

१०४ बी. जो वध के पश्चात् अर्हत् होता है उसके सम्बन्ध में नहीं।[२]

पूर्ववत् "आनन्तर्य नहीं" यह वाक्यशेष है।—वास्तव में प्राणातिपात के प्रयोग का आलम्बन एक ऐसा पुद्गल था जो अर्हत् न था।

जिस पुद्गल ने आनन्तर्य का प्रयोग किया है क्या वह उसका निवर्तन कर वैराग्य और फल का लाभ कर सकता है ?[३]

१०४ सी-डी. जिसने आनन्तर्य का प्रयोग किया है उसके लिये वैराग्य और फल असम्भव हैं।[४]

---

१. तिब्बती भाषान्तर = [न बुद्धताऽचित्तस्य] परमार्थ और ह्यू न्त्सङ्ग में ta ताड़न के अर्थ में है।

२. तिब्बती भाषान्तर = [न वेधादूर्ध्वमर्हति।

३. तिब्बती भाषान्तर = किं कृतानन्तर्यप्रयोगस्तं निवर्तयन् वैराग्यफलं प्राप्स्यति। ह्यू न्त्सङ्ग का पाठ भिन्न है—क्या वह जो आनन्तर्य का ऐसा प्रयोग करता है जो अनिवर्त्य है (निवर्त) 'विरक्त' हो सकता है और फल का लाभ कर सकता है ?

१०४ सी डी. जो आनन्तर्यकारक प्रयोग करता है उसके लिये न वैराग्य है, न फल लाभ। आनन्तर्य के प्रयोग की अवस्था में वैराग्य अवश्यमेव नहीं होता यदि यह प्रयोग नियत रूप से सम्पन्न होता है। अन्य अकुशल कर्मपथों के प्रयोग की अवस्था में...

४. तिब्बती भाषान्तर = [नानन्तर्यप्रयुक्तस्य वैराग्यफलसम्भवः ॥]

इस बाद का विचार कथावत्थु, १३ ३ में किया गया है। उत्तरापथक इसे नहीं मानते कि पितृघात का प्रयोक्ता आर्यमार्ग में प्रवेश कर सकता है।

२५

क्यों ?—क्योंकि आनन्तर्य चित्त और वैराग्य-लाभ या फल-लाभ के बीच अत्यन्त विरोध है।

[२१७] जो पुद्गल आनन्तर्य से अन्य कर्म-पथ का प्रयोग कर आर्यमार्ग में प्रवेश करता है उसके लिये कर्म-पथ का उत्पाद नहीं होता, क्योंकि उसके नवीन आश्रय का उस कर्म-पथ से अत्यन्त विरोध हैं।[१]

आनन्तर्यों में सुमहत् सावद्य कौन है ?

सङ्घभेदमृषावादो महावद्यतमो मतः।
भवाग्रचेतना लोके महाफलतमा शुभे ॥१०५॥

१०५ ए-बी. सङ्घभेद-मृषावाद सुमहत् सावद्य माना जाता है।[२]

जो पुद्गल यह जानते हुए कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है, सङ्घ का भेद करने के लिये मृषावाद करता है और मिथ्या उपदेश देता है वह ऐसा कर सब दुश्चरितों से भी महत् सावद्य का अपने को भागी बनाता है। वास्तव में वह तथागत के धर्मकाय को आघात पहुँचाता है। वह ऐहिक हित-सुख और सत्वों के विमोक्ष में आवरण होता है। जब तक सङ्घ का पुनः प्रतिसन्धान नहीं होता तब तक नियामावक्रान्ति (६.२६ ए.), फल-लाभ, वैराग्य-लाभ, आस्रव-क्षय में अन्तराय होता है। ध्यान, स्वाध्याय, चिन्ता सम्बन्धी समस्त कर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं।[३] देवलोक, नागलोक और मनुष्यलोक क्षिप्त, दुर्मनस्, अस्वतन्त्र, मुषितस्मृति हो जाते हैं। इसलिये इस सावद्य का विपाक एक कल्प तक स्थायी होता है और अवीचि में अनुभूत होता है।

---

१. आश्रयस्यात्यन्तं तद्विरुद्धत्वात् (व्या ४२९.३०), विभाषा ११६.१२—किन सत्वों के प्राणातिपात की प्रयोगावस्था में आर्यमार्ग में प्रवेश सम्भव है – कुछ कहते हैं—तिर्यक् के प्राणातिपात में, मनुष्य के नहीं। कुछ कहते हैं—मनुष्यों के प्राणातिपात में भी केवल उसको वर्जित कर जिसने आनन्तर्य का प्रयोग किया है। इसलिये वह कहते हैं कि पुद्गल प्राणातिपात का प्रयोग कर सकता है और इस बीच में धर्म का दर्शन-लाभ भी कर सकता है...।

व्याख्या (४२९.३१) छेकावदान उदाहृत करती है। विरूढक के भय से (=विडूडभ कर्न, मैनुअल, ४०) छेक नामक एक शाक्य वन में शरण लेता है और अपने बच्चों के साथ लुब्धकवृत्ति करता है, भगवत् आर्याश्रमों में तीन मास रह कर वहाँ से अवतीर्ण हो छेक को धर्म की देशना करते हैं। छेक स्रोत-आपत्ति-फल का अधिगम करता है। उस समय से छेक उन पशुओं के प्राणातिपात के अवद्य से 'स्पृष्ट' नहीं होता जो पूर्व प्रतानित कूटजाल में मरते रहते हैं।

२. तिब्बती भाषान्तर=[सङ्घभेदमृषावादः सावद्यं सुमहत् मतम्।]

३. ह्यूनत्सङ्ग—Menn (tiede जिसे समझ लिया है उसे बारबार स्मरण करना) song (पाठ)...परमार्थः Tou-song (अध्ययन और पाठ या स्वाध्याय या पातिमोक्खुद्देश)।

[२१८] अन्य आनन्तर्यों में पञ्चम, तृतीय और प्रथम अपह्रास-क्रम से गुरुतर हैं। पितृवध सर्वलघु है।[१]

आक्षेप—भगवत् कहते हैं कि तीन दण्डों में[२] मनोदण्ड महासावद्यतर है। वह कहते हैं कि सर्वसावद्यों में मिथ्यादृष्टि सर्वपापिष्ठ है।

यह समझना चाहिये कि आनन्तर्य कर्मों में सङ्घभेद महासावद्य है और मिथ्यादृष्टि कुदृष्टियों में गुरुतर है। अथवा यदि विपाक, विस्तर का विचार करें तो सङ्घभेद महत् सावद्य है। यदि महाजन के व्यापाद का विचार करें[३] तो मनोदण्ड महासावद्य है। यदि कुशलमूल का विचार करें जिनका समुच्छेद केवल मिथ्यादृष्टि करती है तो मिथ्यादृष्टि महासावद्य है।

सुचरितों में कौन सुमहत् फल का प्रदान करता है ?

१०५ सी. डी. लौकिक शुभधर्मों में भवाग्र-चेतना सुमहत् फलवती होती है।[४]

भवाग्र-चेतना से वह मनस्कर्म समझना चाहिये जिससे आरूप्यधातु की ऊर्ध्वतम भूमि में पुनरुपपत्ति होती है। लौकिक शुभकर्मों में यह कर्म सबसे अधिक फल देने वाला है क्योंकि इसका विपाक ८०००० कल्पतक परम शान्ति का देने वाला है (३.८१), विपाक-फल की दृष्टि से ऐसा समझना चाहिये। विसंयोग-फल (२.५७ डी) की दृष्टि से वज्रोपमसमाधि (६.४४ डी; ४.११२ बी देखिये) से संप्रयुक्त चेतना सबसे अधिक फल देने वाली है क्योंकि इस चेतना का फल सर्व बन्धनों का समुच्छेद है। इसीलिये कारिका कहती है, "लौकिक शुभ धर्मों में..."।

[२१९] क्या केवल आनन्तर्य से पुद्गल नरक में अवश्यमेव उपपन्न होता है ?

आनन्तर्य सभाग सावद्यों के कारण भी पुद्गल की अवश्यमेव नरक में उत्पत्ति होती है। दूसरों में यह अधिक है; किन्तु अनन्तर नहीं।[१]

---

१. माता, पिता की अपेक्षा सौ-गुना अधिक पूज्य है (राथ ऐण्ड बीतलिङ्क में 'शतगुण' देखिये)।

२. विभाषा, ११५,१७—मज्झिम, १.३७२ (निर्ग्रन्थों की भाषा में 'दण्ड' का अर्थ कर्म है)।

३. ऋषियों के कोप से दण्डकारण्य कैसे शून्य हो गया, ऊपर पृ० १६३ देखिये।

४. तिब्बती भाषान्तर=लौकिकशुभे भवाग्रचेतना फलवत्तमा ॥ ?]—मज्झिम, २.२६५ से तुलना कीजिये।

१. व्याख्या (४३०.१७)—नरकेऽवश्यमुत्पत्त्या तानि तत्साहश्यात् तत्सभागानि उच्यन्ते। न तु तत्रानन्तरोत्पत्त्या। अन्यथा ह्यानन्तर्याण्येव स्युरित्यपरेषाम् अभिप्रायः। अनन्तरभावित्वेऽपि न तानि आनन्तर्याण्येव सम्भवन्त्यतुल्यकालविपाकत्वादिति प्रथमपाक्षिकाणां परिहारः।

दूषणं मातुरर्हन्त्या नियतिस्थस्य मारणं ।
बोधिसत्वस्य शैक्षस्य सङ्घायद्वारहारिका ॥१०६॥
आनन्तर्यसभागानि पञ्चमं स्तूपभेदनम् ।
क्षान्त्यनागमिताऱ्हत्वप्राप्तौ कर्मातिविघ्नकृत् ॥१०७॥

१०६-१०७ बी. माता का दूषण, अर्हन्ती का दूषण, नियतिस्थ बोधिसत्त्व का मारण, शैक्ष का मारण और सङ्घ के आयद्वार का अपहरण, यह आनन्तर्यसभाग सावद्य हैं। पाँचवां स्तूपभेदन है।[२]

[२२०] यह पाँच सावद्य यथाक्रम आनन्तर्यसभाग हैं—मातृदूषण, अर्हन्तीदूषण (=मातृघात), नियतिभूमिस्थ बोधिसत्त्व का मारण (=पितृघात), शैक्ष का मारण (=अर्हत्-वध), सङ्घ के आय-द्वार का अपहरण (=सङ्घभेद), स्तूपभेदन (तथागत का रुधिरोत्पाद)।

अन्य सविपाक कर्म तीन अवस्थाओं में विघ्नित होते हैं—

१०७ सी-डी. क्षान्ति-लाभ से, अनागमिता की प्राप्ति से, अर्हत्व की प्राप्ति से वह कर्मों का अतिविघ्नकारी होता है।[१]

---

२. दूषणं मातुरर्हन्त्या [बोधिसत्वस्य] मारणम् ।
[नियतिस्थस्य] शैक्षस्य संघायद्वारहारिका ॥
आनन्तर्यसभागानि पञ्चमं स्तूपभेदनम् ।

महाव्युत्पत्ति १२३ से तुलना कीजिये। वोगिहारा का अनुमान—उपानन्तर्य 'आनन्तर्य के समीप', 'क्षुद्र आनन्तर्य'।

व्याख्या की पोथियों में 'अर्हन्त्या' पाठ है—मिनयेफ़्-मिरोनाफ़्, 'अर्हत्या', वोगिहारा, 'अर्हन्त्या'।—चुल्ल ६.१७ में भिक्खुनीदूसक।

महाव्युत्पत्ति—नियतभूमिस्थितस्य बोधिसत्त्वस्य मारणम्; व्याख्या (४३०.२२)—नियतिपतितबोधिसत्वमारणम्—

महाव्युत्पत्ति :—सङ्घायद्वारहरण-भाष्य:—सङ्घायद्वारहारिका, व्याख्या (४३०-२६) का निरूपण—अक्षयनीव्यपहार, 'सङ्घ की संपत्ति का अपहरण' (लेखों में यह पद आता है); व्युत्पत्ति के एक चीनी भाषान्तर में सार्वकालिक [द्रव्य] का अपहरण है—तकाकूसू, इत्सिङ्ग, पृ० १९३—वसुमित्र का निर्वचन :—सुखायद्वारहारिकेति यन्मुखोपभोगिकम् येन सङ्घो जीविका कल्पयति तस्यापहार इति। (व्याख्या ४३०-२७)।

स्तूपभेदक पर महावस्तु, १.१०१, नेत्तिप्पकरण, पृ० ९२ और हार्डी की सूचनाएं, पृ० २५।

स्तूपभेद, शिक्षासमुच्चय, ५९; कथावत्थु, ४७२, अनुवाद २७०, टिप्पणियाँ; करण्डव्यूह, ९४।

१. क्षान्त्यनागामिताऱ्हत्वप्राप्तौ कर्मातिविघ्नकृत् ॥—६.३६ ए-सी व्याख्या में उद्धृत। ऊपर पृ० ११४ देखिये।

जब "मूर्धानः" की अवस्था से व्युत्थान कर वह क्षान्ति की अवस्था का (६.२३) लाभ करता है तब जिन कर्मों का नियतविपाक अपापभूमि में है, उनमें विघ्न होने से वह कर्म नीचे रह जाते हैं (उपतिष्ठन्ति); क्योंकि इन कर्मों की विपाकभूमि का अतिक्रम करता है यथा—देशत्याग करने वाले (देशत्या कुर्वतः व्या० ४३०.३२) पुरुष के धनिक उठ जाते है (उत्तिष्ठन्ते)।

जब वह अनागामिता की प्राप्ति करता है (६.३६ डी) तब जिन कर्मों का नियतविपाक काम धातु में है, उनमें विघ्न होने से वह नीचे रह जाते हैं—उन कर्मों को छोड़कर जिनका नियत-विपाक दृष्टधर्म में हैं। इसी प्रकार जब वह अर्हत् की प्राप्ति करता है तब जिन कर्मों का नियत-विपाक रूपधातु और आरूप्यधातु में है, उनमें विघ्न होने से वह नीचे रह जाते हैं।

हमने देखा है कि बोधिसत्त्व का घात उपानन्तर्य है।

बोधिसत्त्वो कुतो यावद्यतो लक्षणकर्मकृत्।
सुगतिः कुलजोध्यक्षः पुमान् जातिस्मरोऽनिवृत् ॥१०८॥

१०८ ए. वह कब से बोधिसत्त्व है?

१०८ बी. जब से वह उन कर्मों को करता है जो लक्षणों का उत्पादन करते हैं।[२]

---

२. बोधिसत्त्वः कुतो यावत् लक्षणकर्मकृद्यतः।

३. ४१ ए-डी (बुधिस्ट कास्मालोजी का पृ० १९७) की व्याख्या में 'सन्निकृष्ट बोधिसत्त्व' इस पद को समझाने के लिये यह पंक्ति उद्धृत है। इस पद का अर्थ है 'आसन्नाभिसंबोधि।' नियतिस्थ = (नियतिपतित ?)।

बोधिसत्व और उनकी चर्या पर कोश २.४४ ए-बी; ३.१४,२१,८,४१, ५३ सी-डी, ८५,९४, ९६ डी; ६.२३ सी-डी, २४ ए-बी, ७.३४। कारणप्रज्ञप्ति, बुधिस्ट कास्मालोजी में—पृ० ३२७, ३३२. ३३६।

विभाषा, १७६,१४—जब तक प्रथम असंख्येय की परिसमाप्ति नहीं होती तब तक यद्यपि बोधिसत्त्व विविध दुष्कर और कष्टपूर्ण कर्म सम्पादित करता है तथापि उसको यह स्वतः निश्चय-ज्ञान नहीं हो सकता कि वह बुद्ध होगा। जब दूसरे असंख्येय की परिसमाप्ति होती है तब बोधिसत्त्व को स्वतः यह निश्चय-ज्ञान होता है कि वह बुद्ध होगा किन्तु अभी निर्भय होकर (वैशारद्य) वह इस वचन को घोषित करने का साहस नहीं करता कि मैं बुद्ध हूँगा। जब तीसरा असंख्येय समाप्त होता है, जब बोधिसत्त्व लक्षणों का उत्पाद करने वाले कर्मों का अभ्यास करता है तब उसे स्वतः यह निश्चय-ज्ञान होता है कि वह बुद्ध होगा और वह बिना भय के शास्ता के पुत्र का सिंहनाद घोषित करता है...जिस समय वह लक्षणोत्पादक कर्मों का आचरण करता है उस समय वह ५ अशुभ वस्तुओं का त्याग करता है और ५ शुभ वस्तुओं का लाभ करता है—१ वह दुर्गतियों का प्रहाण करता है और सदा

[२२१] उस क्षण से लेकर जब वह कर्मों को करना आरम्भ करता है जिनका विपाक ३२ लक्षण हैं, वह 'नियतिपतित' है।

यह कैसे ?

इस क्षण से लेकर, सदा।

१०८ सी-डी. उसकी सुगति होती है, वह उच्चकुलों में उत्पन्न होता है, वह सकलेन्द्रियों से समन्वागत होता है, वह पुरुष होता है, वह जातिस्मर होता है, वह अविवर्तनीय है।[१]

[२२२] कहते हैं कि वह सुग (?) है क्योंकि उसकी गतियाँ प्रशस्त हैं, क्योंकि उसकी उपपत्ति देवों और मनुष्यों में होती है।

सुगतियों में उपपन्न होता है; २. वह क्षीणवित्त कुलों का त्याग करता है और सदा समृद्ध कुलों में उपपन्न होता है; ३. वह अपुरुष काय का त्याग करता है और सदा पुरुष काय का लाभ करता है...।

अभिसमयालङ्कार ८ में बोधिसत्वभूमि, camb Add.. १७०२-१३८ बी- १४१ बी में (लक्षणानुव्यञ्जनपटल में) लक्षणों का निरूपण है। शुद्धाध्याशयभूमि से आरम्भ कर (हेस्टिंग्ज इनसाइक्लोपीडिया में बोधिसत्व पर लेख और लेवी; सूत्रालङ्कार की भूमिका देखिये) सकल बोधिसम्भार लक्षणों और अनुव्यञ्जनों का निर्वर्तक है। यह सम्भार दो स्वभाव का है—विप्रकृष्ट, जब तक लक्षण और अनुव्यञ्जन प्रतिलब्ध नहीं होते (योऽप्रतिलब्धेषु विपाकतो लक्षणानुव्यञ्जनेषु); सन्निकृष्ट, उस क्षण से जब पहली बार लक्षण प्रतिलब्ध होते हैं और जब तक वह अधिकाधिक विशुद्ध और परिपूर्ण होते जाते हैं...। लक्षण विचित्र शुभकर्म के फल हैं (विचित्र-कर्माभिसंस्कारफल) जैसा लक्षणसूत्र में निरूपण किया है—क्योंकि यह शील, क्षान्ति और दान में सुप्रतिष्ठित है, इसलिये बोधिसत्व 'सुप्रतिष्ठितपादत्व' लक्षण का लाभ करता है... (लक्खणसुत्तन्त, दीघ, ३·१४६ के अनुसार बोधिसत्व के चरमभव में ही लक्षण का प्रादुर्भाव होता है)। बोधिसत्व का लक्षण, ज्ञानप्रस्थान, १८, पृ० १०१६, कालम १।

१. कारिका के तिब्बती संस्करण में ऐसा पाठ है—[सुगोच्चकुलपूर्णाक्षः पुमान् जातिस्मरोऽविवृत् ।।]

परमार्थ —(सुमार्ग = सुगति) (उच्चकुल) (सकल) पुम्र (जातिस्मर) (अविनिवर्तनीय, महाव्युत्पत्ति २४.४, अविवर्तन, १३३,२०)।

सकलेन्द्रिय के लिये शुआनूचाङ् में वही kiu शब्द है! वह अन्तिम दो शब्दों का अनुवाद देते हैं—दृढ़, धीर। 'अवैवर्तिक' शब्द प्रामाणिक है।

अवैवर्तिक भूमि, सङ्घभद्र, ४४, तैशो, ५६०; सिद्धि, ७३३; शुद्धभूमि के निकाय देमीविल, वर्हिएफ़ूहं—ओ, १९२४.२३३।

वह क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति के महाशाल[1] कुलों में उत्पन्न होता है, क्षीणवित्त-कुलों में नहीं।

जिस पुद्गल की इन्द्रियाँ विकल हैं, वह विकलेन्द्रिय है। उसकी सकल इन्द्रियाँ हैं, इसलिये वह पूर्णाक्ष (?) है। यह शब्द 'अविकलेन्द्रिय' का पर्यायवाची है।[2]

वह सदा पुरुष होता है, स्त्रीन्द्रिय का कभी नहीं होता और इसलिये उसके पण्ढादि न होने में और भी हेतु है। अपनी सब उपपत्तियों में वह अपने पूर्वनिवासों की अनुस्मृति रखता है।

जो समर्पण करता है, वह विवर्तन करता है। क्योंकि वह समर्पण नहीं करता वह 'अविवृत्' (!) है जो 'अवैवर्तिक' का पर्यायवाची है। वह विवर्तन नहीं करता, वास्तव में सत्त्वों के लिये उपयोगी होने के उद्देश्य से वह सब प्रकार के दुःख-दौर्मनस्य और सर्व-यन्त्रणा[3] से अभिभूत नहीं होता। जिसे लोक का अक्रीतदास[4] कहते हैं, वह बोधिसत्त्व है।

[२२३] यह उदार पुरुष जो अत्यन्त प्रशस्त सम्पद् (७.३४) से समन्वागत है, शुद्ध करुणा से कार्य करते हुए श्वान[1] के सदृश सब प्राणियों के समक्ष निरहंकार हो विहार करता है। वह समस्त जीवों के दुर्व्यवहार और यन्त्रणा को सहन करता है। वह सकल श्रान्त करने वाले कष्टप्रद कार्यों को करता है। जिन कर्मों का विपाक लक्षण है।

जम्बूद्वीपे पुमानेव सम्मुखं बुद्धचेतनः।
चिन्तामयं कल्पशते शेष आक्षिपते हि तत् ॥१०६॥

---

१. व्याख्या (४३१.१) महासालकुलज इति महाप्रकारकुलज इत्यर्थः। क्षत्रिय-महासालकुलजो यावद्र् गृहपतिमहासालकुलज इति महागृहपतिकुलज इत्यर्थः – महाव्युत्पत्ति, १८७,६. क्षत्रियमहाशालकुलम्...९. उच्चकुलम्...११. नीचकुलम्—चिल्डर्स, और सेण्ट-पीटर्ज़्वर्ग डिक्शनरी देखिये—परमार्थ का अनुवाद 'महाकुल' है। ह्यून्त्सङ्ग में 'साल' है। महाव्युत्पत्ति के चीनी और तिब्बती भाषान्तर और कोश के तिब्बती अनुवाद में 'महासालवृक्ष के सदृश कुल' है।

२. महाव्युत्पत्ति, २४५, ९५७-९६०—न कुण्डो भवति...न विकलेन्द्रियो भवति।

३. कदर्थना—व्याख्या (४३१.३)—कदर्थना महापरिभवपूर्विका विहेठना। ययोः कायवाचोः प्रवृत्त्या पदस्य दुःखदौर्मनस्ये भवतः। तदपेक्षया तन्निग्रहो यन्त्रणेत्युच्यते (?)।

४. बोधिसत्त्व पाँच प्रकार से 'सत्वदास' है। सूत्रालङ्कार, १९.१९...क्षमो भवति परिभाषणताडनादीनाम्। निपुणो भवति सर्वकार्यकरणात् —शिक्षासमुच्चय। पृ० ३५.१४३ से तुलना कीजिये।

१. बोधिसत्त्व की श्वान से तुलना, शिक्षासमुच्चय—पृ० ३५

[२२१] उस क्षण से लेकर जब वह कर्मों को करना आरम्भ करता है जिनका विपाक ३२ लक्षण हैं, वह 'नियतिपतित' है।

यह कैसे ?

इस क्षण से लेकर, सदा।

१०८ सी-डी. उसकी सुगति होती है, वह उच्चकुलों में उत्पन्न होता है, वह सकलेन्द्रियों से समन्वागत होता है, वह पुरुष होता है, वह जातिस्मर होता है, वह अविवर्तनीय है।[१]

[२२२] कहते हैं कि वह सुग (?) है क्योंकि उसकी गतियाँ प्रशस्त हैं, क्योंकि उसकी उपपत्ति देवों और मनुष्यों में होती है।

सुगतियों में उपपन्न होता है; २. वह क्षीणवित्त कुलों का त्याग करता है और सदा समृद्ध कुलों में उपपन्न होता है; ३. वह अपुरुष काय का त्याग करता है और सदा पुरुष काय का लाभ करता है...।

अभिसमयालङ्कार ८ में बोधिसत्वभूमि, camb Add.. १७०२-१३८ बी- १४१ बी में (लक्षणानुव्यञ्जनपटल में) लक्षणों का निरूपण है। शुद्धाध्याशयभूमि से आरम्भ कर (हेस्टिंग्ज इनसाइक्लोपीडिया में बोधिसत्व पर लेख और लेवी; सूत्रालङ्कार की भूमिका देखिये) सकल बोधिसम्भार लक्षणों और अनुव्यञ्जनों का निर्वर्तक है। यह सम्भार दो स्वभाव का है—विप्रकृष्ट, जब तक लक्षण और अनुव्यञ्जन प्रतिलब्ध नहीं होते (योऽप्रतिलब्धेषु विपाकतो लक्षणानुव्यञ्जनेषु); सन्निकृष्ट, उस क्षण से जब पहली बार लक्षण प्रतिलब्ध होते हैं और जब तक वह अधिकाधिक विशुद्ध और परिपूर्ण होते जाते हैं...। लक्षण विचित्र शुभकर्म के फल हैं (विचित्र-कर्माभिसंस्कारफल) जैसा लक्षणसूत्र में निरूपण किया है—क्योंकि यह शील, क्षान्ति और दान में सुप्रतिष्ठित है, इसलिये बोधिसत्व 'सुप्रतिष्ठितपादत्व' लक्षण का लाभ करता है... (लक्खणसुत्तन्त, दीघ, ३·१४६ के अनुसार बोधिसत्व के चरमभव में ही लक्षण का प्रादुर्भाव होता है)। बोधिसत्व का लक्षण, ज्ञानप्रस्थान, १८, पृ० १०१६, कालम १।

१. कारिका के तिब्बती संस्करण में ऐसा पाठ है—[सुगोच्चकुलपूर्णाक्षः पुमान् जातिस्मरोऽविवृत्।।]

परमार्थ—(सुमार्ग = सुगति) (उच्चकुल) (सकल) पुम्र् (जातिस्मर) (अविनिवर्तनीय, महाव्युत्पत्ति २४.४, अविवर्तन, १३३,२०)।

सकलेन्द्रिय के लिये शुआनूचाङ् में वही kiu शब्द है! वह अन्तिम दो शब्दों का अनुवाद देते हैं—दृढ़, धीर। 'अवैवर्तिक' शब्द प्रामाणिक है।

अवैवर्तिक भूमि, सङ्घभद्र, ४४, तैशो, ५९०; सिद्धि, ७३३; शुद्धभूमि के निकाय देमीविल, वर्हिएफ्ई—ओ, १९२४.२३३।

वह क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति के महाशाल[1] कुलों में उत्पन्न होता है, क्षीणवित्त-कुलों में नहीं।

जिस पुद्गल की इन्द्रियाँ विकल हैं, वह विकलेन्द्रिय है। उसकी सकल इन्द्रियाँ हैं, इसलिये वह पूर्णाक्ष (?) है। यह शब्द 'अविकलेन्द्रिय' का पर्यायवाची है।[2]

वह सदा पुरुष होता है, स्त्रीन्द्रिय का कभी नहीं होता और इसलिये उसके पण्ढादि न होने में और भी हेतु है। अपनी सब उपपत्तियों में वह अपने पूर्वनिवासों की अनुस्मृति रखता है।

जो समर्पण करता है, वह विवर्तन करता है। क्योंकि वह समर्पण नहीं करता वह 'अविवृत्' (?) है जो 'अवैवर्तिक' का पर्यायवाची है। वह विवर्तन नहीं करता, वास्तव में सत्त्वों के लिये उपयोगी होने के उद्देश्य से वह सब प्रकार के दुःख-दौर्मनस्य और सर्व-यन्त्रणा[3] से अभिभूत नहीं होता। जिसे लोक का अक्रीतदास[4] कहते हैं, वह बोधिसत्त्व है।

[२२३] यह उदार पुरुष जो अत्यन्त प्रशस्त सम्पद् (७.३४) से समन्वागत है, शुद्ध करुणा से कार्य करते हुए श्वान[1] के सदृश सब प्राणियों के समक्ष निरहंकार हो विहार करता है। वह समस्त जीवों के दुर्व्यवहार और यन्त्रणा को सहन करता है। वह सकल श्रान्त करने वाले कष्टप्रद कार्यों को करता है। जिन कर्मों का विपाक लक्षण है।

जम्बूद्वीपे पुमानेव सम्मुखं बुद्धचेतनः।
चिन्तामयं कल्पशते शेष आक्षिपते हि तत् ॥१०९॥

---

१. व्याख्या (४३१.१) महासालकुलज इति महाप्रकारकुलज इत्यर्थः। क्षत्रिय-महासालकुलजो यावद्‌ गृहपतिमहासालकुलज इति महागृहपतिकुलज इत्यर्थः – महाव्युत्पत्ति, १८७,६. क्षत्रियमहाशालकुलम्...९. उच्चकुलम्...११. नीचकुलम्—चिल्डर्स, और सेण्ट-पीटर्ज़्‌वर्ग डिक्शनरी देखिये—परमार्थ का अनुवाद 'महाकुल' है। ह्यू्‌नत्सङ्ग में 'साल' है। महाव्युत्पत्ति के चीनी और तिब्बती भाषान्तर और कोश के तिब्बती अनुवाद में 'महासालवृक्ष के सदृश कुल है।

२. महाव्युत्पत्ति, २४५, ९५७-९६०—न कुण्डो भवति...न विकलेन्द्रियो भवति।

३. कदर्थना—व्याख्या (४३१.३)—कदर्थना महापरिभवपूर्विका विहेठना। ययोः कायवाचोः प्रवृत्त्या पदस्य दुःखदौर्मनस्ये भवतः। तदपेक्षया तन्निग्रहो यन्त्रणेत्युच्यते (?)।

४. बोधिसत्त्व पाँच प्रकार से 'सत्वदास' है। सूत्रालङ्कार, १९.१९...क्षमो भवति परिभाषणताडनादीनाम्। निपुणो भवति सर्वकार्यकरणात्—शिक्षासमुच्चय। पृ० ३५.१४३ से तुलना कीजिये।

१. बोधिसत्त्व की श्वान से तुलना, शिक्षासमुच्चय—पृ०३५

१०९, उन्हें वह जम्बुद्वीप में पुरुषभाव में आक्षिप्त करता है; बुद्धों के सम्मुख, बुद्धों का चिन्तन करते हुए, चिन्तामय, शत शेष कल्पों में।[२]

बोधिसत्त्व उन कर्मों का आक्षेप करते हैं जो केवल जम्बुद्वीप में, अन्यत्र नहीं, लक्षणों में विपच्यमान होते हैं क्योंकि जम्बुद्वीप के निवासियों की पटु बुद्धि होती है।[३] पुरुषभाव में, स्त्रीभाव में नहीं, क्योंकि उन्होंने स्त्रीभाव का पहले ही अतिक्रम किया है। केवल शास्ता के सम्मुख, क्योंकि उसकी चेतना के आलम्बन बुद्ध हैं। यह कर्म चिन्तामय हैं, श्रुतमय या भावनामय नहीं हैं।

[२२४] बोधिसत्त्व शत शेष कल्प[१] में इनको सम्पादित करते हैं, इससे अधिक काल में नहीं।

---

२. [जम्बुद्वीपे पुमानेव सम्मुखबुद्धचेतनः।
चिन्तामयं कल्पशते शेषे (तद्) आक्षिपत्यसौ ।।]

दूसरे पाद में परमार्थ 'बुद्ध' शब्द को दुहराते हैं='बुद्धप्रत्यक्षं बुद्धचेतनः' और भाष्य का अनुवाद इस प्रकार देते हैं—"किस काल में वह इन कर्मों की भावना करता है ? जिस काल में महाशास्ता का सम्मुखीभाव होता है (महाशास्तृसम्मुखीभावकाले), क्योंकि [इन कर्मों की] चेतना का आलम्बन बुद्ध है।"

विभाषा, १७७.१ – जिन कर्मों का विपाक लक्षण है क्या वह श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय हैं ?—वह केवल चिन्तामय हैं।—क्यों ?—इस प्रकार के कर्म (चिन्तामयकर्म) के प्राधान्य के कारण: श्रुतमय कर्म केवल कामधातु में होता है...कुछ का कहना है कि जिस कर्म का विपाक लक्षण हैं वह श्रुतमय और चिन्तामय दोनों है, वह भावनामय नहीं हैं। जो कर्म लक्षणों में विपत्यमान होता है उसका उत्पाद किस स्थान में होता है ?—केवल कामधातु में, मनुष्यगतिमात्र में, केवल जम्बुद्वीप में, केवल पुरुषभाव में, स्त्रीभाव में नहीं इत्यादि।—किस काल में ? -बुद्धों का जिस काल में उत्पाद होता है, बुद्धों से शून्य काल में नहीं।—उनका आलम्बन कौन होता है ?—वह बुद्ध को प्रत्यक्ष आलम्बन बनाते हैं क्योंकि चेतनाविशेष और प्रणिधानविशेष। [जो इस कर्म का उत्पाद करते हैं], दूसरे विषय को आलम्बन नहीं बनाते।

३. अष्टसाहस्रिका, पृ० ३३६ : बोधिसत्त्व जम्बुद्वीप में और सामान्यतः मध्यदेश में उत्पन्न होते हैं।

१. 'कल्पशते शेषे' इस पाठ की व्याख्या ३.१३ ए कास्मालोजी बुद्धीक, पृ० १४७ से समर्थन होता है।

यहाँ १०० कल्प (महाकल्प, कोश, ३.९४ ए) से अभिप्राय है। बोधिसत्त्व सामान्यतः तीन कल्पासंख्येय जो उसकी चर्या का काल है, उससे ऊर्ध्व १०० कल्प तक अवस्थान करता है। इन १०० कल्पों में वह यथार्थ में बोधिसत्त्व की संज्ञा के योग्य है और बोधि को अधिगत

[२२५] किन्तु भगवत् शाक्यमुनि ने वीर्य की शुद्धि के कारण इन १०० कल्पों[1] में से ९ कल्पों का प्रत्युदावर्तन किया और ९१ कल्पों में (एकनवत्यां कल्पेषु) लक्षण-विपाक कर्म अक्षिप्त

करता है (महावस्तु ३,२४९ से बोधिकल्पशतेन समुदावेन्ति नरोत्तया)। प्राय: इन १०० कल्पों की उपेक्षा होती है और यही कहा जाता है कि बुद्धत्व का प्रतिलाभ तीन कल्पासंख्येय (३.९४ बी-सी) अर्थात् तीन असंख्येय (या असंख्य) महाकल्प में होता है। असंख्येय 'जिसका संख्यान न हो सके' एक नियत संख्या है। इसका संख्यान हो सकता है किन्तु यह एक बृहत् संख्या है जिसका मूल्य संख्यान के प्रकार के अनुसार भिन्न होता हैं (१,१०,१००...सन्तति का ५९वाँ संख्यास्थान या १, १०, १००, १००००, १०००००, ×१००००००...सन्तति का ५९वाँ संख्यास्थान कोश, ३.९४ देखिये)।

हम मान सकते हैं कि इस वाद ने 'असंख्येयकल्प' के वाद का स्थान लिया है। 'कल्पा-संख्येय' के नए संख्यान के साथ-साथ यह शब्द पाया जाता है, रिलिजिओएमिनी, पृ० १५० आदि—प्रत्येक कल्प अपरिमित है। तिस पर भी कल्प अनेक हैं महावस्तु, १.७८, संयुत्त २.१८१ डी इत्यादि से तुलना कीजिये)। अभिधर्म में असंख्येयकल्प से महाकल्प का चतुर्थपाद-विवर्तनकाल, विवृत्तावस्था, संवर्तनकाल और संवृत्तावस्था इष्ट है।

पालि में बोधिसत्त्व की चर्या का काल ४ असंख्येय और शतसहस्रकल्प है (असंख्येय; चरियापिटक—जातक, १. पृ० २ अङ्गुत्तर की अर्थकथा पी. टी. एस., १८८३, पृ० ९८ नेत्तिप्पकरण, पृ० १६१; विसुद्धिमग्ग, ३०२); सारसंग्रह (प्रथम अध्याय, नायमन का संस्करण १८९१, पृ०१२) में तीन प्रकार के बोधिसत्त्वों का उल्लेख है—वह जो प्रज्ञा के अधिपति हैं, वह जो श्रद्धा के अधिपति हैं, वह जो वीर्य के अधिपति हैं। इनकी चर्या ४, ८, १६ असंख्येय (१००,००० कल्प) की है।

कास्मालोजी बुद्धीक, पृ० २६४ में जो हवाले दिये हैं, उनमें अभिसमयालङ्कारालोक, ८ को सम्मिलित करना चाहिये जहाँ २ वाद का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार दूसरा वाद वसुबन्धु का है—१. बोधिसत्त्व की चर्या तीन कल्पासंख्येय (न कि असंख्येयकल्प) की है। प्रथम में संस्कारभूमि से लेकर मौल प्रथम भूमि तक की बोधिसत्त्व की चर्या संगृहीत है। द्वितीय में द्वितीयभूमि से सप्तम तक, तृतीय में ८वीं भूमि से बुद्धभूमि-प्रवेश तक (बुद्धभूमि = समन्तप्रभा) संगृहीत है। २. किन्तु वास्तव में संस्कार भूमि के लिये १ कल्पासंख्येय है, २ अधिमुक्तिचर्याभूमि के लिये है, ३ मौल प्रथमभूमि (प्रमुदिता) के लिये और तीन ९ भूमियों में से प्रत्येक के लिये है, तैंतीस कल्पासंख्येयों में अपनी चर्या को परिपूर्ण कर बोधिसत्त्व बुद्धभूमि को प्राप्त होता है—...समन्तप्रभाम् बुद्धभूमिमासादयतीत्येवं त्रयस्त्रिंशता कल्पासंख्येयैर्बुद्धत्वम् प्राप्यत इत्यार्य-वसुबन्धुपादा:।

१. [भगवता] नव च कल्पा: प्रत्युदावर्तिता:...।

किये । यह इस प्रकार १०० रहते हैं। इसीलिये अशिबन्धक से भगवत् कहते हैं कि "हे ग्रामणी ! मैं आज से ९१ पूर्व कल्प का अनुस्मरण करता हूँ। मैं नहीं जानता (नाभिजानामि) कि भिक्षा के दान से कोई कुल निर्धन या उपहत हुआ है।"[२] भगवत् इस प्रकार इसलिये कहते हैं, क्योंकि उनकी स्वाभाविक स्मृति का गोचर ९१ कल्प है। (७.३०, ३७, ४२ देखिये)।

पूर्वाचार्य[३] कहते हैं कि जब प्रथम कल्प की समाप्ति होती है तब बोधिसत्त्व चार दोषों का व्यावर्तन और दो गुणों का प्रतिलाभ करता है। लक्षणों में—

अनागत शाक्यमुनि ११२ए में जैसा कि बताया गया है, इस प्रकार अपने वीर्य को विशुद्धकर, दूसरे शब्दों में महत् वीर्यारम्भ कर, ९१ कल्पों में वीर्यपारमिता अन्य पारमिताओं का लाभ करते हैं।

महावस्तु (३.२४९) इससे सहमत है—वीर्यकायेनसम्पन्नो...नवकल्पानि स्थायेसि वीर्येण पुरुषोत्तमः।—इसी प्रकार नैनाजिओ, .४३०, जिसका अनुवाद प्रिज़िलुस्की ने जे. ए. एस. १९१४, २. पृ० ५६६ में किया है (बहुत रोचक है)।

महायान के कुछ ग्रन्थों के अनुसार (जिनका उल्लेख किओकुगा ने किया है और जिनका अध्ययन आवश्यक है, अनागत शाक्यमुनि ने ४० कल्पों का प्रत्युदावर्तन किया—११ का व्याघ्री को आहार देकर, ८ का अङ्क में अपने केश बिछाकर (दिव्य, पृ० २५२) ९ का पुष्पास्तवनकर, १२ का अपने जीवन को संशय में डालकर एक अर्ध श्लोक का अन्वेषण कर।

२. संयुत्त, ४ ३२४ से तुलना कीजिये। व्याख्या सूत्र का एक अंश देती है—अशिबन्धकेन ग्रामण्या निर्ग्रन्थश्रावकेण भगवान् उक्तः। किं अनर्थायासि भो गौतम कुलानां प्रतिपन्नो यस्त्वम् ईदृशे दुर्भिक्ष इयता भिक्षुसङ्घेन सार्धं अशनिवद् उत्पादयन् भिक्षां अटसि। स भगवताभिहितः। इतोऽहं ग्रामाणि एकनवतं कल्पमुपादाय समनुस्मरामि...]।

'एकनवतेः पूरणं कल्प एकनवतः' का अर्थ बताना चाहिये। अनेक स्थलों में भगवत् अपने लोक के अनुभव को ९१ कल्पों में परिच्छिन्न करते ज्ञात होते हैं, यथा मज्झिम, १,४८३; इस काल में विपश्यिन् राज्य करते थे, दीघ २.२, दिव्य, २८२, इनका राज्यारोहण शाक्यमुनि की चर्या के तृतीय असंख्येय के अन्त को सूचित करता है (नीचे ४.११० बी-सी देखिये।)

३. पूर्वाचार्य—जापानी सम्पादक की विवृति के अनुसार इतना और जोड़िये—"सौत्रान्तिकों में।"

चार दोष यह हैं - दुर्गतिदोष, अकुलीनतादोष, विकलेन्द्रियतादोष, स्त्रीभावदोष; दो गुण हैं—जातिस्मरणतागुण, अनिवर्तकता गुण।

परमार्थ और शुआन्-चाङ् अवधारित करते हैं कि प्रथम 'कल्प' से प्रथम 'असंख्येय' समझना चाहिये।

बोधिसत्त्व के तिर्यक् योनि में जन्म और उनके अवद्य, ६, २३ में देखिये।

एकैकं पुण्यशतजम्. असंख्ये यत्र यान्त्यजाः।
विपश्यी दीपकृत् रत्नशिल्पी शाक्यमुनिः पुरा ॥११०॥

[२२६] ११० ए. एक-एक शत पुण्य से उत्पन्न होता है ।[१]

---

१. एकैकं पुण्यशतजम् । इन १०० पुण्यों से क्या समझना चाहिये ? व्याख्या तीन विवेचन देती हैं—

ए. बुद्धालम्बन मनस्कार से सम्मुखीभाव से बोधिसत्त्व में ५० चेतनाएँ होती हैं । अन्य ५० चेतनाएँ तब उत्पन्न होती हैं जब वह विचार करता है कि "मैं भी बुद्ध होऊँ !" (अहमपि इत्थं स्याम्) ।

बी. त्रैधातुक विकल्प ४८ होते हैं (कामधातु के २० स्थान, रूप के १६, आरूप्य के ४ और ८ शीतनरक), इनके प्रति बोधिसत्त्व के करुणा चित्त उत्पन्न होते हैं । उतनी ही चेतनाएँ इन चित्तों से संप्रयुक्त होती हैं। इसके अनन्तर ४९वीं बुद्धालम्बन चेतना उत्पन्न होती है—"यथा यह सत्त्वों को मोचित करता है ।" इसके अनन्तर ५०वीं चेतना उत्पन्न होती है—"इसी प्रकार मैं भी सत्त्वों को मोचित् करूँ ।"—इन ५० चेतानाओं के पुनः सम्मुखीभाव से बोधिसत्त्व का पुण्यशत होता है ।

सी. प्राणातिपात विरति ५ कारणों से उपेत होती है (नीचे ४.१२३ ए-बी देखिये)—मौलकर्मपथपरिशुद्धि (= मौलकर्मपथविरति) सामन्तकपरिशुद्धि = प्रयोग और पृष्ठ की परिशुद्धि (सामन्तक, ४,६८ ए); वितर्कानुपघातः विरति [तीन] [अकुशल] वितर्कों से आहत नहीं होती; स्मृत्यनुपरिगृहीतत्व—विरति बुद्ध, धर्म और सङ्घ की स्मृति से परिरक्षित होती है; निर्वाणपरिणामितत्व: विरति का पुण्य निर्वाण-जप में परिणामित होता है । जब बोधिसत्त्व प्राणातिपात से प्रतिविरत होता है तब यह ५ चेतना होती है। १० विरतियों के लिये ५० चेतना होती हैं । इनके दो बार सम्मुखीभाव से १०० चेतना होती हैं—(व्याख्या)।

सङ्घभद्र: १०० पुण्य अर्थात् १०० चेतना, जिस काल में बोधिसत्त्व लक्षणविपाककर्म का उत्पाद करता है उस काल में वह पूर्व ५० चेतनाओं का उत्पाद करता है जो कायभाजन की विशुद्धि करती है। पश्चात् वह उस कर्म को करता है जो लक्षण को आकृष्ट करता है । पीछे वह ५० शुभ चेतनाओं का उत्पाद करता है जो कर्म को इसी प्रकार स्थिर और परिपूर्ण करती हैं कि वह परिपूरि का लाभ करता है। ५० चेतनाओं का आलम्बन १० कर्मपथ हैं—प्रत्येक के लिये ५ चेतना होती हैं—१. प्राणातिपातविरतिचेतना, २. समादायनचेतना, (महाव्युत्पत्ति, २४५,४२८, ३. समुत्तेजनचेतना (२४५,४२९ से तुलना कीजिये), ४. अनुमोदन चेतना, ५. परिणामनाचेतना, प्राणातिपात से विरत होने की चेतना, दूसरों से इस विरति का समादान कराना, इस विरति की प्रशंसा करना, इसकी शिक्षा देना, दूसरे इसका परिग्रह करें, इस पर प्रसन्न होना, आसादित पुण्य का निर्वाण-लाभ के लिये परिणामन । अन्य आचार्यों के अनुसार प्रत्येक कर्म-पथ के लिये पाँच मृदु आदि कुशल चेतना हैं जो ५ ध्यानों (१) के अनुरूप हैं—अन्य आचार्यों के अनुसार प्रत्येक कर्म-पथ के लिये, १. प्रयोगपरिशुद्धि, २ मौलकर्म

[२२७] इन १०० पुण्यों में से प्रत्येक का परिमाण क्या है ?

कुछ के अनुसार इसका परिमाण उस पुण्य के तुल्य है जिसका फल सन्निकृष्ट बोधिसत्त्व को, अर्थात् लक्षणविपाक कर्मकारी को छोड़कर सब सत्त्वों का भोग है।

दूसरों के अनुसार यह सब सत्त्वों के समुदित कर्म के तुल्य है जो अपने आधिपत्य से (२.५६ वी) त्रिसाहस्रक का निवर्तन करता है।[१]

दूसरों के अनुसार केवल बुद्ध इस पुण्य के परिमाण को जानते हैं।

जब भगवत् बोधिसत्त्व थे तब कितने बुद्धों की भगवत् ने पर्युपासना की थी ?—(पर्युपासयामास, व्या० ४३२.६)

प्रथम असंख्येय में ७५,००० बुद्ध; द्वितीय में ७६,००० और तृतीय में ७७,००० बुद्ध की उन्होंने पूजा की।[२]

प्रत्येक असंख्येय की समाप्ति पर कौन बुद्ध होते हैं ?

प्रतिलोमक्रम से—

११० वी-सी. तीन असंख्येयों के अन्त में पश्यिन्, दीप, रत्नशिखिन्।[३]

[२२८] सम्यक्संबुद्ध रत्नशिखी के काल में प्रथम असंख्येय समाप्त हुआ, भगवत् दीपङ्कर के काल में द्वितीय समाप्त हुआ, तथागत विपश्यिन् के काल में तृतीय समाप्त हुआ।

जिन बुद्धों की उन्होंने पर्युपासना की, उनमें—

११० डी. प्रथम शाक्य मुनि थे।

एक प्राचीन शाक्यमुनि (विभाषा, १७७.१५) सम्यक् बुद्ध, जिनके अधीन भगवत् ने जो उस समय बोधिसत्त्व थे, बोधि का आदि प्रणिधान इस वचन से किया कि "मैं भी उनके सर्वथा सदृश बुद्ध होऊँ !"—हमारे शाक्यमुनि के समान यह शाक्यमुनि भी लोक के कल्पान्त में[१] प्रादुर्भूत हुए थे, उनका धर्म भी १००० वर्ष ही अवस्थित था।

पथपरिशुद्धि, ३. पृष्ठपरिशुद्धि, ४. वितर्कानुपघात, ५ स्मृत्यनुपरिगृहीतत्त्व। अन्य आचार्यों के अनुसार सब लक्षण विपाककर्म अपूर्व असाधारण चेतना हैं जिनका आलम्बन बुद्ध हैं—जब १०० का एक साथ सम्मुखीभाव होता है तब बोधिसत्त्व [लक्षण से] उपशोभित (?) होता है।

१. येन सर्वसत्वकर्माधिपत्येन त्रिसाहस्रिको निर्वर्तते (२.५६ ए-बी देखिये)। परमार्थ इस द्वितीयमत को वैभाषिकों का बताते हैं। सङ्घभद्र ५ मत का विवेचन करते हैं। विभाषा (१७७,९) ११ मत सूचित करती है।

२. यह विभाषा, १७८,२ की संख्याएँ हैं। महावस्तु में शाक्यमुनि दीपङ्कर नाम के ८००० बुद्ध...३००,०००,००० शाक्यमुनि और इसी प्रकार अन्य (१,५७ आदि) बुद्धों की पूजा और परिचर्या का स्मरण रखते हैं।" बार्थ, जे० द सावां, अगस्त १८९९।

३. =[असंख्येयत्रयान्तजाः। पश्यी दीपो रत्नशिखी]

१. =कलहयुग, कलियुग (शरच्चन्द्रदास)। परमार्थः लोकान्तकाले शुआन्-चाङ्: कल्पान्ते अर्थात् अपकर्षकल्पे—ऐसे काल में जब आयुष्काल क्षीण होता है (३.९२)।

किस प्रकार बोधिसत्त्व प्रत्येक पारमिता को परिपूर्ण करता है— (पृ० २३१)

सर्वत्र सर्वं ददतः कारुण्याद् दानपूरणम् ।
अङ्गच्छेदेऽप्यकोपात्तु रागिणः क्षान्तिशीलयोः ॥१११॥

१११ ए-बी. कृपावश सबको सब दान देकर वह दान की परिपूर्णता करता है।[2]

जब वह कृपावश अपना मोक्ष न चाहते हुए, सबको सब देता है—यहाँ तक कि अपने नेत्र और अपनी अस्थि-मज्जा को भी दान में देता है तो वह दान पारमिता को परिपूर्ण करता है।

१११ सी-डी. शील और क्षान्ति, बिना कोप किये, अङ्गच्छेद होने पर भी, यद्यपि वह सराग हो।[3]

[२२९] यद्यपि वह वीतराग न हो, तथापि जब वह अङ्गच्छेद होने पर भी तनिक मात्र भी कोप नहीं करता तब शील और क्षान्ति पारमिता परिपूर्ण होती हैं।

तिष्यस्तोत्रेण वीर्यस्य धीसमाध्योरनन्तरम् ।
पुण्यं कृपाय तद्वस्तु त्रयं कर्म यथायथा ॥११२॥

११२ ए. पुष्यस्तवन से वीर्य।[1]

इस काल में अनागत शाक्यमुनि प्रभासनाम के कुम्भकारककुमार थे— (व्याख्या— ४३२.७)।

महावस्तु एक शाक्यमुनि से परिचित है जो अप्रमाण असंख्येयकल्प तक निवास करते हैं (१.४७), वह भी कपिलवस्तु के हैं और वह हमारे शाक्यमुनि से भिक्षा लेते हैं जो उस समय बाशीक-पुत्र थे (प्रथमा प्राणिधि तदा आसि)।

२. =[दानस्य पूरिः कृपया सर्वेभ्यो सर्वदानतः।] उदाहरण—शिबि।

३. =[क्षान्तिशीलस्याङ्गच्छेदे सरागस्याप्य्] अकोपतः॥

उदाहरण—क्षान्ति भिक्षु जिनको कलिराजा (=कलाबु) ने यन्त्रणा पहुँचाई (ज्ञान-प्रस्थान) यह सूत्रालङ्कार (ह्यूबर, पृ० ३२५,३८३) के क्षान्ति [क्षान्तिवादिन्] ऋषि हैं। यह जातक ३९३ नाम के (विसुद्धिमग्ग, ३०२), जातकमाला, २८, अवदानकल्पलता, ३८। के नायक है। महावस्तु १.१७० के अनुसार अनागत शाक्यमुनि दीपङ्कर के काल से वीतराग हैं।

१. =[वीर्यस्य पुष्यस्तवनात्]

यह कथा अवदानशतक, ९७ (२.१७९) में और रोमैण्टिक लिजेण्ड, पृ० १४ में (कुछ भेद के साथ) वर्णित है। इसमें बुद्ध का नाम पुष्य है।—परमार्थ और शुआन्-चाङ् का पाठ 'तिष्य' है। तिब्बती भाषान्तर में जो नाम दिया है उसका अनुवाद डॉक्टर कार्डियर (अष्टाङ्गहृदय, २.१.३८ के अनुसार) 'पुष्य' करते हैं।—महाव्युत्पत्ति में 'पुष्य' (नक्षत्र) है

जब भगवत् बोधिसत्त्व थे तब उन्होंने पर्वतगुहा के[२] अभ्यन्तर में तथागत पुष्य को देखा जो तेजोधातु में समापन्न थे।[३]

[२३०] उन्होंने एक पैर पर खड़े हो, इस श्लोक का पाठ करते हुए उनका सात दिन, सात रात स्तवन किया—"हे पुरुषर्षभ! न द्युलोक में, न भूमि पर, न इस लोक में, न वैश्रवण के आलय में, न मरुभवन में, न अन्य दिव्यस्थानों में, न दिशा में, न विदिशा में, आपके तुल्य दूसरा महाश्रमण मिल सकता है, चाहे कोई बहुसत्त्वाध्यासित पर्वत और काननों के सहित सकल भूमण्डल में भ्रमण करे।"[१] सिद्धान्त के अनुसार तब वीर्य पारमिता परिपूर्ण हुई और ९ कल्प प्रत्युदावर्तित हुए।

(१६५.६) तिष्य (चक्रवर्तिन्), (१८०.५४७; ४७,१७) तिष्य (श्रावक)—महावस्तु, ३.२४०.६ में पुष्य के लिये तिष्य का व्याकरण है। रोमैण्टिक लिजेण्ड के अनुसार तिष्य पुष्य से ४ कल्प पूर्व और शाक्यमुनि में ९५ कल्प पूर्व थे।

२. परमार्थ—"रत्नगिरि की गुहा में"; अवदानशतक—हिमवन्तं पर्वतमभिरुह्य रत्नगुहां प्रविश्य...

३. तेजोधातुं समापद्यमानम्—परमार्थ और शुआन्-चाङ् का अनुवाद "तेजोधातु-समापत्ति में समापन्न हो" (चीनी शब्द का अनुवाद आहतेल 'अग्निधातुसमाधि' देते हैं।—चीनी टीकाकार प्रायः जिस पद का प्रयोग करते हैं (शावाने, सैङ्क सान्त कान्त, ३.१५५, २६४) वह 'ज्योतिष्प्रभसमाधि' के बराबर है।

उस ऋद्धि से यहाँ अभिप्राय है जिससे आर्य अपने शरीर को प्रज्वलित करता है, शरीर से ज्वाला और धूम निर्गत करता है, महाव्युत्पत्ति, १५,१४ धूमयति प्रज्वलयति अपि तद्यथापि नाम महान् अग्निस्कन्धः (दीघ, ३.२७) देखिये; ऋद्धि पर कोश, ७.४८ इत्यादि योगी का भूतों पर, आपोधातु, तेजोधातु पर, प्रभाव उस ध्यान से प्रतिलब्ध होता है जिसमें वह इस धातु की भावना करता है, चिल्डर्स का व्याख्यात (तेजोशब्द) इस प्रकार है—तेजोधातुं समापज्जित्वा = "तेजो का सेन से 'झल' में समापन्न हो" (कृत्स्नापतन पर कोश, ८.३६)। इस विवेचन की तुलना सेना (महावस्तु, १.५५६) बील के विवेचन से करते हैं—"अपने शरीर को आकाश में उच्छ्रित कर नाना प्रकार के ज्योतिष्प्रभ निर्गत करना।"—तेजो का सेन से ध्यान में समापन्न हो सत्त्व ध्यानावस्था में अग्निस्कन्ध आदि का उत्पाद कर सकता है। दिव्य पृ० १८६ में कोप से प्रज्वलित नाग के साथ स्वागत के युद्ध का वर्णन है। स्वागत को बुद्ध ने तेजोधातु समाधि के अभ्यास में अग्र घोषित किया था, तेजोधातुं समापद्यमानानामग्रः (अङ्गुत्तर १.२५) कई ग्रन्थों में 'तेजोज्झान' निर्वाण सहगत है। उदान, ८.९. 'प्रिजिलुस्कीन लिजेण्ड, ऑव् अशोक, पृ० २६, महावेस; ५.२२, महावस्तु, १.५५६ आदि।

१. न दिवि भुविवा नास्मिंल्लोके न वैश्रवणालये, न मरुभवने दिव्ये स्थाने न दिक्षु विदिक्षु च।

११२ बी. ध्यान और प्रज्ञा, पूर्व समनन्तर ।[2]

[२३१] वज्रसमाधि[1] के काल में बोधि के पूर्व समनन्तर वह ध्यान और प्रज्ञा पारमिता को परिपूर्ण करता है ।

पारमिता, पारमिता[2] की संज्ञा प्राप्त करती हैं क्योंकि वह अपने-अपने संपद्-संभार की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई हैं ।

चरतु वसुधां स्फीतां कृत्स्नां सपर्वतकाननाम्, पुरुषवृषभ त्वत्तुल्योऽन्यो महाश्रमणः कुतः ॥

अवदानशतक की पोथी में इस प्रकार है—

"पुरुषवृषभ स्तु तुलोन्यो महाश्रमणः कुतुर्वाः ॥"

Meyer इसको शोधते हैं—

"पुरुषवृषभास्तन्यस्तुल्यो महाश्रमणस्तव ।"

तिब्बती भाषान्तर में अन्त में 'कुतः' है ।

व्याख्या (४३२. १३) न दिवि भुवि चेति विस्तरः । दिवि भुवि चेत्युद्देशपदन्यायेनोक्तम् । नास्मिन् लोके न वैश्रवणालये न मरुभवने दिव्ये स्थान इति तद्व्यक्त्यर्थम् निर्देशपदानि । अस्मिन् लोक इति मनुष्यलोके । वैश्रवणालय इति चातुर्महाराजिकस्थाने । मरुभवन इति मरुद्भवने त्रायस्त्रिंशभवन इत्यर्थः । दिव्ये स्थाने यामादिस्थाने ॥ लोकधात्वन्तरेषु अपि तत्सदृशस्याभावज्ञापनार्थमाह न दिक्षु विदिक्षु चेति ॥ अथ न श्रद्धीयते । चरतु कश्चिद् वसुधामिमां कृत्स्नां स्फीतां बहुसत्त्वाध्यासिताम्...स्वयं प्रत्यवेक्षतामित्यभिप्रायः ।

२. समाधिध्योरनन्तरम् ॥

समाधि और प्रज्ञा (=धी) से फलों का प्रतिलाभ होता है । अभिधर्म के अनुसार बोधिसत्त्व पृथग्जन रहते हैं जब तक वह वृक्ष के नीचे आसीन नहीं होते (३.४१)। इस विषय में निकाय एकमत नहीं है जैसा हम वसुमित्र और भव्य के ग्रन्थों से देख सकते हैं । मध्यमकावतार के अनुसार प्रथमभूमि से ही बोधिसत्त्व मिथ्यादृष्टियों का (सत्कायदृष्टि, शीलव्रत, विचिकित्सा का) प्रहाण करता है ।

१. वज्रोपमसमाधि (६.४४ डी) वह समापत्ति है जिससे शैक्ष अन्तिम बन्धनों का समुच्छेद करता है और क्षयज्ञान अनुत्पादज्ञानलक्षणा (यह ज्ञान कि क्लेश क्षीण हो गये हैं, यह ज्ञान कि वह पुनरुत्पन्न न होंगे) बोधि का लाभ करता है । वज्रोपमसमाधि बोधिसत्त्व को बुद्धत्व प्रदान करती है क्योंकि बोधिसत्त्व पारमिताओं को परिपूर्ण करके ही अर्हत्व का अधिगम करता है (६.२४ और २.४४ ए-बी अनुवाद पृ० २०६ देखिये) ।

शुआन्-चाङ् में इतना अधिक है—"वज्रासन पर बैठकर" या बोधिमंड पर बैठकर (मिनयेफ़ रिसर्चेज़ १७७) जिसका वर्णन विभाषा, १३.११, में है । कोश, (३.५३ बी) में इसका उल्लेख है ।

२. 'पारमिता' शब्द के चीनी अनुवादों पर (शावने, सैङ्क सान्त कान्त १, पृ०२) निर्वचनः

सूत्र की शिक्षा है कि तीन पुण्य क्रियावस्तु हैं—दानमय, शीलमय, ध्यानमय। दान, शील और ध्यान पुण्य क्रियावस्तु कैसे हैं?

११२ सी-डी. तीन पुण्यक्रिया और क्रियावस्तु हैं, यथा कर्म-पथ[३] है।

[२३२] यह तीन दान, शील और ध्यान यथायोग पुण्य, क्रिया और वस्तु हैं, किञ्चित् समुदाय हैं, किञ्चित एक हैं। यथा कर्म-पथ या तो कर्म और पथ दोनों हैं या केवल कर्म के पथ हैं।

हम दानमय पुण्यक्रियावस्तु का प्रथम विचार करते हैं। तीन कोटि हैं—१. काय-वाक्-कर्म, जो त्रिविध रूप से पुण्यक्रियावस्तु है। यह पुण्य है क्योंकि इसका इष्ट विपाक है, यह पुण्य-क्रिया है क्योंकि यह कर्मस्वभाव है, यह वस्तु है क्योंकि तत्समुत्थापिका दान-चेतना का वस्तु या अधिष्ठान है। २. दान-चेतना जो पुण्य और क्रिया है। ३. (वेदनादि) धर्म जो काय-वाक् कर्म के सहभू हैं और जो केवल पुण्य हैं।

शीलमय पुण्यक्रियावस्तु एकान्ततः काय-वाक्-कर्म है। यह अवश्यमेव पुण्य, क्रिया और तद्वस्तु है।

ध्यानमय पुण्यक्रियावस्तु के लिये हम मैत्रीभावना (८.३१) का विचार करते हैं—१. मैत्रीभावनापुण्य है। यह पुण्यक्रिया का वस्तु भी है—(पुण्यक्रियायाश्च वस्तु—व्या० ४३३.१८) अर्थात् मैत्रीसम्प्रयुक्त चेतना का वस्तु है क्योंकि इस चेतना का अभिसंस्करण मैत्रीमुख से होता है।[१] २. मैत्रीसम्प्रयुक्त चेतना पुण्य और क्रिया दोनों है। इसी प्रकार ध्यानसंवरसंगृहीतशील भी जिससे मैत्रीभावना का अभ्यास करने वाला पुद्गल समन्वागत होता है, पुण्य और क्रिया दोनों है। ३. (श्रद्धादि) अन्य धर्म जो ध्यान सहभू होते हैं, केवल पुण्य हैं।

मध्यमकावतार, १.१६ ए-बी में चन्द्रकीर्ति (अनुवाद, म्यूसिओं १६०७, पृ० २६ में) एफ. डब्लू. टामस, जे. आर. ए. एस., (१६०४,५४७)।

३. =[पुण्यं क्रिया न तद्वस्तुत्रयम् कर्मपथो यथा ॥]

मध्यम, २.१४; विभाषा, १२६,४; ११२,११; महाव्युत्पत्ति, ६३—दीघ, ३.२१८; अङ्गुत्तर, ४.२४१ दानमयं पुञ्ञकिरियवत्थु, सीलमयं, भावनामयम्।

डायलाग्ज़, २,३४७-४८ में रजिडैविड्स आगम में दान के स्थान की परीक्षा करते हैं। अङ्गुत्तर में "which contains a good deal more of the milk for babes than the other three of the great. निकाय" एक वग्ग दानपर ही है। 'दान' बोधिपाक्षिकों में नहीं है। धम्मपद ने इसकी उपेक्षा की है; किन्तु लक्षण के अनुसार दान की शिक्षा उपासकों के लिये है। ऊपर पृ० ७० और नीचे पृ० २३५ देखिए। किन्तु निर्वाण के लिए दान की उपयोगिता है, ४.११७ डी.।

शालिदान की प्रशंसा महावग्ग, ६.२४५ में और विहारदान की प्रशंसा चुल्ल ६.१.५ में है।

१. मैत्रीमुखेन अभिसंस्करणात्=मैत्रीवशेन अभिसञ्चेतनात्। (व्या० ४३३.१६)।

अथवा पुण्यक्रिया इस पद का अर्थ पुण्य कारण, पुण्य प्रयोग है। दान, शील और ध्यान पुण्यक्रिया के वस्तु हैं क्योंकि इनका सम्मुखीभाव करने के लिये पुण्य का प्रयोग किया जाता है।[२]

[२३३] एक दूसरे मत के अनुसार पुण्यक्रिया यथार्थ में कुशल चेतना है और दान, शील तथा ध्यान इस चेतना के वस्तु हैं।

दान क्या है ?

इसमें सन्देह नहीं कि जो दिया जाता है, जो देय वस्तु है उसे सामान्यत: 'दान' कहते हैं किन्तु यहाँ—

दीयते येन तद् दानं पूजानुग्रहकाम्यया।
कायवाक्कर्म सोत्थानं महाभोगफलञ्च तत् ॥११३॥

११३ ए. दान वह है जो देता है।[१]

किन्तु भय से, प्रतिदान की आशा से, रागादि से, दान की प्रवृत्ति होती है। किन्तु यहाँ इस प्रकार का दान इष्ट नहीं है। इसलिये यथावत् कहने के लिये आचार्य कहते हैं कि 'दान वह है जो देता है।'

११३ बी. पूजा या अनुग्रह की कामना से[२] जो देता है वह क्या है ?

११३ सी. यह काय-वाक्-कर्म है और वह जो इस कर्म का समुत्थान करता है।[३] चित्त-चैत्त का एक कलाप काय-कर्म या वाक्-कर्म का उत्थान करता है। यह कलाप और यह कर्म देते हैं। जैसा कि इस श्लोक में कहा है—"जब एक पुद्गल कुशल मन से स्व का दान देता है तब कहा जाता है कि कुशलस्कन्ध देते हैं।"[४]

११३ डी. इसका फल महाभोग है।[५]

---

२. शुआन्-चाङ्: "अथवा 'पुण्यक्रिया' का अर्थ 'पुण्य करना' अर्थात् पुण्य प्रयोग है। वस्तु शब्द का अर्थ आश्रय अधिष्ठान है। दान, शील और ध्यान वस्तु हैं। वह पुण्य प्रयोग के आश्रय हैं क्योंकि दान, शील और ध्यान का सम्मुखीभाव करने के लिये पुण्य का प्रयोग होता है।"

१. दीयते येन तद् दानम्।—कथावत्थु, ७.४ में थेरवादिन् का कहना है कि जो दिया जाता है, वही दान है।

२. पूजानुग्रह काम्यया—दान देने से चैत्यों की पूजा परिनिर्वृतों की पूजा होती है।

३. =[कायवाक् कर्मसोत्थानम्]

४. चीनी अनुवादक—"इस क्षण के कुशल स्कन्ध देते हैं...।" दान का काय-वाक् कर्मरूप है। चित्त-चैत्त चार अरूपी स्कन्ध हैं।

५. =[तत् महाभोगवत् फलम् ॥]

दानमय पुण्यक्रियावस्तु का फल महाभोग है।

[२३४] तद्धित प्रत्यय 'मय' को स्वभाव के अर्थ में समझना चाहिये, जैसे कहते हैं 'तृणमयगृह', पर्णमय भाजन'।[1]

स्वपरार्थोभयार्थाय नोभयार्थाय दीयते।
तद्विशेषः पुनर्दातृवस्तुक्षेत्रविशेषतः ॥११४॥

११४ ए-बी. स्वार्थ के लिये, परार्थ के लिये, उभयार्थ के लिये, दोनों में से किसी के अर्थ के लिये भी नहीं, दान होता है।[2]

चैत्य को दिया हुआ दान दूसरे के लिये उपयोगी नहीं है, किन्तु यह उस दायक के लिये उपयोगी होता है जो सराग (अवीतराग, अविरक्त) आर्य है या वीतराग या अविरक्त पृथग्जन है—(देखिये, ४.१२१)।

जिस दान को वीतराग आर्य दूसरे को देता है वह दृष्टधर्मवेदनीय दान को वर्जित कर इस आर्य को उपयोगी नहीं है क्योंकि वीतराग आर्य ने उस धातु (कामधातु) का अत्यन्त समत्तिक्रमण किया है जो अपर जन्म में दानविपाक की भूमि हो सकता था। यह दान केवल परार्थ है।

जिस दान को अवीतराग आर्य, वीतराग या सराग पृथग्जन दूसरे को देता है वह स्वार्थ और परार्थ दोनों है।

जो दान वीतराग आर्य चैत्य को देता है वह दृष्टधर्मवेदनीय दान को छोड़कर न उसके लिये उपयोगी है, न दूसरे के लिये उपयोगी है। इस दान का एकमात्र कार्य वन्दना और पूजा है।

हमने सामान्यतः कहा है कि दान महाभोग का उत्पाद करता है।

११४ सी-डी. दानपति, दानवस्तु और क्षेत्र की विशेषता से दान विशिष्ट होता है।[3]

महाभोग और अन्यत्र उदारभोग—इसका अर्थ यह हो सकता है "पिण्डपात चीवरादि का महाभोग" या "महत् कायगुणों का भोग।" अङ्गुत्तर, पृ० ३९३ देखिये।

१. स्वभावे चैषमयड् इति न विकारादिषु—गृह निर्विकार तृणमात्र है। यह तृण का विकार नहीं है।—श्रुतमयी प्रज्ञा (६.५ सी.) में 'मय' का भिन्न अर्थ है।

२. =स्वपरार्थोभयार्थाय [नोभयार्थाय दीयते।]

३. =[तद्विशेषो दानपतिवस्तुक्षेत्रविशेषतः ॥]

कथावत्थु, १७.११ उत्तरापथकों का मत है कि दायक, न कि क्षेत्र, दान को 'विशुद्ध' करता है।

कर्मप्रज्ञप्ति [द (सूत्र का विभाग) फोलिओ २४६ बी.]—"दान चार हैं—वह जो दानपति के कारण विशुद्ध है, वह जो प्रतिग्राहक के कारण अशुद्ध है, और अन्य यथा सङ्गीति

दाता विशिष्टः शुद्धाद्यै सत्कृत्यादि ददात्यतः ।
सत्कारोदाररुचिता कालानाच्छिद्यलाभिता ॥११५॥

[२३५] ११५ ए. श्रद्धादि के कारण दाता विशिष्ट होता है ।[1]

दानपति विशिष्ट होता है जब वह श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग, प्रज्ञा, अल्पेच्छता आदि गुण से युक्त होता है । जब दानपति विशिष्ट होता है तब दान विशिष्ट होता है और जब दान विशिष्ट होता है तब उसका फल विशिष्ट होता है ।

११५ बी. वह सत्कारादिपूर्वक देता है ।[2]

ऐसा दानपति सत्कारपूर्वक (सत्कृत्य) देता है, अपने हाथ से (स्वहस्तेन) देता है, समय से (काले) देता है, दूसरों का उपघात किये बिना (परानुपहत्य; मिलिन्द २७६ से तुलना कीजिये) देता है ।

११५ बी-डी. उससे वह सत्कार, उदारभोग, उपयुक्त काल में, अच्छेद्य रूप में, प्राप्त करता है ।[3]

जो दानपति सत्कारपूर्वक दान देता है वह सत्कारलाभी होता है । जो स्वहस्तदाता होता है उसकी उदारभोगों में रुचि होती है—(उदारेभ्यो भोगेभ्यो रुचिं लभते) । कालदाता इन भोगों का लाभ समय से करता है, जब उनका समय अतिक्रान्त नहीं होता । जो बिना दूसरों का उपघात किये देता है वह अनाच्छेद्य भोग का लाभ करता है, उसके भोग अग्नि आदि से विनष्ट नहीं होते ।

हमने बताया है कि दानपति की विशेषता किसमें है और किस प्रकार दानपति की विशेषता से दान विशिष्ट होता है । दानवस्तु कैसे विशिष्ट है ?

पर्याय में ।"—कथावत्थु के रचयिता के इस सूत्र को उद्धृत किया है—दीघ, ३.२३१; अङ्गुत्तर, २.८०; मज्झिम ३.२५६ (दक्खिणाविभङ्गसुत्त); ४.१२१ सी-डी. देखिये ।

१. = [श्रद्धादिविशिष्ये दाता] (मा ४३४.१४) ।

२. = सत्कृत्यादि ददाति [हि] ।

दीघ, २.३५७—सक्कच्चं दानं, सहत्था, चित्तिकतं, अनपविद्धं दानं ।

"दानकथा, शीलकथा और स्वर्गकथा" पर ऊपर पृ० ७० देखिये—दानकथा का एक उदाहरण अङ्गुत्तर, ४.३९३ में है । इस प्रकार के साहित्य में विमानवत्थु का संग्रह है (मिनयेफ़, रिसर्चेज़, १६५)—दिव्यावदान, ३४ महायान का ग्रन्थ है (दान के ३७ गुण—काले... सत्कृत्य...) ।

३. = [सत्कारातुदारात् काले] ऽनवच्छेद्यान् लभते ततः ॥

वर्णादि संपदा वस्तु सुरूपत्वं यशस्विता ।
प्रियता सुकुमारे तु सुखस्पर्शांगता ततः ॥११६॥

[२३६] ११६ ए. वर्णादि सम्पन्न वस्तु[1] "विशिष्ट है", यह वाक्यशेष है।

वस्तु विशिष्ट होती है जब दान में दी हुई वस्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य से सम्पन्न होती है।

ऐसे वस्तु के दान से दाता को क्या लाभ होता है?

११६ बी-डी. उससे सुरूपता, कीर्ति, रति, शरीर की अतिसुकुमारता और ऋतुसुखस्पर्श।[2]

जो वर्णसम्पन्न वस्तु का दान करता है, वह सुरूप होता है; जो गन्धसम्पन्न वस्तु का दान करता है उसकी कीर्ति चारों ओर फैलती है, जैसे गन्ध फैलता है; जो रस सम्पन्न वस्तु का दान करता है वह अभिरत होता है, जैसे मृदु रस; जो स्पर्शसम्पन्न वस्तु का दान करता है उसका शरीर अति सुकुमार होता है, जैसे चक्रवर्तिन् के स्त्रीरत्न और उसके अङ्ग का सुखस्पर्श होता है। यह ऋतु के अनुसार उष्ण या शीत होता है—(ऋतुसुखस्पर्शानि चास्याङ्गानि—व्या० ४३४.१६)।

क्षेत्र कैसे विशिष्ट होता है?

गतिदुःखोपकारित्वगुणैः क्षेत्रं विशिष्यते ।
अग्र्यं मुक्तस्य मुक्ताय बोधिसत्वस्यचाष्टमः ॥११७॥

११७ ए-बी. गति, दुःख, उपकार और गुण के कारण क्षेत्र विशिष्ट होता है।[3]

गति के कारण विशिष्ट क्षेत्र—भगवत् ने कहा है—"तिर्यक् को दिये दान का विपाक अवश्यमेव सौगुना होता है। दुःशील मनुष्य को दिये हुए दान का विपाक अवश्यमेव १००० गुना होता है।"[4]

---

१. वर्णादिसम्पन्नवस्तु—आशय का महत्त्व है न कि दानवस्तु का, उदाहरणार्थ ह्यूबर सूत्रालङ्कार, पृ० १२२ मिनयेफ़, पृ० १६७ के नीचे देखिये—"निर्धन जो श्रद्धा से समन्वागत है।"

२.=[सुरूपः कीर्तिमान् रतः। अतिसुकुमार ऋतुसुखस्पर्शाश्रयस्ततः॥] अङ्गुत्तर, ३.५० मनापदायी लभते मनापं।

३. गतिदुःखोपकरणगुणैः क्षेत्रं विशिष्यते।

४. यह सूत्रकोश, ३.४१ के अन्त में उद्धृत है। मज्झिम, ३.२५५ से तुलना कीजिये—तिरच्छानगते दानं दत्वा सतगुणा दक्खिणा पातिकं खितत्वा, पुथुज्जन दुःशीले... सहस्सगुणा...।

[२३७] दुःख के कारण विशिष्ट क्षेत्र—सात औपधिक पुण्यक्रियावस्तुओं में भगवत् इन दानों को गिनाते हैं—ग्लान को दिया दान, ग्लान-उपस्थापक को दिया दान, शीतलिकादि[१] के समय दिया दान—और कहते हैं कि "जो कुलपुत्र या कुलदुहिता इन सात औपधिक पुण्यक्रियावस्तुओं से समन्वागत होती है उसके पुण्य का प्रमाण कोई नहीं कह सकता।"

उपकार के कारण विशिष्ट क्षेत्र—माता को दिया दान, पिता को दिया दान (दिव्य, पृ०५२), स्वामी को दिया दान, अन्य उपकारियों को दिया दान। उदाहरण—ऋक्ष-मृग-जातक आदि।[२]

गुणों के कारण विशिष्ट क्षेत्र[३]—भगवत् ने कहा है—"शीलवान् को दान देकर शतसहस्र विपाक होता है...एवमादि।

---

१. वसुबन्धु यहाँ छठे और सातवें "औपधिक पुण्यक्रियावस्तु" का उल्लेख करते हैं (ऊपर पृ० १५ देखिये) ५. आगन्तुकायगतिकाय वा दानं ददाति। इदं पञ्चमम्...६...ग्लानाय ग्लानोपस्थापकाय वा दानं ददाति...७...यास्ता भवन्ति शीतलिका वा वातलिका वा वर्षलिका वा तद्रूपासु शीतलिकासु यावद् वर्षलिकासुभक्तानि वा तर्प्याणि (तर्पणानि) वा यवागूपानानि वा तानि सङ्घायाभिर्निर्हृत्य अनुप्रयच्छति। इदमार्या अस्माकम् अनार्द्रमात्रा अनभिवृष्टचीवराः परिभुज्य सुखं स्पर्शम् विहरन्तु। इदं चुन्दसप्तममौपधिकम् पुण्यक्रियावस्तु—कोश के जापानी सम्पादक के अनुसार मध्यम २.४ कुछ भिन्न है।

शुआन्-चाङ् के संस्करण में है—"७ औपधिकपुण्यकियावस्तुओं में वह कहते हैं कि आगन्तुक, गमिक, ग्लान, ग्लानोपस्थायक, उपाधिवादिक को दान देना चाहिये; जो शीत से पीड़ित है उस गात्र को उष्णकर उसके शीत का अपनयन करना चाहिये।" इसलिये शुआन्-चाङ् आत्यभिक पिंज्यातों (दिव्य, ५०, बर्नूफ़' ८६६; छठा संस्कारण,वीलर, वाएव्रागे, २६६) के ५ उपकारक को गिनाते हैं—आगन्तुक भिक्षु, गमिक भिक्षु, जो रोगी है, जो रोगी का उपस्थापक है, (महावग्ग की सूची ८.१५.७; अङ्गुत्तर, ३.४१ से तुलना कीजिये) और उपधिवादिक, "विहार का रक्षक" (इस पर हमको पर्याप्त सूचना नहीं है)। (महाव्युत्पत्ति, २७४.१२); दिव्य, ५४'५४२; सिलवांलेवी केल्क तित्र ज़ुनिग्मातीक...जे. ए. एस. १९१५, २.१९३)।

हमारे सूत्रों में "निर्धनों" के विषय में बहुत कम दिया है।—महाकाश्यप, निर्वाण के अवदान में हैं—"गाँव की गलियों में दुर्भाग्यशील कष्ट में हैं और दुर्बल हैं। यह सदा इन अकिञ्चनों पर कृपा करता था और उनकी सहायता करता था। अब इन भाग्यहीनों के समुदाय का रक्षक जाता रहा।"

२. ऋक्ष का हवाला ह्यूबर सूत्रालङ्कार, पृ० ३८३ में है।—व्याख्या में है कि ऋक्ष ने एक पुद्गल को गुहां प्रविश्य गात्रोष्मशीतापनयन बचाया; 'विभाषा (११४.९) के अनुसार —"कहते हैं कि एक पुरुष वन में खोजते हुए हिम में रास्ता भूल गया..."।—मृग ने एक डूबते पुरुष को नदी पार कराया, उह्यमाननद्युत्तारणेन...उपकारिन्।

३. मज्झिम ३.२५३ या गौतमीसूत्र, (सङ्घभद्र), २३, ४, फ़ोलियो ८६ का अर्थ कठिन

[२३८] ११७ सी. सब दानों में युक्त का मुक्त के लिये दान श्रेष्ठ है ।[१]

वीतराग (विरक्त) पुरुष का वीतराग पुरुष को दिया दान, भगवत् कहते हैं, आमिष दानों में श्रेष्ठ है ।

११७ डी. बोधिसत्त्व का दान[२] अथवा वह दान जिसे बोधिसत्त्व सब प्राणियों के हित-सुख के लिये देते हैं । यह दान यद्यपि अविरक्त पुरुष का अविरक्त पुरुष को दिया दान है तथापि यह श्रेष्ठ दान है ।

है । महाप्रजापती बुद्ध को वस्त्रयुगल (दुस्सयुग) देती है । भगवान् यह कहकर प्रतिग्रह नहीं करते—"हे गौतमी, इसे सङ्घ को दो । सङ्घ को देने से तुम मेरी भी पूजा करोगी और सङ्घ की भी ।" इस वचन से तथा अन्य वचनों से जहाँ सङ्घ को (चार युग या ८ 'आश्रय' अर्हत्...स्रोत आपन्न फल प्रतिपन्नक) श्रेष्ठ पुण्यक्षेत्र बताया है (दीघ, ३.२५५, सुत्तनिपात्त, ५६९ आदि) कुछ वादी यह परिणाम निकालते हैं कि सङ्घ को दिया हुआ दान, न कि बुद्ध को दिया हुआ दान पुण्य का प्रसव करता है । सङ्घभद्र इस वाद का प्रतिषेध करते हैं । [बुद्ध श्रेष्ठ क्षेत्र है, मज्झिम, ३.२५४; कोश, ७.३४; दिव्य; ७१; शावने, सैङ्क सान्त कान्त, १.३९४ —किन्तु वसुमित्र-भव्य-विनीतदेव में (वासीलीफ़, २५१, २९३) ।

महीशासकों का मत (सङ्घ को दिया हुआ दान प्रभूत फल का देनेवाला है । बुद्ध को दिया हुआ दान नहीं । स्तूप वन्दना कम फलदायक है) धर्मगुप्तों का मत (बुद्ध को दिया हुआ दान प्रभूत फल का देनेवाला है, सङ्घ को दिया दान नहीं) । इसी से एक मिला हुआ प्रश्न—क्या बुद्ध सङ्घ में संगृहीत हैं ।]

जब कोई बुद्ध और सङ्घ की शरण में जाता है तब वह बुद्धकर सङ्घकर शैक्ष और अशैक्ष धर्मों की शरण में जाता है (कोश, ४.३२) । किन्तु शैक्ष और अशैक्षधर्मों को दान नहीं दिया जा सकता, केवल 'पुद्गलों' को दिया जा सकता है । इसलिये बुद्ध और सङ्घ को दिया हुआ दान फलप्रद नहीं होता—कथावत्थु १७. ६-१० में और उसी स्थान पर सङ्घभद्र द्वारा इस वाद पर विचार विमर्श हुआ है । [आर्यों के धर्म तथा ८ पुद्गल जो इन धर्मों के भाजनभूत हैं, परमार्थ सङ्घ कहलाते हैं—पुद्गल धर्मों की शरण में जाते हैं किन्तु दान पुद्गलों को दिया जाता है ।]

१.—[श्रेष्ठं मुक्तस्य मुक्ताय]

मध्यम, ४७.१४ के अनुसार—दिव्य में सामान्य उपहार के कारण आमतौर अर्हत् होते हैं ।

मज्झिम, ३.२५७—यो वीतरागो वीतरागेसु ददाति...तं वे दानमाभिसदानं विपुलं ति ब्रूमि ।

२. [बोधिसत्वस्य च]—बोधिसत्वदान सम्यक् सम्बोधि और सब सत्त्वों के हित-सुख के लिये होता है ।

[२३९] बोधिसत्त्व दान को छोड़कर ।

११७ डी. आठवाँ—[1] भगवदुपदिष्ट ८ दानों में अष्टम ।

८ दान कौन हैं ?.[2]—१. आसद्यदान; २. भय के कारण दान; ३. 'इसने मुझे दिया है इसलिये' दान (अदान् में दानमिति दानम्—व्या. ४३४-३१); ४. 'यह मुझे दान देगा (दास्यति) इसलिये' दान; ५.' मेरे पिता और पितामहों ने पूर्व दिया था इसलिये' दान (दत्त पूर्व में पितृभिश्च पितामहैश्चेति दानम्—व्या० ४३५-१), (जातक ४४४,५२ Vol ४.३४ से तुलना कीजिये); ६. स्वर्गार्थदान; ७. कीर्ति के लिये (कीर्त्यर्थम्) दान; ८. चित्त के अलङ्कार के लिये दान (चित्तालङ्कारार्थम्—अर्थात् ऋद्धियों के लाभ के लिये, ७.४८); चित्त के परिष्कार के लिये दान व्या० ४३५·३ चित्तपरिष्कारार्थम् (व्या० ४३५-४) [मार्गाङ्गों; के ६.६७ बी]; योगसम्भार के लिये दान (योग सम्भारार्थम्=निदानार्थम्, व्या० ४३५·५); उत्तमार्थ की प्राप्ति के लिये दान (उत्तमार्थस्य प्राप्तये व्या० ४३५.६ अर्थात् अर्हत्व या निर्वाण की प्राप्ति के लिये)।

आसद्यदान का क्या अर्थ है ?—पूर्वाचार्य इसका निरूपण इस प्रकार करते हैं—जो सन्निकृष्ट हैं उनके समीप जाकर उसी मुहूर्त में देना ।[3]

[२४०] भय के कारण दान वह दान है जो एक पुद्गल यह देखकर देता है कि अर्थ का नाश होने जा रहा है। वह विचार करता है कि "अच्छा हो इसे दान में दे दें।"[1]

सूत्र का कहना है (मध्यम, ४७,३)—"स्रोत-आपन्न-फलप्रतिपन्नक को दिया हुआ दान अप्रमेय विपाक का देने वाला होता है। स्रोत आपन्न को दिये हुए दान से अप्रमेयतर विपाक

---

१. [अष्टमम् ॥]

२. दीघ ३·२५८, ८ दानवत्थु: १-४ वही हैं जो हमारे ग्रन्थ में उल्लिखित हैं; ५ और ६ भिन्न हैं (साहुदानं ति दानं देति। 'अहं पचामि. इमे न पचन्ति...); ७. इदं मे दानं ददतो कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुपगच्छति; ८ चित्तालङ्कार चित्तपरिक्खा इत्थम् दानं देति ।

अङ्गुत्तर, ४.२३६ की दानवत्थुओं की सूची में हमारी सूची के नं० ५ और ६ है—दिन्नपुब्बं कटपुब्बं पितुपितामहेहि न अरहामि। पोराणं कुलवंसं हापेतुं ति दानं देति।... दत्वा...सग्गलोक मुपपज्जिस्सामि...।

३. परमार्थ—"आसन्न और सन्निकृष्ट को दान"—शुआन्-चाङ्—"जैसे कोई उपगत हो उसी मुहूर्त में उसे दान देना"—आसज्ज=उपगन्त्वा (जातक ५, पृ० ३४२) अङ्गुत्तर ४,२३६ की अर्थकथा (स्यामी संस्करण)—आसज्जदानं देतीति मत्वा दानं देति आगतं दिस्वावतं मुहुत्तं श्रेव निसीदायेत्वा सक्कारं कत्वा दानं देति ।

१. अङ्गुत्तर की अर्थकथा—भवाति अयं अदत्य को अकारकोति गदहाभया अपायभया वा ।

प्रवृत्त होता है।" किन्तु ५ पुद्गल ऐसे भी हैं जो पृथग्जन होते हुए भी दी हुई दक्षिणा को अप्रमेयविपाक का बनाते हैं।

मातापितृग्लानधर्मकथिकेभ्योऽन्त्यजन्मने ।
बोधिसत्वाय चामेया अनार्येऽयेऽपि दक्षिणाः ॥११८॥

११८. यद्यपि यह आर्य नहीं हैं तथापि पिता, माता, ग्लान, धर्मभाणक और चरमभविक बोधिसत्त्व को दी हुई दक्षिणा अप्रमेय है।[2]

विपाक की दृष्टि से यह दक्षिणा अप्रमेय है।

'अन्त्यजन्मन्' बोधिसत्त्व से आचार्य का आशय 'चरमभविक' बोधिसत्त्व से है।

धर्मभाणक किस पक्ष का है? चतुर्विध क्षेत्र-विशेष में इसको कहाँ स्थान देना चाहिये? वह उपकारक पक्ष का है। वह मोहान्ध जन-समुदाय को प्रज्ञचक्षु प्रदान करता है। वह सम (=धर्म) और विषम (=अधर्म) को प्रकाशित करता है (प्रकाशयितृ)।[3] वह अमल धर्मकाय की प्रशंसा करता है।[4] एक शब्द में वह बुद्ध के सब कर्मों को सम्पन्न करता है। इसलिये वह महाकल्याण मित्र है।

[२४१] कर्मों की लघुता और गुरुता जानने के लिये मुख्यतः ६ हेतुओं का विचार करना चाहिए—

पृष्ठं क्षेत्रमधिष्ठानं प्रयोगचेतनाशयः ।
एषं मृद्वधिमात्रत्वात् कर्ममृद्वधिमात्रता ॥११९॥

११९. पृष्ठ, क्षेत्र, अधिष्ठान, प्रयोग, चेतना, आशय—जैसे यह हेतु अल्प या महत् होते हैं वैसे कर्म भी अल्प या महत् होता है।[1]

पृष्ठ :—कृत का अनुकरण।[2]

---

२. [मातापितृभ्यां ग्लानाय भाणकायान्सजन्मने]।
बोधिसत्वाय चामेया अनार्येभ्योऽपि दक्षिणाः ॥
यह दूसरी पङ्क्ति व्याख्या, २ के अन्त में उद्धृत है।

३. जापानी सम्पादक के अनुसार—'सम' वह जो दिव्यजन्म का उत्पाद करता है—'विषम' वह जो दुर्गति का उत्पाद करता है।

४. तिब्बतीभाषान्तर = धर्मभाणक, महाव्युत्पत्ति, १३८,५, शुग्रान्-चाङ्—उसके कारण सत्वों के अनास्रव धर्मकाय का उत्पाद करते हैं। परमार्थ—"वह धर्मकाय का उत्पाद करता है।"—ऊपर पृ० ७७ देखिये।

१. [पृष्ठं क्षेत्रं अधिष्ठानं प्रयोगश्चेतनाशयः।
तदल्पमहत्त्वादल्पमहत्त्वमपि कर्मणः।]

२. कृतानुकरण।

क्षेत्र—जिसमें कुशल या अकुशल किया जाता है।

अधिष्ठान—मौल कर्म-पथ।

प्रयोग—पूर्व की दृष्टि से काय या वाक्-कर्म।

चेतना—जिससे कर्मपथ की निष्ठा होती है।

आशय—यह आक्षेप कि "मैं उसको यह वा वह करूँगा, मैं पीछे यह या वह करूँगा।[३]"

ऐसा होता है कि जब नियत विपाक-दान का अवस्थान होता है (विपाक नैयम्या-वस्थानम्—व्या० ४३५.१२) तब पृष्ठ-परिग्रह से ही (पृष्ठपरिग्रहादेव) कर्म गुरु होता है। कोई कर्म क्षेत्र-विशेष से ही गुरु होता है—पितृघात सामान्य प्राणातिपात से गुरु है। उसी क्षेत्र में एक अधिष्ठानवश कर्म गुरु हो जाता है और दूसरे अधिष्ठानवश लघु हो जाता है। यथा माता-पिता का प्राणातिपातन गुरु कर्म है किन्तु माता-पिता का द्रव्यापहरण कर्म, उनसे मृषावादादि, उनके वध के समान गुरु नहीं हैं। इसी प्रकार प्रयोगादि अन्य की भी योजना करनी चाहिये।[४]

[२४२] जब यह सब हेतु महत् होते हैं तो कर्म अति गुरु होता है। जब यह अल्प होते हैं तो कर्म अति लघु होता है।

'कृत' और 'उपचित' कर्म में भेद करते हैं।[१] उपचित कर्म के लक्षण और प्रत्यय क्या हैं?

संचेतनसमाप्तिभ्यां निःकौकृत्यविपक्षतः।
परिवारविपाकाच्च कर्मोपचितमुच्यते ॥१२०॥

---

३. शुआन्-चाङ्—सर्वप्रयोग—"मुझे ऐसा-ऐसा करना चाहिये; मैं ऐसा-ऐसा करूँगा।" सम्पादक की टिप्पणी—"यह विप्रकृष्ट प्रयोग है।"

४. वस्तुवश (वत्थुवसेन) मृषावाद गुरु या लघु होता है। इस पर मिलिन्द खण्ड से तुलना कीजिये। इसी प्रकार जब पशु क्षुद्र होता है तब प्राणातिपात का महत्त्व नहीं होता—अत्थसालिनी, पृ० ९७।

१. परमार्थ और शुआनचाङ् के अनुसार—"सूत्र कहता है कि कर्म दो प्रकार के हैं—'कृत' कर्म, 'उपचित' कर्म।" जापानी सम्पादक के अनुसार यह सूत्र कर्मविपाकविभङ्गसूत्र (?) है—कोश ५.१ देखिये। मज्झिम ३.२०७ सञ्चेतनिकं...कम्मं कत्वा...किं सो वेदयति—अङ्गुत्तर, ५.२९२ नाहं सञ्चेतनिकानं कम्मानं कतानं उपचितानं अप्पटिसंविदित्वा व्यन्तिभावं वदामि।—दिव्य—न कर्माणिकृतान्युपचितानि पृथिवीधातौ विपच्यन्ते; कथावत्थु १५.११ मध्यमकवृत्ति पृ०३०३। वेदान्त के बाद के लिये जी० ए० जैकब, वेदान्तसार, बम्बई १९११, पृ० १६० में दी हुई सूचनाएँ देखिये (सञ्चितकर्मन् = उपचित क्रियमाणानि कर्माणिआरब्धफलानि कर्माणि)।

१२०. सञ्चेतना, समाप्तत्व, अकौकृत्य, अप्रतिपक्ष, परिवार और विपाक के कारण कर्म 'उपचित' कहलाता है।[२]

सञ्चेतनात—जो कर्म स्वेच्छा से या बुद्धिपूर्वक (सञ्चिन्त्य)[३] किया जाता है वह उपचित होता है। जो कर्म अबुद्धिपूर्वक[४] किया गया है या स्वेच्छा से नहीं किया गया है वह उपचित नहीं होता। सहसा किया कर्म (सहसाकृतम्) यद्यपि बुद्धिपूर्वक उपचित नहीं होता।

[२४३] समाप्तत्व के कारण—कोई एक दुश्चरितवश दुर्गति को प्राप्त होते हैं, कोई दो के कारण, कोई तीन के कारण (काय, वाक्, मनो दुश्चरित), कोई एक कर्म-पथ के कारण, कोई दो के कारण, कोई तीन...कोई १० के कारण। जो जिस प्रमाण के कर्म से दुर्गति को प्राप्त होता है यदि उस कर्म का प्रमाण असमाप्त रहे तो कर्मकृत है, उपचित नहीं। समाप्त होने से उपचित होता है।[१]

---

२. संचेतना समाप्तत्वा कौकृत्याप्रतिपक्षतः।
परिवारविपाकाच्च कर्मोपचितमुच्यते॥

ऊपर पृ० ११४ देखिये।

३. सञ्चित्य = सञ्चिच्च, महाव्युत्पत्ति, ४४५, ६८—मनु ११:९० में 'अकामतः' (यह असञ्चिन्त्य से बहुत मिलता है) ब्राह्मण का प्राणातिपात करने के लिये प्रायश्चित्त का विधान है, कामतः प्राणातिपात का प्रायश्चित्त नहीं है।

४. व्याख्या—नाबुद्धिपूर्वम् न सहसाकृतमिति। अथवा ना बुद्धिपूर्वम् कृतमिदम् कुर्य्यामिति असञ्चिन्त्य कृतम्। तन्त्तोपचितम्। अव्याकृतं हितकर्म। न सहसा कृतमिति बुद्धिपूर्वमपि न सहसाकृतम्। यदभ्यासेन भाष्याक्षेपान् मृषावादाद्यनुष्ठानम् कृतं तन् अकुशलं न पुनरुपचितम्—"अथवा यों समझना चाहिए—अबुद्धिपूर्वकर्म अर्थात् वह कर्म जो यह करूँगा इस बुद्धि के बिना ही किया है—उपचित नहीं होता क्योंकि यह कर्म अव्याकृत है। सहसा कृतकर्म, चाहे वह बुद्धिपूर्वक ही क्यों न हो, उपचित नहीं होता। यथा भाष्याक्षेप से अभ्यासवश मृषावाद का अनुष्ठान होता है। यह अकुशल कर्म किया जाता है किन्तु यह उपचित नहीं होता।"—यह भाष्याक्षेप के कारण है कि एक ग्रन्थकर्ता एक अभ्यासगणना के उन शब्दों को भी दुहराता है जिनके लिये वहाँ स्थान नहीं है। (२ अनुवाद, पृ० २५९ देखिये)।

व्याख्या, उपचित कुशलकर्म के लक्षणों का व्याख्यान करते हुए कहती है—एवं कुशलमपि योज्यमिति। कथं सञ्चेतनातः। सञ्चिन्त्य कृतं भवति। नाबुद्धिपूर्वकृतं भवति तद्यथा अव्याकृतचित्तेन पाषाणं ददामीति सुवर्णपिण्डं दद्यात् कृतं तन्न पुनरुपचितम्। अव्याकृतं हि तत् कर्म, न सहसाकृतम्। यथा, भाष्याक्षेपात् सत्यवचनम्, कृतंतत् कुशलं न पुनरुपचितम्।

१. कश्चिदेकेन दुश्चरितेन दुर्गतिं याति कश्चिद्यावत् त्रिभिः। कश्चिदेकेन कर्मपथेन कश्चिद् यावद् दशभिः। न च यो यावतः गच्छति तस्मिन्नसमाप्ते कृतम् कर्मतोपचितम् समाप्ते तूपचितम्—अङ्गुत्तर। १.२४९ से तुलना कीजिये; ऊपर ४·५० की टिप्पणी।

कौकृत्य और प्रतिपक्ष के अभाव के कारण—जब विप्रतिसार (अनुताप, २.२८) का अभाव होता है जब प्रतिदेशनादि प्रतिपक्ष का अभाव होता है।[2]

[२४४] परिवार-वश—जब कर्म अकुशल होता है और उसका अकुशल परिवार होता है (अकुशलमकुशलपरिवारं च—व्या० ४३५.२५) जब वह कर्म करके अनुमोदन करता है।

विपाक-वश—वह कर्म उपचित होता है जिसका विपाक-दान नियत है (विपाकदाने नियतम्—व्या० ४३५.२६) (४.५०)।

इसी प्रकार कुशल कर्म की योजना करनी चाहिये।

---

२. प्रतिदेशनादिप्रतिपक्षाभावत:।

विरति से (संवर-समादान)' मैत्रीभावना से 'पापस्स कम्मस्स समतिक्कमो' 'पापकर्म का अतिक्रमण' होता है, संयुत्त ४.३१७। प्रातिमोक्ष (फिनो, जे. ए. एस. १९१३,२.१६) जिसे दोष कहते हैं, उसको आविष्कृत करना चाहिये। आविष्कृत होने 'से वह शान्त होता है...” आविष्कृतवास्य फाषं भवति...(ऊपर ४.३९, पृ० ९८, टि० २) और तूष्णींभाव से मृषावाद पर ४ पृ० १६३ देखिये। पातिमोक्ख विनय टेक्स्ट्स, १.२ में और चुल्ल ९.१.४ में (विनय टेक्स्ट्स, ३.३०५ टि० १) महायानप्रतिदेशना, बोधिसत्वभूमि *I*, *X*.

दिव्य—“अत्यय की अत्ययत: प्रतिदेशना करो (अत्ययं अत्ययतो देशय), यह कर्म तनु होगा, परिक्षीण होगा, विनष्ट होगा” (अप्येवैतत् कर्म तनुत्वं परिक्षयं पर्यादातं गच्छेत) [मज्झिम, ३.२४७ यतो...अच्चयमच्चयतो दिस्वा यथाधम्मं पटि करोति तन्ते मयं परिगण्हाम: दीघ १.८५; अङ्गुत्तर, १.२३८, बर्नूफ् इन्ट्रोडक्शन, पृ० २९९; बोधिचर्यावतार २.६६ आदि] अपने पाप की प्रतिदेशना कर (एक अर्हत् की अवमानना कर जिसके अर्हत् की उसने उपेक्षा की) दिव्य, ५४—५५ का 'वैयावृत्यकार' नरक का परित्याग करता है किन्तु ५० बार दासपुत्र होकर जन्म लेता है।

शिक्षासमुच्चय, १६० और बोधिचर्यावतार, ५.९८ चतुर्धर्मकसूत्र उद्धृत करते हैं जहाँ वह चार धर्म बताए गये हैं जिनसे बोधिसत्व कृत और उपचित पापकर्म को अभिभूत करता है—विदूषणासमुदाचार (विप्रतिसार), प्रतिपक्षसमुदाचार (कुशलकर्म का अनुष्ठान), प्रत्यापत्तिबल (संवर समादान या विरति), आश्रय बल (बुद्धादिशरणगमन)।—सद्दशवाद, सुभाषित संग्रह में।

थेरगाथा, ८७२ =धम्मपद, १७३ पापंकतं कम्मं कुसले न पिथीयति।

केवल 'तथागत प्रसाद' “उन अकुशल धर्मों को” प्रक्षालित कर सकता है “जिन्हें मार ने बुद्ध में अवरोधित किया है” (पोथियों के अनुसार यह पाठ है—बुद्धावरोपितानां अकुशलानां धर्माणां...प्रक्षालनम्)—बुद्ध के प्रति मार की श्रद्धा और भक्ति उसके सब वृजिनों को प्रक्षालित करती है—दिव्य, ३५९।

जिस कर्म के यह लक्षण नहीं है वह कृत है किन्तु उपचित नहीं है। हमने देखा है (४.११४ ए) कि सराग पुद्गल द्वारा चैत्य को दिये हुए दान का उसके लिये उपयोग होता है जिसने दान दिया है। किन्तु कोई पुद्गल दान-वस्तु का उपभोग नहीं करता। यह दान कैसे पुण्य हो सकता है?

दान का पुण्य दो प्रकार का है—१. त्यागान्वय पुण्य, वह पुण्य जो त्यागमात्र से प्रसूत होता है। २. परिभोगान्वय पुण्य, वह पुण्य[1] जो प्रतिग्रहीता द्वारा दानवस्तु के भोग से प्रसूत होता है।

चैत्ये त्यागान्वयं पुण्यं मैत्र्यादिवद् अगृह्णाति।
कुक्षेत्रेऽपीष्टफलता फलबीजाविपर्ययात् ॥१२१॥

१२१ ए. चैत्य को दिये हुए दान का पुण्य त्यागान्वय पुण्य है।[2]

[२४५] जब कोई प्रतिग्रहीता नहीं है तब दान पुण्य का प्रसव कैसे कर सकता है?

इस आक्षेप का उत्तर हम इस प्रश्न से देते हैं कि जब कोई प्रतिग्रहीता है तब दान क्यों पुण्य का प्रसव करेगा और जब कोई प्रतिग्रहीता नहीं है तब क्यों नहीं करेगा।

क्योंकि इस दूसरी कोटि में दान से किसी की प्रीति, किसी का अनुग्रह नहीं होता—(कस्याचिद् अनुग्रहाभावात्[1] व्या० ४३६.३)।

यदि प्रतिग्रहीता की प्रीति पुण्य में हेतु है तो आप अप्रमाणभावना (मैत्री आदि भावना, ८.२९) और सम्यग्दृष्टिभावना के पुण्यप्रसू होने में अप्रतिपन्न हैं। इसलिये चैत्य को दिया हुआ दान पुण्य का उत्पाद करता है।

१२१ बी. यद्यपि कोई प्रतिग्रहीता नहीं है तथापि मैत्री आदि के तुल्य पुण्य होता है।[2]

---

१. ऊपर पृ० १५ और २० देखिये।

२. =[चैत्ये त्यागान्वयम् पुण्यम्]

४.७३ में हमने देखा है कि बुद्ध ने चैत्यों को दिये हुए दान को पूर्व ही स्वीकृत किया है। बुद्ध और सङ्घ को दिये हुए दान के पुण्य के विषय में कई निकायों का विवाद है। ऊपर पृ० २३७, टि० ३ देखिये। परिनिर्वृत्त बुद्ध की पूजा पर मिलिन्द, पृ० १००-१०१, बोधिचर्यावतार, ९.३६ देखिये।

जिस स्थान में प्रज्ञापारमिता की शिक्षा दी जाती है वह चैत्य के समान होता है (चैत्यभूतः कृतः) क्योंकि उसकी जो वन्दनादि की जाती है वह पुण्योपचय में हेतु है (वन्दनादिनापुण्योपचयहेतुत्वात्) अष्टसाहस्रिका पर (अभिसमयालङ्कारालोक, पृ० ५७)।

१. सति हि प्रतिग्रहीतरि युक्तं त्यागान्वयं पुण्यम्। तत्र हि प्रीत्यनुग्रहेण ग्रहीता युज्यत इति।

२. मैत्र्यादिवद् गृह्णाति।

मैत्री-भावना में कोई प्रतिग्राहक नहीं होता, परानुग्रह नहीं होता, तिस पर भी उसके मैत्री-चित्त के बल से ही उसके लिये पुण्य का उत्पाद होता है। इसी प्रकार यद्यपि गुणवान् तथागत अभ्यतीत हो गये हैं तथापि उनकी भक्ति से प्रेरित होकर जो दान चैत्य को दिया जाता है (तद्भक्ति कृत) वह श्रावक के स्वचित्त के कारण पुण्यकारक होता है (स्वचित्तादेव पुण्यम्, व्या० ४३६.१०)।

[२४६] क्या इससे यह परिणाम निकालना चाहिये कि दान-मान क्रिया व्यर्थ है ? नहीं, क्योंकि जो भक्ति इन कर्मों की समुत्थापिका है वह उस पुद्गल की भक्ति से प्रकृष्टतर है, जो चित्तमात्र से दान-मान का चिन्तन करता है। जब एक, सत्व जिसका अभिप्राय अपने शत्रु को मारने का है, शत्रु के मृत होने पर भी यह विचार कर कि 'यह मेरा शत्रु है' अर्थात् यह विचार कर कि 'यह शत्रु अभी मरा नहीं है' इस अभिप्राय से समुत्थित काय-वाक्-कर्म को शत्रु संज्ञा से मृत शत्रु पर करता है तो उसको अभिप्रायमात्र की अपेक्षा बहुतर अपुण्य होता है।[१] इसी प्रकार भगवत् के अतीत होने पर भी जो पुद्गल भगवद्भक्ति से समुत्थित दान-मान-क्रिया संपन्न करता है उसको भक्तिमात्र की अपेक्षा बहुतर पुण्य होता है।

यदि सुक्षेत्र में उप्त बीज इष्ट फल देता है तो क्या यह मानना आवश्यक है कि कुक्षेत्र में उप्त बीज अनिष्ट फल देगा ?

१२१ सी-डी. कुक्षेत्र में भी उप्त बीज इष्टफल देता है क्योंकि फल और बीज में विपर्यय नहीं देखा गया है[२]।

मृद्वीका[३] बीज से मृद्वीका का मधुर फल ही उत्पन्न होता है; निम्ब के फल के बीज से निम्ब का तिक्त फल ही उत्पन्न होता है। कुक्षेत्र में बोये जाने पर भी बीज अपने उपयुक्त फल देता है। इसी प्रकार यह बीज जो उस पुद्गल का दान है जिसका अभिप्राय परार्थ

---

१. यथा हि शत्रुं हन्मीति कृताभिप्रायस्य तत्समुत्थितं कायवाक्कर्म शत्रुसंज्ञया तस्मिन् मृतेऽपि कुर्वतो बहुतरं अपुण्यम्...'शत्रुसंज्ञया' से अभिप्राय यह है—शत्रुरयं न तावन्-म्रियत इत्यनया संज्ञया (व्याख्या)।

२. कुक्षेत्रेऽपीष्टफलता फलबीजविपर्ययात् ॥

निग्रन्थों का मत है कि तस्करादि को दिया हुआ दान अनिष्ट फल देता है। किन्तु हम यह नहीं स्वीकार करते कि क्षेत्र विशेष के कारण फल इष्ट होता है किन्तु इसके कारण फल-विशिष्ट होता हैं (व्याख्या)।—मज्झिम, १ ३७९ में बुद्ध उपालि को परामर्श देते हैं कि वह निर्ग्रन्थों को अपना दान जारी रखे किन्तु वह कुक्षेत्र में अपना दान अवरोपित करने से बचता है – मिलिन्द, २५८ (जो मज्झिम ३.२५७ को उद्धृत करता है) के अनुसार 'सुविपन्न और दुस्सील' लवण भी दान को विशुद्ध करता है क्योंकि लवण जल से प्रक्षालन हो सकता है।

३. 'मृद्वीका' शब्द व्याख्या से निश्चित है। परमार्थ=किशमिश।

करना है यद्यपि कुक्षेत्र में आहित हो तथापि यह इष्ट फल का ही उत्पाद कर सकता है। किन्तु क्षेत्र-दोष से फल अल्प या शून्य होगा।

हमने सम्बन्धित प्रश्नों के साथ दानमय पुण्य क्रियावस्तु का विवेचन किया है। अब शीलमय पुण्यक्रियावस्तु का विवेचन करना है।

दौःशील्यमशुभम् रूपं शीलं तद्विरतिर्द्विधा।
प्रतिक्षिप्ताच्च बुद्धेन विशुद्धन्तु चतुर्गुणम् ॥१२२॥

[२४७] १२२ ए. बी. दौः शील्य अर्थात् अशुभरूप शील दौः शील्य से विरति है।[१] अशुभरूप को दौः शील्य की संज्ञा देते हैं। दौः शील्य से विरति जो शील है।

१२२ बी. दो प्रकार की है।[२]

विरति विज्ञप्ति है अर्थात् वह कर्म है जिसके द्वारा विरति होती है। विरति अविज्ञप्ति है अर्थात् प्रतिविरत होना (ऊपर पृ० १४, १८, ४८)।

शील दौः शील्य की विरतिमात्र नहीं है।

१२२ सी. यह बुद्ध द्वारा प्रतिषिद्ध से भी विरति है[३]।

जिसका बुद्ध भगवत् ने प्रतिक्षेप किया हैं, उससे विरति भी शील है यद्यपि यह प्रकृति-सावद्य नहीं है, यथा—विकाल भोजनविरति। यह विरति भी विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति है। यदि वह जिसने शिक्षा का समादान किया है, उनका अध्याचार करता है तो वह दौ: शिल्य करता है।

जिस शील का वर्णन हमने सामासिक रूप से किया है, वह—

१२२ डी. परिशुद्ध है यदि चार गुणों से समन्वागत है।[४]

चार गुणों से युक्त शील परिशुद्ध होता है विपरीत अवस्था में यह अशुद्ध है।

दौःशील्यतद्धेत्वहतं तद्विपक्षसमाश्रितम्।
समाहितं तु कुशलम् भावना चित्तवासनात् ॥१२३॥

१२३ ए-बी. दौः शील्य से अक्षिप्त, दौः शील्य हेतु से अक्षिप्त; दौः शील्य प्रतिपत्त और 'शम' का आश्रय ले।[५]

यथोक्त दौः शील्य से अक्षिप्त, दौः शील्य के हेतुओं से अर्थात् क्लेश और उपक्लेश (५.४१) से अक्षिप्त, दौःशील्य के विपक्षों का आश्रय लेकर, क्योंकि यह चार स्मृत्युपस्थलों पर

१.=[दौः शील्यमशुभं रूपम् शीलं तद्विरतिः]—अकुशल रूपः कायवाक् कर्म।
२.=[द्विधा।]
३.=[बुद्धेन प्रतिषिद्धाच्च]
४.=[परिशुद्धम् चतुर्गुणम्।]
५.=[दौःशील्यतद्धेत्वक्षिप्तम् तद्विपक्षशमाश्रयम्।]

(६ १४) आश्रित है, 'शम' का आश्रय लेकर दिव्य उपपत्तियों का नहीं, क्योंकि इसकी निर्वाण में परिणामना होती है।

[२४८] एक दूसरे मत के अनुसार ५ हेतुओं से शील-परिशुद्धि होती है—१. मौलकर्म-पथ की विशुद्धि [अकुशल पथों से विरति]; २. उनके सामन्तकों की विशुद्धि [प्राणातिपातादि के प्रयोग या उपायों से विरति]; ३. वितर्कानुपघात [काम, व्यापाद और विहिंसावितर्क]; ४. स्मृत्यनुपरिगृहीतत्व [बुद्ध, धर्म, संघानुस्मृति जिसमें अव्याकृत कर्मों से विरति संगृहीत है]; ५. निर्वाणपरिणामित्व।[1]

एक दूसरे मत के अनुसार शील चतुर्विध है—१. भयशील, वह शील जिसका प्रतिग्रह आजीविका भय, अश्लोकभय, दण्डभय, दुर्गतिभय से होता है;[2] २. आशंसाशील, वह शील जिसका समादान मनोज्ञभव, यौग सत्कार की तृष्णा के कारण होता है, ३. वोध्यंगानुकूलशील, जिसका समादान सम्यग् घष्टंक मोक्ष की दृष्टि से करते हैं; ४. परिशुद्ध शील, जो निर्मल होने के कारण अनास्रव है। शील का व्याख्यान समाप्त हुआ।

१२३ सी-डी. समाहित कुशल अथवा समाधिस्वभाव का कुशल भावना है, तन्मयीकरण है, वासित होना है।[3]

---

१. व्याख्या में जहाँ लक्षणविपाक पुण्यशत का वर्णन है, वहाँ संस्कृत शब्द दिये हैं (ऊपर पृ० २२६); नैनजिओ, १२८७, धर्मज्ञात के शास्त्र, ८.८ के अनुसार विवेचन जिसे जापानी संपादक ने उद्धृत किया है। इस विवेचन को हमने निक्षिप्तपद में दिया है।—विभाषा, १७७.६; प्रयोगपरिशुद्धि, मौलपरिशुद्धि, पृष्ठपरिशुद्धि, वितर्कानुपघात, स्मृत्यनुपरिगृहीतत्व।

२. आजीविकाभय, अश्लोकभय, दण्डभय, दुर्गतिभय—भयों की कई सूचियाँ हैं; अङ्गुत्तर, २.१२१ और ४.३६४ (धर्मसंग्रह, ७१७) को मिलाकर हम मूलपाठ का उद्धार कर सकते हैं।

३. समाहितम् तु कुशलम् [भावना]।

भाष्य—[समाहितमिति किमिदम्] समाधिस्वभावसहभू यत् [कस्मादिदं भावनेत्युच्यते। चित्तवासनात्।] तद्धि समाहितं कुशलमत्यर्थम् चित्तं वासयति गुणैस्तन्मयीकरणात् सन्ततेः। पुष्पैस्तिलवासनावत्।

'समाहित कुशल' से समाधिनामक चैत्त-धर्म और इस चित्त के सहभू पञ्चस्कन्ध समझना चाहिए।—'समाहित' इसलिये कहते हैं क्योंकि जो कुशलचित्त समाधिनामक चैत्त से संप्रयुक्त नहीं है, वह भावना नहीं है, वह वासित नहीं करता, वह ध्यान नहीं है। निस्सन्देह यह चित्त चित्त-सन्तति को वासित करता है, किन्तु समाधि के सदृश अत्यर्थ नहीं।—

[२४९] समाहित का क्या अर्थ है?—जो समाधि (२. २४, ८.१)—स्वभाव है जो समाधिस्वभाव का सहभू है।—'समाहितकुशल' की 'भावना' संज्ञा क्यों है?

१२३ डी. क्योंकि यह चित्त को वासित करता है[1]। समाधिस्वभाव कुशलचित्त को अत्यर्थ वासित करता है क्योंकि चित्त सन्तति इस कुशल के गुणों से तन्मय होती है। यथा तिलपुष्पगन्धमय होने के कारण (पुष्पगन्धमयीकरणात्—व्या० ४३७.२७) पुष्पों से वासित होते हैं।

हमने कहा है (४.११३ डी.) कि दान का फल महायोग है। शील और भावना से किस फल का लाभ होता है?

स्वर्गाय शीलं प्राधान्याद् विसंयोगाय भावना।
चतुर्णां ब्राह्मपुण्यत्वं कल्पं स्वर्गेषु मोदनात् ॥१२४॥

१२४ ए-बी. प्रधान रूपेण शील से स्वर्ग और भावना से विसंयोग होता है।[2]

दान का फल भी स्वर्ग होता है किन्तु शील उसका प्रधान कारण है। विसंयोग या निर्वाण (२ अनुवाद, पृ० २७६) में भावना हेतु है जो प्रहाणमार्ग में (६.६० सी-डी) क्लेशों से साक्षात् विसंयोग का प्रापक है, किन्तु शील यहाँ सहायक है; क्योंकि शमथ और विपश्यना की प्रतिष्ठा शील में होती है।

[२५०] सूत्रवचन है कि चार पुद्गल 'ब्राह्मपुण्य' का प्रसव करते है? यह[1] पुण्य क्या है?

'कुशल' इसलिये कहते हैं क्योंकि क्लिष्ट ध्यान की समाधि जो आस्वादनासम्प्रयुक्त (८.६) भावनामय पुण्यक्रियावस्तु नहीं है।—भावना वासना है।

१.=[चित्तवासनात्]॥

२. स्वर्गाय शीलम् प्राधान्याद् विसंयोगाय भावना—'संवर्तते', 'सम्भवति' वाक्यशेष है। संयुत्त, ४.३१२ देखिये, जहाँ मृतक-संसकारों की निरर्थकता बताई है। अङ्गुत्तर ५.२७१ जो मारक पुरुष भिक्षा दान देता है, उसकी गति।

१. एकोत्तर, २१,५; विभाषा, ८२.४ चत्वारः पुद्गला ब्राह्मं पुण्यं प्रसवन्ति। अप्रतिष्ठिते पृथिवीप्रदेशे शारीरं स्तूपं प्रतिष्ठापयति। अयं प्रथमः पुद्गलो ब्राह्मं प्रसवति। चातुर्दिशे भिक्षुसङ्घे आरम्भम् निर्यातयति। अयम् द्वितीयः...। भिन्नं तथागत [स्य] श्रावक सङ्घं प्रतिसंदधाति अयम् तृतीयः ..। मैत्रीसहगतेन चित्तेना वैरेण असपत्नेन (ms.) सम्पत्नेन अव्याबाधेन विपुलेन महद्गतेनाप्रमाणेन सुभावितेनैकाम् दिशमधिमुच्य स्फरित्वोपसंपद्य विहरति...अयं चतुर्थः [मताव्युत्पत्ति ६९ वोगीहारा और सासाकी के संस्करण और मध्यमकावतार, ५५,३११ अनुवाद, म्यूसिआं, १९०७, पृ० ५३ में उद्धृत दशभूमक; कुछ पाठान्तर]

वैभाषिकों के अनुसार (विभाषा, ८२, १५) बोधिसत्त्व के लक्षणविपाककर्म के परिमाण को ज्ञापित करने के लिये जिस पुण्य का पूर्व वर्णन हुआ है (४·११०) वह पुण्य।[2]

पूर्वाचार्य[3] कहते हैं—

१२४ सी-डी. चार ब्राह्मपुण्य से समन्वागत होते हैं क्योंकि वह एक कल्प तक स्वर्ग में आनन्द करते हैं।[4]

[२५१] जिस पुण्य का परिमाण कल्पभर स्वर्ग में मोदन है, वह ब्राह्मपुण्य है क्योंकि ब्रह्मपुरोहितों का आयुष्क एक कल्प है (३·८० डी)।[1]

अङ्गुत्तर, ५ ७६ भिन्नं पनभन्ते सङ्घं समग्गं कत्वा किं सो पसवतीति। ब्रह्मं आनन्दप्रज्ञं पसवतीति। किं पनभन्ते ब्रह्मं पुञ्ञन्ति। कथं आनन्द सग्गह्मिमोदतीति। इसके आगे इतिवुत्तक, १९ के ६ पाद हैं—सुखा सङ्घस्स सामग्गी...सङ्घंसमग्ग कत्वान कथं संगह्मि मोदति।

२ सङ्घभद्र के अनुसार यह मत दूसरे आचार्यों का है।

३. जापानी सम्पादक की विवृति के अनुसार सौत्रान्तिक यह महासाङ्घिक—सङ्घभद्र: "दूसरे आचार्यों का कहना है...।"

४. [ब्राह्मं पुण्यं चतुष्कस्य] कल्पं स्वर्गेषु [मोदनात्।]

'स्वर्गेषु' बहुवचन रूप व्याख्या में है।

सुत्तनिपात, ५३२ में अर्हत् को दिया दान ब्रह्मलोक में जन्म देता है।

परमार्थ का भाषान्तर प्राय: तिब्बती से मिलता है। परमार्थ १२५ सी-डी का यह अनुवाद देते हैं—चार कर्म ब्राह्मपुण्य कहलाते हैं क्योंकि एक कल्प के लिये वह स्वर्ग-सुख प्रदान करते हैं। वह चार प्रकार के कर्मों को गिनाते हैं।

शुआन्-चाङ् वसुबन्धु के पाठ को विपर्यस्त करते हैं। चार प्रकार के कर्मों को गिनाकर जिनका उल्लेख सूत्र में है, वह कहते हैं—इस पुण्य का क्या परिमाण है?—कारिका १२४ सी-डी) कहती है—"स्वर्गादि में कल्पभर के लिये उपपत्ति ब्राह्मपुण्य का परिमाण है" भाष्य: पूर्वाचार्य कहते हैं—वह पुण्य जिसके कारण सत्व कल्पभर स्वर्ग में निवास करता है...।

...निकायान्तर में यह गाथा पठित है—"सुप्रसन्न, सम्यग्दृष्टिक जो दस सुचरित की भावना करता है, जो ब्राह्मपुण्य का प्रसव करता है, वह कल्पभर स्वर्गों में मोदन करता हैं।" वैभाषिक कहते हैं कि इस पुण्य का परिणाम वही है जो लक्षणविकार कर्म के लिये ज्ञापित किया गया है।—कारिका में 'आदि' शब्द विविध मत सूचित करने के लिये है।"

१. व्याख्या—यह पुण्य ब्राह्म कहलाता है क्योंकि यह ब्रह्माओं का (ब्रह्मणाम्) पुण्य है। यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से 'ब्रह्मपुरोहित' अर्थ लेना चाहिये क्योंकि ब्रह्म पुरोहितों का आयुष्क एक कल्प है, क्योंकि निकायान्तर में यह दो पाद पठित हैं—ब्राह्मे पुण्यं प्रसवति कल्पं स्वर्गेषु

निकायान्तर में यह पाठ है—"वह ब्राह्मपुण्य का प्रसव करता है; वह कल्पभर स्वर्गों में मोदन करता है।"

हमने आमिषदान का विचार किया है।[२]

धर्मदानं यथाभूतं सूत्राद्यक्लिष्ट देशना।
पुण्यनिर्वाणनिर्वेधभागीयं कुशलं त्रिधा ॥१२५॥

[२५२] १२५ ए-बी. सूत्रादि की सम्यक् और अक्लिष्ट देशना धर्मदान है।[१]

मोदते। यह पुण्य इसलिये 'ब्राह्म' कहलाता है क्योंकि [अवस्थान के लिये] इसका पुरोहितों के पुण्य के साथ साधर्म्य है।

मज्झिम, २ २०७ में 'मेत्ता' 'ब्रह्मानं सहव्यताय मग्गो' है।

ब्राह्मपुण्य के कल्प-प्रमाण विपाक का क्या अर्थ है? सङ्घभद्र २३.५,२० ए. इसका विवेचन करते हैं। कामधातु से विरक्त (वीतराग) पुद्गल जो चार अप्रामाण्यों की भावना करता है, वह ऊर्ध्वधातु के देवों में पुनरुपपन्न होता है और कल्पायुष्प्रमाण सुख का भोग करता है। जो पुद्गल काय से अविरक्त है और रूप की प्रतिष्ठा करता है, जो आराम का निर्माण करता है, जो भिन्न सङ्घ का प्रतिसन्धान करता है, जो अनेक जन्मों में मैत्री तथा अन्य अप्रामाण्यों के प्रयोग की भावना करता है—हम प्रयोग का उल्लेख करते हैं क्योंकि अप्रामाण्यों की ही भावना के लिये ध्यान में प्रवेश आवश्यक है और इसके लिये काम से विरक्त होना चाहिये—यह पुद्गल भी कल्पप्रमाण स्वर्गिक सुख का अभिनिर्वर्तन करता है मानो उसने मौल अप्रामाण्यों की भावना की हो। किन्तु पूर्व क्या यह नहीं कहा गया है कि कामधातु में कुशल कर्म का कल्पप्रमाण विपाक नहीं होता?—सत्य ही एक क्षणिक कुशल कर्म, अकुशल कर्मविशेष के सदृश, कल्प प्रमाण आयुष्क का उत्पाद नहीं कर सकता। इसीलिये हमने ऐसा कहा है। किन्तु जब एक ही अधिष्ठान (स्तूपनिर्माणादि) में बहुत-सी चेतनाएँ होती हैं तो वह क्रम से कल्प प्रमाण स्वर्गिक फल का अभिनिर्वर्त्तन करती हैं। च्युत होकर उसका पुनः वही जन्म-सन्धान होता है। इसलिये कल्प प्रमाण स्वर्गिक फल के कहने में कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या सङ्घभद्र का नाम लिये विना इस बाद का उल्लेख करती है और इस प्रकार इसे समाप्त करती है—वृहत्पुण्यं ब्राह्ममित्यपरे।

२. अङ्गुत्तर १.९१; इतिवुसक, ९८ और १००—देयानिभिवरवने दानानि आमिसदानं च धम्मदानं च। धर्मसंग्रह, १०५ में मैत्रीदान अधिक है। स्पेंस हार्डी, ईस्टर्न मोनैकिज्म, १९९ दीघ, ३,१९१ आमिसानुप्पदान।

१. =[धर्मदानम्] सूत्रादीनां [सम्यग्] अक्लिष्टदेशना।—अक्लिष्ट देशना= अक्लिष्टचित्तसमुत्थापिता देशना (व्याख्या)।

सूत्रादि १२ अङ्गों की अक्लिष्टचित्त से दी हुई सम्यक् देशना धर्मदान है। इसलिये जो धर्म का व्याख्यान मिथ्यारूप से या क्लिष्टचित्त से, लाभ, सत्कार और कीर्ति[2] की इच्छा से करते हैं, वह अपने बृहत्पुण्य का विनाश करते हैं।

तीन पुण्यक्रिया वस्तुओं के अनुसार हमने तीन प्रकार के कुशल का विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त—

१२५ सी-डी कुशल त्रिविध है—पुण्यभागीय, मोक्षभागीय और निर्वेधभागीय।[3]

पुण्यभागीय जो पुण्यप्राप्ति के अनुकूल है वह कुशल है जिसका इष्ट विपाक है।[4]

मोक्षभागीय[5] कुशल वह कुशल है जो—

---

२. निरामिषधर्मप्रदेशक से तुलना कीजिये, महाव्युत्पत्ति, ३०,३१।

३, पुण्य [निर्वाण] निर्वेधभागीयम् [कुशलं त्रिधा।]

४. महावस्तु, १.३४ में पुण्यभागीय सत्व = वह सत्व जो पुण्य की प्राप्ति के अनुकूल है। यथा फलभागीय = वह सत्व जो फल की प्राप्ति के अनुकूल है। (नेत्तिप्पकरण, ४८ से तुलना कीजिये)।

यहाँ पुण्यभागीय कुशल = पुण्यभागाय हितम्। अथवा पुण्यं भजत इति पुण्यभाक्। पुण्यभागेव पुण्यभागीयम्—स्वार्थे क प्रत्ययः।

५. हम मोक्षभाग को संसार भाग का प्रतिपक्ष समझ सकते हैं, अथवा मोक्षभाग मोक्षप्राप्ति है। अतः मोक्षभागीय = मोक्षप्राप्त्यनुकूल।

मोक्षभागीय पर कोश, ३.४४ सी-डी, '६'२४, ७.३०, दिव्य, ५०,७ ३६०,१ (अल्प भक्ति का भी फल निर्वाण है), ३६३,२८; मोक्षबीज, करुणा पुण्डरीक, ७८.१४।

विभाषा, ७,१५—"किस काल में मोक्षभागीय मूल अवरोपित होते हैं ? जिस काल में बुद्धों का उत्पाद होता है—वास्तव में बुद्ध-धर्म के होने पर ही इन मूलों का अवरोपण हो सकता है, अन्य आचार्यों के अनुसार जब बुद्ध-धर्म नहीं होता है तब भी यदि कोई प्रत्येक का दर्शन करता है तो वह इनको अवरोपित कर सकता है।—इन मूलों को अवरोपित करने के लिये किस प्रकार का काम चाहिए ? पुरुष या स्त्री का—किस अवसर पर या किस हेतु से इन मूलों का अवरोपण होता है ? दानवश, शीलवश, श्रुतवश; किन्तु हेतु ऐकान्तिक नहीं है—क्यों ?—आशय की विविधता के कारण ऐसे पुद्गल हैं जो आहार का एक कवल या एक दन्तोल्लेखनी देकर इन मूलों को अवरोपित करते हैं, यथा चन्द्र आदि। यह पुद्गल दान देकर कहते हैं कि "मैं प्रणिधि चित्त का परिग्रह करता हूँ कि इस हेतु से मैं मोक्ष का लाभ करूँ।" ऐसे भी पुद्गल हैं जो महासङ्घ को ताकाकुसु, इत्सिंग, पृ० ४० से तुलना कीजिये। मुक्त हस्त हो दान देते हैं तथापि इन मूलों को अवरोपित नहीं करते यथा—

[२५३] अपनी उत्पत्तिकाल से परिनिर्वाण का धर्म होता है।[१] जो कोई संसार के दोषों पर, निरात्मता पर, निर्वाण के गुणों पर उपदेश श्रवण कर पुलकित होता है और अश्रुमोचन करता[२] है उसे जानिये कि मोक्षभागीय कुशलमूल से समन्वागत है। यथा, जब वर्षा में वृक्ष को अङ्कुरित होते देखते हैं तो जानते हैं कि खलविल में अन्न है।[३]

निर्वेधभागीय चतुर्विध है—उष्मगतादि। इसका व्याख्यान पीछे करेंगे। (६.१७)[४]।

[२५४] जिसे लोक में लिपि, मुद्रा, गणना, काव्य, संख्या कहते हैं, उसका स्वभाव क्या है?

योगप्रवर्तितं कर्म सत्यमुत्थापकं त्रिधा।
लिपिमुद्रे सगणनं काव्यं संख्या यथाक्रमम् ॥१२६॥

१२६. लिपि, मुद्रा गणना, काव्य और संख्या योगप्रवर्तित ससमुत्थान कायकर्म, वाक्-कर्म, मनःकर्म हैं।[१]

(अचण्ड, अरौद्र ?) आदि। ऐसे भी हैं जो दान देकर अनागत भठ में धनादि की इच्छा करते हैं, मोक्ष की नहीं। इसी प्रकार कुछ पुद्गल एक अहोरात्र के लिये उपवासस्थ हो, चार पाद के एक श्लोक का पाठ कर इन मूलों को अवरोपित करते हैं। दूसरे जो समस्त आयु के लिये प्रातिमोक्ष संवर का समादान करते हैं, जो त्रिपिटक का पाठ करते हैं, अवरोपित नहीं करते। निर्वाणाशय की पटुता और भववैराग्य पर सब कुछ निर्भर करता है।

१. शुआन्‌चाङ्—मोक्षभागीय कुशल वह कुशल है जो निर्वाण-फल का अवश्यमेव उत्पाद करता है। जिस आश्रय में यह उत्पन्न होता है उसके विषय में कहा जाता है कि इसमें निर्वाण-धर्म है।

२. महायान में यही विचार है, यथा मध्यमकावतार, ६.४-५—पृथग्जनत्वेऽपि निशम्य शून्यताम्...तनूरुहोत्फुल्लतनुश्च जायते। यत् तस्य संबुद्धधियोऽस्ति बीजम्।

३. खलविल धान्य जमा करने का कुण्ड है—'खल' खलिहान को कहते हैं जहाँ गल्ला पीटा जाता है—अमरकोष ३.३.४२—परमार्थ—भूमि-कुण्ड-छिद्र।

४. दीघ ३.२५१ (छः निब्बेधभागियसञ्ञा) २७७ (निब्बेधभागियो समाधि, कोश, ८.१७ से तुलना कीजिये)। इसी अर्थ में 'निब्बेधिक' अङ्गुत्तर में प्रायः आता है। विसुद्धिमग्ग, ८८, निब्बेधभागिनी पञ्ञा, १५ निब्बेधभागियं सीलं नेत्तिप्पकरण—दिव्य में ४ निर्वेधभागीय बताये गये हैं (५०.८ और १६०.१५ के तुलना कीजिये)।

१. [त्रिविधम्] ससमुत्थानं [कर्म] योगप्रवर्तितम्।
लिपिमुद्रा [स] गणनं काव्यं संख्या [यथाक्रमम्]॥

शास्त्र में लिपि का लौकिक अर्थ (अक्षरचिह्नम् पुस्तकादौ) इष्ट नहीं है, किन्तु यह वह कायकर्म है जिससे लिपि लिखी जाती है। इसी प्रकार मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा से नहीं है

'योगप्रवर्तित' अर्थात् उपायविशेष प्रवर्तित।

'त्रिविध कर्म' अर्थात् कायकर्म, वाक्कर्म, मनःकर्म।

लिपि और मुद्रा योगप्रवर्तित कायकर्म हैं। इनके साथ चित्त-चैतसिककलाप भी है जो इस कर्म का समुत्थापक है।

गणना और काव्य, वाक्कर्म हैं। इसलिये लिपि, मुद्रा, गणना और काव्य पञ्चस्कन्ध-स्वभाव के हैं।

संख्या मनःकर्म है। यहाँ धर्मों का मन से सङ्कलन अभिप्रेत है।[2] अब हम कुछ पर्यायों का निरूपण करेंगे—

सावद्या निवृत्ता हीनः क्लिष्टा धर्माः शुभाऽमलाः।
प्रणीताः संस्कृतशुभाः सेव्या मोक्षस्त्वनुत्तरः ॥१२७॥

१२७ ए-बी. क्लिष्टधर्म सावद्य, निवृत्त, हीन हैं।[3]

[२५५] क्लिष्ट के पर्याय—सावद्य, जो 'अवद्य' अकुशल से संप्रयुक्त है—'निवृत' जो क्लेशों से छादित है—क्लेश भी अन्य क्लेशों से छादित हैं; हीन, निकृष्ट अथवा आर्यों से त्यक्त।

१२७ बी.-सी. कुशल और अमल धर्म प्रणीत हैं।[1]

'प्रणीत' शुभ का अर्थात् कुशल का पर्याय है और अमल अनास्रव है।

जो धर्म हीन और प्रणीत से अन्य हैं, वह 'मध्य' सिद्ध होते हैं।[2]

जिस पर अक्षर या कोई और चिह्न अङ्कित होता है (अक्षरानक्षरचिह्न) किन्तु यह कर्म है जिससे मुद्रा खनी जाती है (खन्यते)। व्याख्या-विभाषा (१२६.१६) संख्या का उदाहरण देती है।

२. महाव्युत्पत्ति, २१७,२-४ लिपिमुद्रा=(हस्तगणना) संख्यागणना—दिव्य ३.१८, २६, १२ आदि) लिपि संख्यागणना मुद्रा उद्धार न्यासनिक्षेप, तदनन्तर ८ परीक्षा महावस्तु २.४२३ लेखा लिपिसंख्या गणना मुद्राधारण...।

ब्रह्मजाल की सूची—मुद्दागणना संखानकावेय्य...का विवेचन बुद्धघोस ने किया है, रजि़डेविड्स (डायलाग्ज़ १,२२ ओ फ्रांके आउज़्वाल में दीघ १८-१९) ने किया है—'कावेय्य' पर श्रीमती रजि़डेविड्स, और थेरगाथा, १२५३ भी देखिये।

३. सावद्या निवृता हीनाः क्लिष्टा [धर्माः]

१. शुभावलाः। प्रणीताः।

२. विभङ्ग से तुलना कीजिये, हीन मज्झिम पणीत, पृ० १७।

१२७ सी-डी. कुशल और संस्कृत धर्म सेव्य हैं ।[३]

'सेव्य' जो पर्युपासना के योग्य हैं (सेवितव्य, पर्युपासितव्य, सन्तानाध्यारोपण के योग्य)। कुशल संस्कृत का पर्याय है ।[४]

इसका यह अर्थ निकलता है कि शेष धर्म अर्थात् एक ओर असंस्कृत, दूसरी ओर क्लिष्ट और अनिवृताव्याकृत संस्कृत असेवितव्य हैं। वास्तव में असंस्कृत अनुत्पाद्य हैं, अनभ्यसनीय (=पौनः पुन्येन कर्तुम् अशक्य या अनुत्पाद्य) हैं। असंस्कृत का फल नहीं होता किन्तु फल के लिये पर्युपासना होती है ।

अन्य सब धर्म सोत्तर है ।[५]

१२७ डी. मोक्ष अनुत्तर है ।[६]

निर्वाण से कोई विशिष्टतम नहीं है। नित्य और कुशल होने से निर्वाण सबसे उत्कृष्ट है ।

[कर्म-निर्देश नामक चतुर्थ कोशस्थान समाप्त]

---

३. संस्कृतशुभाः सेव्याः ।

४. दूसरा पर्याय 'भावयितव्य' है—कुशलसंस्कृतधर्मा भावयितव्या इति न्यायः ।

५. प्रकरण, ३३ बी. ४—"स—उत्तरधर्म कौन है? संस्कृतधर्म, आकाश, अप्रतिसंख्यानिरोध ।" अभिधम्म, विभङ्ग, पृ० १९ में यही शब्द है ।

६. मोक्षस्त्वनुत्तरः ॥

अभिधर्मकोश

६

पञ्चम कोशस्थान

अनुशय

[१] हमने कहा है कि लोक-वैचित्र्य कर्मज है (४.१)। यह कर्म अनुशयवश[1] उपचित होते हैं[2]—अनुशयों के बिना कर्म पुनर्भव के अभिनिर्वर्तन में समर्थ नहीं होते, अतः—

ए. भव का मूल अर्थात् पुनर्भव या कर्मभव का मूल अनुशय हैं।[3]

क्लेश[4] समुदाचार से १० क्रियाएं सिद्ध होती हैं—

---

१. अनुशय शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्यान के लिये ५.३९ देखिये। अनुशय और उनके अनुशयन के कारित्र पर ५.१७ देखिये।

पालिग्रन्थ—सात अनुशय, अङ्गुत्तर ४.९; विभङ्ग ३४०, ३८३; विसुद्धिमग्ग १९७ कम्पैन्डियम, १७२, टि० २, जे. पी. टी. एस., १९१०-१२, पृ० ८६ (यमक)—उनका स्वभाव चित्त-विप्रयुक्त, अव्याकृत, अविषयग्राही, परिपुत्थानों से अन्य, कथावत्थु, १०.४, ११.६, १४.५: नीचे पृ० ३ में और आगे इन प्रश्नों का विचार किया गया है, योग में क्लेश अनुशयवाद और उसका प्रहाण, योगसूत्र २.७ ए. आगे (जो प्रायः कोश से मिलते हैं)। क्लेशों के प्रहाण पर पालिवचन, नीचे पृ० १०, टिप्पणी १।

२. उपचयं गच्छन्ति। वस्तुतः 'उपचित होने' का अर्थ है 'शक्ति और फलोत्पादन का आदान', विपाक का नियतोत्पाद, विपाकदानाय नियतीभवन्ति। ४,५० और १२० देखिये।

३. मूलं भवस्यानुशयाः।

'भव' से 'अभिप्रेत' पुनर्भव या जैसा प्रतीत्यसमुत्पाद के वाक्य में है 'कर्मभव है (३.१२, १३,२४, ३६)। 'कर्मभव' कर्म है क्योंकि अनुशयवश ही कर्मों का उपचय होता है (व्याख्या)।

आचार्य नीचे (६.३ के अन्त में) निर्देश करेंगे कि पुनर्भव की अभिनिर्वृत्ति में तृष्णा (या क्लेश) कर्म और अविद्या का कारित्र है।

४. जैसा भाष्य से ज्ञात होता है, सर्वास्तिवादिन् के लिये क्लेश और अनुशय एक हैं—इसी प्रकार पर्यवस्थान (पर्युत्थान) है। सर्वास्तिवादिन् के मत से किसी क्लेश का अनुशय, यथा कामराग का अनुशय, स्वयं क्लेश है। वात्सीपुत्रीय नय से अनुशय इस क्लेश की प्राप्ति है—एक पुद्गल जो इस समय क्लेश से पर्यवस्थित नहीं है, अतीत और अनागत क्लेश की प्राप्ति से समन्वागत होता है। सौत्रान्तिक नय से अनुशय क्लेश का बीज है। यह प्रसुप्त क्लेश है। नीचे पृ० ७, टि०, १ देखिये।

[२] १. अपने क्लेशमूल के अर्थात् अपनी प्राप्ति को—क्लेश की प्राप्ति को जो उस आश्रय में पहले से थी (२.३६, ३८ डी.) अनुच्छेद के लिए दृढ़ करता है; २. यह सन्तति को अवस्थापित करता है (सन्ततिभवस्थापयति अर्थात् परम्परा से क्लेश प्रवन्ध को स्थापित करता है); ३. यह अपने क्षेत्रको स्वानुकूल बनाता है, आश्रय (२.५, ६, ४४ डी.) को क्लेशोत्पत्ति के अनुकूल करता है; ४. यह स्वनिष्पन्द अर्थात् उपक्लेशों को (५.४६) निर्वृत्त करता है—द्वेष क्रोधादि को जनित करता है; ५. यह कर्मभव का आभिनिर्हार करता है (अभिनिर्हरति); ६. यह स्वसंभार अर्थात् अयोनिशोभनस्कार का परिग्रह करना है (स्वसंभारं परिगृह्णाति); ७. यह आलम्वन में संमोह उत्पन्न करता है (सम्मोहयति); ८. यह विज्ञान-स्रोत को आलम्वन या पुनर्भव (३.३०) की ओर झुकाता है (नभयति); ९. यह कुशलपक्ष से परिहाणि कराता है (व्युत्क्रामयति, परिहापयति) और १०. यह बन्धनकार्य को (बन्धन, ५.४५ डी) विस्तृत करता है और स्वधातु का अतिक्रमण नहीं होने देता।[१]

कितने अनुशय हैं—

१ सी-डी ६—राग तथा प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि, विमति।[२]

'तथा' शब्द यह प्रदर्शित करता है कि रागवश आलम्वन में अन्य प्रतिघादि अनुशयन (५.१७) करते हैं। हम पश्चात् इसका निर्देश करेंगे।

[३] १—१डी-२ ए. यह ६ रागभेद से सात होते हैं।[३]

कामरागानुशय,[४] प्रतिघानुशय, भवरागानुशय, मानानुशय, अविद्यानुशय, दृष्ट्यानुशय, विचिकित्सानुशय (या विमति)।[५]

---

१. यः क्लेशो यद्धातुकः स तं धातुं नातिक्रामयति।

सङ्घभद्र में ६ क्रियाएँ हैं—११. यह आश्रय दौष्ठुल्य उत्पन्न करता है, यह अकर्मण्यता का आपादन करता है (आश्रयदौष्ठुल्यं जनयति अकर्मण्यतापादनात्) (२.२६ ए-सी) १२. यह गुणों का द्वेषी है (गुणान् द्वेष्टि) १३. यह विद्वद्विगर्हित कर्म समुत्थापित करता है और उसको अपवादों का आस्पद बनाता है। १४. यह सत्पथ से उद्वर्तन करता है, क्योंकि यह विपरीत दैशिकों का संसेवन करने के लिये उसको अभिमुख करता है। १५. यह सर्वसंसार दुःख के बीजों का रोपण करता है। १६. यह भाजनलोक में वाह्यभाव में विकार उत्पन्न करता है (३.९९, ४.८५)।

२. =[षड्रागः प्रतिघस्तथा। मानोऽविद्या (च) दृष्टिश् (च) नियतिः] नीचे ५.२०, टिप्पणी देखिये।

३. =[षडमी अपि॥ रागभेदेन सप्तोक्ताः]

४. पांच रूपीन्द्रियों के रूप शब्दादि आलम्बनों में राग (पञ्च कायगुणाः)।

५. दीघ, ३.२५४, २८२ का क्रम भिन्न है; अङ्गुत्तर ४.९, संयुत्त ५.६०, विभङ्ग पृ० ३८३; कामराग, परिघ, दिट्ठि, विचिकिच्छा, मान, भवराग, अविज्जा।

कामरागानुशय का क्या अर्थ है ? क्या यह कामराग नाभ का एक अनुशय है ? अथवा यह कामरागानुशय कामराग से अन्य है ?

यदि कोई कहता है कि कामराग अनुशय है तो वह इस सूत्र का विरोध करता है—"जो पुद्गल कामराग पर्यवस्थित चित्त से बहुकाल तक विहार नहीं करता और जो कामराग पर्यवस्थान उत्पन्न होने पर इसे यथाभूत जानता है कि उससे पश्चात् निःसरण कैसे होता है उसका कामराग पर्यवस्थान बलपूर्वक सम्यक् अपहृत हो सानुशय प्रहीण होता है"[1] यह कहना कि राग और उसका अनुशय युगपत् प्रहीण होते हैं यह कहने के तुल्य है कि राग और उसका अनुशय दो भिन्न वस्तुयें है ।

[४] यदि कामराग-अनुशय का व्याख्यान यह है कि यह कामराग का अनुशय है तो अनुशय को एक चित्त-विप्रयुक्त धर्म (२.३५) मानना होगा [और इसका लक्षण कामराग की प्राप्ति, २.३६ होगा] किन्तु इस वाद से अभिधर्म का विरोध है (ज्ञानप्रस्थान, ६,४)। अभिधर्म का निर्देश है कि "कामरागानुशय तीन इन्द्रियों से सुख, सौमनस्य और उपेक्षेन्द्रिय से

---

१. संयुक्त, ३३, १०, ३५, ११,—इस सूत्र का हम उद्धरण कर सकते हैं—[यः कामरागपर्यवस्थितेन चेतसा न बहुलं विहरति उत्पन्नस्य च कामरागपर्यवस्थानस्य] उत्तर—निःसरणं [यथाभूतं प्रजानाति तत्तस्य] स्थामशः सुसमवहुलं [कामरागपर्यवस्थानम्] सानुशयंप्रहीयते । उत्तरनिःसरणम् = पश्चान् निःसरणम् (व्याख्या)।

तुलना कीजिये—अंगुत्तर ३.२३३ = ५.३२३ न कामरागपरिपुट्ठितेन चेतसा विहरति न कामरागपरेतेन उत्पन्नस्स च कामरागस्स निस्सरणं यथाभूतं प्रजानाति...; ५. १८८ उत्तरिं निस्सरणं यथाभूतं...सबसे अधिक संभव व्याख्या यह है। राग पर्यवस्थित पुद्गल वह है जो राग का शिकार है; राग पर्यवस्थान राग का विस्फोट है, राग का समुदाचार है। विभंग, पृ० ३८३: सूक्ष्मावस्था में शक्तिरूप राग रागानुशय है; उद्वृत्त राग सुविज्ञेय है 'राग परिपुट्ठान' है; बन्धन के रूप में राग 'रागसंयोजन' है।

कोश, ५. ४७ के अनुसार पर्यवस्थान क्लेश का पर्याय है (किन्तु उद्धृत सूत्र में राग पर्यवस्थान का अर्थ राग का विस्फोट हो सकता है)। पुनः पर्यवस्थान आह्रीक्यादि के अर्थ में है (८ या १० पर्यवस्थान)। पर्यवस्थान, पर्यवस्थित, 'क्रोध' क्रोधपर्यवस्थित "आपे से बाहर"—दिव्यावदान में कई स्थान में इनका प्रयोग है, स्पेयर, अवदान शतक (शब्दानुक्रमणी में हवाले दिये हैं)। यह वाक्य मिलते हैं : तीव्रेण पर्यवस्थानेन पर्यवस्थितः क्रोधपर्यवस्थितः; पृ० ५२०, ९ में पर्यवस्थान को सर्वक्लेश तीव्र अवस्था बताया है। उसका राग पर्यवस्थान अन्तर्हित होकर द्वेष पर्यवस्थान को अवकाश देता है" चाइल्डर्स (मारेण परिपुट्ठितचित्तो) चित्त मार के अधिकार में है। पर्यवस्थान और पर्युत्थान का भेद प्रायः शाब्दिक प्रतीत होता है; जब क्लेश उत्थित होता है (उत्तिष्ठते) तब पर्युत्थान है; जब क्लेश से परेत होता है तब पर्यवस्थान है। हमने देखा है कि राग यदि पुट्ठित राग परेत है (अङ्गुत्तर, ३.२३३)। अङ्गुत्तर, १.६६ में अनिश्चित अर्थ के यह पद एकत्र हैं—कामराग-विनिवेस-विनिबन्ध-पलिगेध-परिपुट्ठान-अज्झोसान।

(२.७) संप्रयुक्त है (=सहगत हो सकता है)। एक चित्त-विप्रयुक्त धर्म का इन इन्द्रियों से सम्प्रयोग युक्त नहीं है।[१]

वैभाषिकों के अनुसार कामरागानुशय कामराग नामक अनुशय है; राग ही अनुशय है। इसी प्रकार अन्य क्लेशों को समझना चाहिये। विचिकित्सा-विचिकित्सा का अनुशय है।

[५] किन्तु जो सूत्र हमने उद्धृत किया है उसमें उक्त वचन है कि कामराग का स्वानुशय के साथ प्रहाण होता है। अतः अनुशय कामराग नहीं है।[२]

वैभाषिक उत्तर देता है कि 'सानुशय' पद का अर्थ 'सानुबन्ध' 'सकाय' करना चाहिये।[३] अथवा २ बी सूत्र में अनुशय शब्द औपचारिक है, यह प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि प्राप्ति अनुशय का हेतु है (२.३६, अनुवाद, पृ० १८२)[४], किन्तु अभिधर्म में अनुशय

---

१. वसुमित्र (१७२ ए, वास्सीलीव, पृ० २६५) के अनुसार महासांघिक और उनके समुदाय का कहना है कि 'अनुशय न चित्त हैं, न चैत्त, वह अनालम्बन हैं (कोश, १.३४, २.३४ बी से तुलना कीजिये) "अनुशय और पर्यवस्थान एक दूसरे से भिन्न हैं—पहले चित्त-विप्रयुक्त हैं; दूसरे चित्त-सम्प्रयुक्त हैं,"— सर्वास्तिवादिन् (१७३ बी वास्सीलीव, पृ० २७४) कहते हैं कि "अनुशय चैत्त हैं,—चित्तसम्प्रयुक्त हैं, सब अनुशय पर्यवस्थान हैं किन्तु सब पर्यवस्थान अनुशय नहीं हैं।"

भव्य (१८० ए, राकहिल, पृ० १८८) के अनुसार एक व्यावहारिक कहते हैं कि "क्योंकि चित्त का स्वभाव अनास्रव है इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अनुशय चित्त-सम्प्रयुक्त है या चित्त-विप्रयुक्त हैं। अनुशय और पर्युट्ठान एक दूसरे से भिन्न हैं [महाव्युत्पत्ति, ३०, ९, ५५; १०९, ५५, ५७ देखिये] अनास्रवस्वभाव चित्त पर अङ्गुत्तर, १.१०, कोश, ६ ७७ वास्सीलीव २६५ देखिये। नेत्तिप्पकरण, पृ० ७९ के अनुसार—"पूर्व अविद्या पर अविद्या का हेतु है। पूर्व अविद्या अविद्या का अनुशय है: पर अविद्या अविद्या का पर्युट्ठान है।"

अन्धकों का मत है कि अनुशय और परियुट्ठान भिन्न हैं। जब पृथग्जन का कुशल चित्त होता है तब वह चित्त को सानुशय नहीं होने देता किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह [क्लेश से] परिपुट्ठित है—(कथावत्थु, १४.५)। इन्हीं अन्धकों का मत है कि परिपुट्ठान चित्त-विप्रयुक्त (१४.६) है। अन्धकों और कुछ उत्तरापथकों का कहना है कि अनुशय अनालम्बन हैं (अनारम्भण) (९.७) महासांघिक और सम्मितीय कहते हैं कि अनुशय अव्याकृत, अहेतुक, चित्त-विप्रयुक्त हैं (११.१) अनुशय परियुत्थान से अन्य है, विभंग, पृ० ३८३।

२. व्याख्या के अनुसार चोदक वात्सीपुत्रीय है। जापानी सम्पादक के अनुसार चोदक महासंघिक है। (पृ० ४ टि० १ में उद्धृत वसुमित्र को देखिये)।

३. क्लेशानुबन्ध यह है कि यह क्लेशान्तर के उत्पाद के अनुकूल है। अथवा अनुशय का अर्थ अनुवृत्ति भी कर सकते हैं—"कामराग का प्रहाण सानुवृत्ति करते हैं।"

४. उपचार से अनुशय 'अनुशयप्राप्ति' है। कारण में कार्य का उपचार करते हैं—मुख्यवृत्या अनुशय 'पर्यवस्थान' है।

शब्द लाक्षणिक है, औपचारिक नहीं है। अभिधर्म कहता है कि अनुशय क्लेश है। अतः चित्त-संप्रयुक्त है—[इस आगम के प्रमाण के अतिरिक्त युक्ति भी है।]

"क्योंकि वह चित्त को क्लिष्ट करते हैं, क्योंकि वह आवरण है, क्योंकि वह शुभ के विरुद्ध हैं, क्योंकि कुशल का उपलम्भ होता है इसलिये अनुशय अविप्रयुक्त है।"[१]

अर्थात् अनुशयों से चित्त क्लिष्ट होता है, अपूर्व कुशल-मूल उत्पन्न नहीं होता और उत्पन्न कुशल से परिहाणि होती है। अतः अनुशय चित्त-विप्रयुक्त-धर्म नहीं हैं।

[६] किन्तु यह आक्षेप होगा कि चित्त-विप्रयुक्त से भी ऐसा हो सकता है। नहीं; यदि अनुशय चित्त-विप्रयुक्त होते तो वह नित्यसंनिहित होते और इसलिये यदि ऐसा उनका प्रभाव है तो कुशल की उपलब्धि कभी नहीं होती। किन्तु कुशल की उपलब्धि होती है। अतः अनुशय चित्त-विप्रयुक्त नहीं है।[२] किन्तु जिन वादियों को यह इष्ट हैं कि अनुशय चित्त-विप्रयुक्त है वह (चित्तक्लेशादि) इस त्रिविध कृत्य को अनुशयकृत नहीं, क्लेशकृत समझते हैं। [अर्थात् पर्यवस्थान कृत समझते हैं और पर्यवस्थान नित्य संनिहित नहीं होता]। सौत्रान्तिकवाद सुष्ठु है।

कामरागानुशय का अर्थ 'कामराग का अनुशय' लेना चाहिये। किन्तु अनुशय न चित्त-सम्प्रयुक्त है और न चित्त-विप्रयुक्त है क्योंकि यह द्रव्यान्तर नहीं है। जिसे अनुशय कहते हैं वह (३ ए) प्रसुप्तावस्था में वही क्लेश है। जिसे पर्यवस्थान कहते हैं वह क्लेश की जाग्रत अवस्था है। प्रसुप्त क्लेश अनुवृत्त क्लेश है, क्लेश की वीजावस्था है।

[७] जाग्रत क्लेश उद्वृत्त क्लेश, क्लेश समुदाचार है। और वीज आत्मभाव (आश्रय) की पूर्वोत्पन्न क्लेश जनित क्लेशोत्पादन-शक्ति है। यथा एक आश्रय में अनुभव-ज्ञानजनित स्मृत्युत्पादन की शक्ति होती है; यथा अङ्कुर, काण्डादि शालिफलान्तर के उत्पादन की पूर्वोत्पन्न शालिफल जनित शक्ति होती है।[३]

---

१. यह नन्जियो १२८८ के ग्रन्थकार धर्मोत्तर की युक्ति है। (जापानी सम्पादक की टिप्पणी)।

२, चित्तक्लेशकरत्वादावरणत्वाच्छुभैर्विरुद्धत्वात्।
कुशलस्यचोपलम्भादविप्रयुक्ता इहानुशयाः। (व्या० ४४३.१८)

यदि अनुशय चित्त-विप्रयुक्त है तो अनुशय क्लेश नहीं 'प्राप्ति' है किन्तु जब तक पुद्गल का क्लेश से आत्यन्तिक वैराग्य नहीं होता तब तक वह क्लेश की प्राप्ति की रक्षा करता है। अत्तः उसमें कुशल चित्त कभी नहीं हो सकता।

३. बीज और शक्ति के वाद पर २.३६डी (अनुवाद, पृ० १८५, २७२) देखिये; कोश-स्थान ६, अनुवाद शेरबास्की पृ० ६४७, शुआन्-चाङ् ३०, १३ बी; स्मृति पर कोशस्थान ६, शेरबास्की पृ० ८५२, ३०, ७ ए देखिये।

जिस वादी[1] के मत में क्लेश-बीज क्लेश से अन्य अनुशय नाम का चित्त-विप्रयुक्त धर्म है उसको एक चित्त-विप्रयुक्त और स्मृति-ज्ञान-जनक द्रव्यान्तर मानना होगा। इसी प्रकार अङ्कुर के लिये है।

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—जब सूत्र में ही यह उक्त है कि अनुशय कामराग है तब आप को 'कामराग का अनुशय' ऐसा निर्देश करने का अधिकार नहीं है। षट्कसूत्र में उक्त है कि "इस पुद्गल को सुख सुखावेदना में रागानुशय होता है।"[2] [सूत्र का अभिप्राय यही है कि सुख वेदना की अवस्था में राग का समुदाचार होता है, सूत्र इस राग-समुदाचार को अनुशय की संज्ञा देता है।]

किन्तु सूत्र-वचन है कि 'रागानुशय होता है', न कि "तवरागानुशय होता है"। सुखावेदना की अवस्था में राग का अनुशय उत्पद्यमान होता है, 'उत्पद्यते'; यह उत्पन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में सुखावेदना को अवस्था में राग का समुदाचार होता है, राग जाग्रत होता है] जब इस वेदना का उपरम होता है तभी राग का अनुशय होता है, प्रसुप्त राग होता है, अनागत जाग्रत राग बीज होता है। अथवा सूत्र में राग में रागानुशय का उपचार है। रागानुशय राग का कार्य है और हेतु स्वकार्य की संज्ञा से प्रज्ञप्त हो सकता है। इस प्रासंगिक प्रश्न की परीक्षा समाप्त होती है [३ बी]। हम प्रस्तुत विषय पर आते हैं। यह राग-भेद कामराग, भवराग— जिसे सूत्रव्यवस्थापित करता है, क्या है ? भवराग क्या है ?

[८] २ बी. भवराग दो धातुओं से उत्पन्न होता है।[3]

रूपधातु और आरूप्य धातु के प्रति राग भवराग कहलाता है—[काम राग के प्रतिपक्ष में जो काम, कामगुण के प्रतिराग है, जो काम धातु प्रतिराग है, ३. ३ सी-डी]।

दो ऊर्ध्व-धातुओं के प्रति जो राग होता है उसके लिये ही यह भवराग संज्ञा क्यों है ?

२ सी-डी. इसे भवराग इसलिये कहते हैं क्योंकि इसकी अन्तर्मुखी वृत्ति है और इस संज्ञा की व्यावृत्ति के लिये भी कि यह दो धातु-मोक्ष हैं, इसे भवराग कहते हैं।[4]

सिद्धान्त [किल] निर्देश करता है—प्रायेण इन दो धातुओं के सत्वों का समापत्ति-राग होता है [यथार्थ में आस्वादना सम्प्रयुक्त ध्यान में इनका राग होता है, ८.६] 'प्रायेण' शब्द का ग्रहण इसलिये है क्योंकि इन सत्वों का विमानादि में भी राग होता है—

१. वात्सीपुत्रीय (व्याख्या), महासाङ्घिक (जापानी सम्पादक), (व्या० ४४४, १५)

२. सोऽस्य पुद्गलस्य भवति सुखायां वेदनायां रागानुशयः (व्याख्या का पाठ) तिब्बती भाषान्तर के अनुसार 'रागानुशयोऽनुशेते', मज्झिम, ३.२८५ 'सो सुखाय वेदनाय पुट्ठो समानो अभिनन्दति अभिवदति अज्झोसाय तिट्ठति। तस्स रागानुसयो अनुसेति'।

३. भवरागो द्विधातुजः।

४. अन्तर्मुखत्वात् तन्मोक्षसंज्ञाव्यावृत्तये स्मृतः।—व्याख्या में नीचे (३६ ए-बी, उद्धृत है; वहाँ 'कृतः' ऐसा पाठ है।

इस राग का समाहित-रूपत्व है। इसलिये यह अन्तर्मुख प्रवृत्त है, इसलिये इसकी संज्ञा भवराग है।

पुनः कुछ लोगों की यह संज्ञा होती है कि यह दो धातु मोक्ष हैं।

इस संज्ञा के विच्छिन्न के लिये भगवान्, जिस राग का आलम्बन रूपारूप्य धातु हैं, उसे 'भवराग' की संज्ञा देते हैं।

[आचार्य का मत है कि] भव से आत्मभाव (आश्रय) का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। सत्वाहितसत्व समापत्ति और स्वाश्रय (स्वात्मभाव) दोनों का आस्वादन करते हैं। कामवीतराग होने से वह केवल स्वाश्रय का, न कि बाह्य विषयों का, आस्वादन करते हैं।

अतः दो ऊर्ध्व धातुओं के प्रति राग को भवराग कहते हैं।

अभिधर्म (ज्ञान प्रस्थान, ५.११) इन ६ अनुशयों का १० करते हैं, यह कैसे [४ ए] ?

[९] दृष्टि पाँच हैं—सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, अन्तर्ग्राहदृष्टि, दृष्टिपरामर्श और शीलव्रतपरामर्श। अतः अनुशय १० हैं।[१]

दृष्टि के पाँच भाग करने से ६ अनुशयों के १० अनुशय होते हैं। इनमें से ५ वह हैं जो दृष्टि स्वभाव नहीं है अर्थात् राग, प्रतिघ, मान, अविद्या और विचिकित्सा और पाँच सत्कायदृष्टि हैं।

अभिधर्म (ज्ञान प्रस्थान ५.११) की यह भी शिक्षा है कि इन १० अनुशयों के कामधातु के ३६, रूपधातु ३१, आरूप्यधातु ३१ अनुशय, इस प्रकार कुल ९८ अनुशय होते हैं [४बी]।[२]

---

१. परमार्थ..."इस प्रकार १० होते हैं।"—[दृष्टयः पञ्च सत्कायमिथ्यान्तर्ग्राहदृष्टयः। दृष्टिशीलव्रतपरामर्शात् (अनुशया) दश ॥]

२. स्वभाववश अनुशय १० हैं किन्तु उनके धातु और प्रहाण-प्रकार का (चतुः सत्यदर्शना और भावना) विचार करने से इनकी ९८ संख्या होती है।—योगाचारों के अनुसार इनकी संख्या १२८ है, ५.८, (पृ० २१ टि० १) देखिये।

वसुबन्धु आभिधार्मिक नय का निर्देश करते हैं। यहाँ हम प्रकरण का संक्षेप (२३. १०, २१ बी. २९ ए) देते हैं।

९८ अनुशयों में कितने कामधातु के हैं?...कितने दर्शन हेय हैं?...कामधातु के ३६ अनुशयों में कितने दर्शन हेय हैं?...कितने दुःखदर्शन हेय हैं?

अनुशय का क्या अर्थ है? इसका अर्थ अणु, अनुशयन, अनुसङ्ग, अनुबंध (कोश, ५.३९) है। अप्रहीण, अपरिज्ञात अनुशय आलम्बनतः और सम्प्रयोगतः अनुशयन करता है, पुष्टि लाभ करता है ('अनुशेते' की विवृति कोश में 'प्रतिष्ठां लभते' 'पुष्टिं लभते')। वह उसी धातु में

[१०] कामधातु ३२ अनुशय दर्शन हेय हैं (१.४०, ४.११-१२ देखिये)।

४. "कामधातु तीन या दो दृष्टियों को विवर्जित कर दुःखादि दर्शन से यथाक्रम १०, ७, ७, ८ दृष्टियों का प्रहाण होता है।"[1]

प्रतिष्ठा-लाभ करता है जिसमें सत्व उपपन्न है, दूसरे में नहीं (५.१८)। १२ अनुशय हैं। कामरागानुशय, प्रतिघ, रूपराग, आरूप्यराग, मान, अविद्या, सत्कायदृष्टि, अन्तर्ग्राहदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दृष्टिपरामर्श, शीलव्रतपरामर्श, विचिकित्सानुशय।

कामारागानुशय कैसे प्रतिष्ठा-लाभ करता है? सुखवेदनीय मनोज्ञवश...? प्रतिघ कैसे प्रतिष्ठा-लाभ करता है? दुखवेदनीय वश...रूपराग? सुखवेदनीयवश...मान?...

कामरागानुशय का उत्पाद क्यों होता है? तीन कारणों से—१ कामरागानुशय प्रहीण, परिज्ञात नहीं है—२ कामराग पर्यवस्थान के अनुकूल धर्मों की वृत्ति—३ अयोनिशोमनसिकार...(५.३४) है।

इन १२ अनुशयों के ७ होते हैं (रूपराग और आरूप्यराग को एक भवराग और ५ दृष्टियों का एक दृष्टयनुशय गिन कर...)।

इन ७ अनुशयों के (जितने कामराग के प्रकार हैं उतने कामरागानुशय गिनने से: दुःखादिदर्शन से प्रहातव्य प्रकार) ९८ होते हैं।

९८ में कितने सर्वत्रग, कितने असर्वत्रग (५.१७) हैं? सर्वत्रग २७ हैं, असर्वत्रग ६५ हैं, यह या वह ६...हैं (आगे २२ ए २-१७)

कितनों के आलम्बन साम्रव (५.१८)(आगे २२ ए, १८-२२बी ४), कितनों के संस्कृत हैं (२२ बी ५-११)?

कितने अपने आलम्बन में, सम्प्रयुक्त धर्मों में, आलम्बन और सम्प्रयुक्त धर्मों में प्रतिष्ठा और पुष्टि का नाम लाभ करते हैं। (अनुशेरते, ५.१७देखिये)?—[इस प्रश्न की परीक्षा में कई पृष्ठ रंगे गये हैं, २२ बी, १२-२९ ए, २०—आलम्बनादिवश कितने दुःखदर्शनप्रहीण धर्मों में...दुःखदर्शनप्रहीण चित्तों में...निरोध-दर्शनप्रहीण मिथ्यादृष्टि सम्प्रयुक्त चित्तों में...निरोध दर्शनप्रहीण अविद्या में...विरोधदर्शनप्रहीण मिथ्यादृष्टि-सम्प्रयुक्त अविद्या में...अनुशयन करते है?]

१. दर्शते सप्तसप्ताष्टौ दृष्टिद्वित्रिविवर्जिताः।
यथाक्रमं प्रहीयन्ते कामे दुःखादिदर्शनैः॥

पालिप्रवचन के अनुसार क्लेश-प्रहाण पर कुछ टिप्पणियाँ (५.१ देखिये)

(१) मज्झिम, १.७ में दस्सन, संवर, परिसेवन, अधिसेवासन, परिवज्जन, विनोदन और भावना से हेय आसव गिनाये गये हैं।

(२) धम्मसंगणि के अनुसार सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, और शीलव्रतपरामर्श यह तीन (रागादि) क्लेशों के साथ जो वहाँ होते हैं, वेदना, संज्ञा आदि के साथ जो उनसे संप्रयुक्त हैं;

[११] १० पूर्वोक्त अनुशय कामधातु में दुःख दर्शनहेय हैं। सत्कायदृष्टि, अन्तर्ग्राहदृष्टि, शीलव्रतपरामर्श को विवर्जित कर सात समुदय दर्शनहेय और निरोध दर्शनहेय है।

उनसे जनित कर्मों के साथ (१००२-१००६) दर्शन-प्रहेय हैं। शेष राग-द्वेष-मोह-प्रतिवद्ध क्लेश, वेदना और कर्म (१००७) के साथ भावनाहेय हैं।

प्रथम समूह के हेतु दर्शनहेय हैं; द्वितीय के हेतु भावनाहेय (१०१०-१०११) हैं—कुशल, रूप और असंस्कृत (असंखता धातु) अहेय हैं। कोश, १.४० से तुलना कीजिये।

(३) दुःखादि सत्य के उत्तरोत्तर दर्शन से क्लेशों का क्रमिक प्रहाण है इस वाद का कथावत्थु, १.४ में खण्डन किया गया है।

(४) अत्थसालिनी पृ० २३४, स्रोतापन्न और अर्हत् के मार्ग से अनुसय पजुहन; पृ० ३७६ चार मार्गों से संयोजनों का प्रहाण (श्रीमती रीज़ डैविड्स साइकालोजी, पृ० ३०३ में दी हुई सूची में देखिये)।

(५) विसुद्धिमग्ग, पृ० ५७० (वारेन, पृ० १६३) उपादानों का प्रहाण-क्रम (पहान क्रम) —अन्तिम तीन सोतापन्न प्रहातव्य और प्रथम (कामुपादान) अर्हत् प्रहातव्य है; पृ० ६८४-६; स्रोतापन्नादि के किस ज्ञान से (ञाण) विविध संयोजन, किलेस...उपादान, (सात) अनुशय, मल, कम्मपथ आदि वध्य (वज्झ = कोश, ५.६ का वध्य) है—सोतापन्न के ज्ञान से (ञाण से) दिट्ठि-विचिकित्सा, अनागामिन् के ज्ञान (ञाण) से कामराग-पटिघ, अर्हत् के ज्ञान से (ञाण) मान-भवराग- अविद्या।

(६) अत्थसालिनी, पृ० ३५१, सुमङ्गलविलासिनी, पृ० २० में कई प्रकार के प्रहाण उद्दिष्ट और व्याख्यात है किन्तु इन सब में ऐकमत्य नहीं है।

सुमङ्गल में उक्त है कि विनय से शील का लाभ होता है, अतः 'वीतिक्कमप्पहाण', क्लेशौघ-प्रहाण—अर्थात् सावद्यप्रहाण का लाभ होता है क्योंकि शील क्लेशों के व्यक्तिक्रम का प्रतिपक्ष है (किससे वीतिक्कमपटिपक्ख)। यह क्लेशजनित समुदाचार प्राप्त अकुशल का प्रतिपक्ष है। इस प्रहाण को 'तदङ्गप्पहाण' (आंशिक प्रहाण विपश्यना के अवयवभूत ज्ञानाङ्ग से उस उस प्रहातव्य धर्म का प्रहाण), अत्थसालिनी के मत में 'तदङ्गप्पहाण' आत्मा के स्वभाव संस्कृत के मार्गदर्शन से किसी एक क्लेश या दृष्टि (आत्मदृष्टि, अकुशलपथदृष्टि, शाश्वतदृष्टि, उच्छेददृष्टि; सभय में निर्भय संज्ञा इत्यादि) का प्रहाण 'तदङ्गप्पहाण' है मौङ्टिन का अनुवाद इस प्रकार है—"उस उस अङ्ग का प्रहाण"।

सूत्र से समाधि का लाभ होता है और इस प्रकार परिपुट्ठानपहाण या विक्खंभनप्पहाण का लाभ होता है। यह प्रहाण क्लेशों को रोकता है, क्लेशों का विष्कम्भन-- दमन करता है—(महाव्युत्पत्ति, १३०,५)।

अभिधर्म से प्रज्ञा (पञ्ञा) का लाभ होता है; अतः अनुशयप्रहाण या समुच्छेदप्पहाण का लाभ होता है। यह प्रहाण क्लेशों का अत्यन्त समुच्छेद करता है।

सत्कायदृष्टि, और अन्तर्ग्राहदृष्टि को विवर्जित कर आठ मार्ग दर्शन हेय हैं। इस प्रकार ३२ अनुशय दर्शन हेय हैं क्योंकि सत्यदर्शन मात्र से संप्रयुक्त धर्मों में, आलम्वन और संप्रयुक्त धर्मों में किसी में सम्भव नहीं; उनका प्रहाण होता है।

चत्वारो भावनाहेयास्त एव प्रतिघाः पुनः ।
रूपधातौ तथारूप्य इत्यष्टानवतिर्मता ॥५॥

[१२] ५ ए. "चार भावनाहेय हैं।"[१]

अर्थात् राग, प्रतिघ, अविद्या और मान—क्योंकि दृष्ट सत्य पश्चात् मार्ग के अभ्यास से, उनका प्रहाण करता है।

इस प्रकार सत्कायदृष्टि एक प्रकार की है; यह दुःखदर्शनहेय है। इसी प्रकार अन्तग्राहदृष्टि है। मिथ्यादृष्टि चार प्रकार की है, क्योंकि यह चतुःसत्यदर्शनहेय है। इसी प्रकार दृष्टिपरामर्श और विचिकित्सा हैं। शीलव्रतपरामर्श दो प्रकार का है क्योंकि यह दुःख दर्शन हेय है। राग, प्रतिघ, मान और अविद्या पांच प्रकार के हैं क्योंकि यह चतुःसत्य दर्शन-हेय और भावनाहेय हैं।

दुःखदर्शनहेय अनुशयों का क्या स्वभाव और क्या लक्षण है?...

भावनाहेय अनुशयों का क्या लक्षण है?

जब एक अनुशय का आलम्वन एक सत्य के दर्शन से हेय है तो कहते हैं कि यह अनुशय इस सत्य के दर्शन से हेय है। अन्य भावनाहेय है। अतः १२ दृष्टि, चार विचिकित्सा,

५ राग, ५ प्रतिघ, ५ अविद्या हैं—कुल मिलाकर ३६ कामावचर-अनुशय हैं।

५ बी. सी. प्रतिघ को वर्जित कर यही रूपधातु में हैं।[२]

५ प्रतिघों को वर्जित कर इन्हीं प्रकार के अनुशयों के ३१ रूपावचर-अनुशय होते हैं।

[१३] ५ सी. आरूप्य में तद्वत्।[३] यही ३१।

५ डी. इस प्रकार ९८ हैं।[४]

आभिधार्मिक (ज्ञान प्रस्थान, ३, २) कहते हैं कि ६ अनुशयों का आकार-प्रकार (२.५२ बी.) धातुभेद से ९८ अनुशय होता है। ९८ अनुशयों में से ८८ दर्शनहेय हैं, क्योंकि

---

१. चत्वारो भावनाहेयाः। दर्शनमार्ग और भावनामार्ग इन दो मार्गों का निर्देश कोश, ६१, २६, ४९ में है।

ये यद्दर्शनहेयालम्बनास्ते तद्दर्शनहेयाः। यथा जब नास्तिदृष्टि या मिथ्यादृष्टि दुःखदर्शन का प्रतिवेध करती है तब यह दुःख दर्शनहेय अनुशय है—(व्या० ४४६,१)।

२. [ते च प्रतिघे वर्जिताः। रूपेषु]

३. [तद्वद् आरूप्ये]

४. =[तथाष्टानवनिर्मिताः ॥]

वह क्षान्तियों से (६.२५ डी) उल्लंघ्य अवध्य हैं, १० भावनाहेय हैं, क्योंकि वह ज्ञान से उल्लंघ्य हैं।[1] क्या दर्शनप्रहाण और भावनाप्रहाण का नियम नियत है ?

भवाग्रजा क्षान्तिवध्या दृग्हेया एव शेषजाः ।
दृग्भावनाभ्याम् अक्षान्तिवध्या भावनयैव तु ॥६॥

६ ए-सी. भवाग्रज (आरूप्यधातु का सर्वोच्च स्थान) क्षान्तिवध्य अनुशय केवलदर्शन हेय हैं; शेष भूमियों से उत्पन्न अनुशय दर्शन और भावना से हेय है।[2] क्षान्ति से अभिप्राय धर्मज्ञानक्षान्ति और अन्वयज्ञानक्षान्ति से (६.२६ सी) है। क्षान्तिवध्य अनुशयों में जो भवाग्रज हैं वह केवल दर्शनहेय हैं, क्योंकि केवल अन्वयज्ञान से उनका प्रहाण होता है। [केवल आर्य अनास्रवमार्ग से इन अनुशयों का प्रहाण करते हैं] (६·४५०)।

शेष आर्य भूमियों के (काम, रूप और आरूप्य की प्रथम तीन अवस्था) अनुशयों का प्रहाण दर्शन या भावना से होता है।

[१४] आर्य उनका केवल दर्शन से प्रहाण करते हैं, भावना से नहीं। यदि कामधातु के अनुशय हैं तो वह धर्मज्ञानक्षान्ति से प्रहाण करते हैं; यदि ऊर्ध्व धातुओं के अनुशय हैं तो वह अन्वयज्ञानक्षान्ति से प्रहाण करते हैं। पृथग्जनों के अनुशय भावनाहेय हैं दर्शनहेय नहीं; क्योंकि लोकसंवृतिज्ञान (७.९) की भावना से यह अनुशय प्रहीण होते हैं।

६ सी-डी. जो अनुशय क्षान्तिवध्य नहीं है वह केवल भावनाहेय है।[3] जो अनुशय ज्ञानवध्य हैं वह सब भूमियों में आर्यपृथग्जन दोनों के लिये नित्य भावनाहेय ही हैं। वस्तुतः आर्य अनास्रवज्ञान की भावना से और पृथग्जन लोकसंवृतिज्ञान की भावना से उनका प्रहाण करता है।

अन्य वादियों का मत है [६ ए] कि बाह्यक दर्शनहेय अनुशयों का प्रहाण नहीं कर सकते। क्योंकि [महा] कर्मविभाग सूत्र की शिक्षा है कि वीतरागबाह्यकों में अर्थात् जिन्होंने कामधातु को आलम्बन बनाने वाले भावनाहेय राग का प्रहाण किया है—कामधातु को आलम्बन बनाने वाली मिथ्यादृष्टि का समुदाचार होता है और ब्रह्मजालसूत्र में उक्त है कि वीतराग बाह्यक में कामधातु को आलम्बन बनाने वाली सब प्रकार की दृष्टियों का समुदाचार होता है; उसमें ऐसे पुद्गल होते हैं जो पूर्वान्तिकल्प, शाश्वतवादी, एकत्यशाश्वतिक यदृच्छावादी हैं। [यदि कोई कहे कि कामधातु से वीतराग इन पुद्गलों की 'दृष्टियां' रूपावचारी हैं तो हम

---

१. ६.२८, टिप्पणी देखिये।

२. =भवाग्रजाः क्षान्तिवध्या [दृग्हेया एव शेषजाः। दृग्भावनाभ्याम्]—(व्या० ४४७, ८)।

३. अक्षान्तिवध्या भावनयैव तु ॥—(व्या० ४४७.१)।

कहेंगे कि] उनके लिये कामधातु रूपावचर क्लेशों का आलम्बन नहीं है, क्योंकि वह वीतराग है। अतः उन्होंने कामावचर दृष्टियों का प्रहाण नहीं किया है।

[१५] वैभाषिक इस दोष का परिहार यह कहकर करते हैं कि 'वीतराग' के दृष्टि उत्पाद के समकाल में (वैराग्य से) परिहाणि होती है। यथा देवदत्त (राकहिल पृ० ८५) ऋद्धि से परिहीण हुआ (७·४८ ए)।

हमने देखा है कि दृष्टि आकारवश ५ प्रकारों में विभक्त है।

५ दृष्टियाँ क्या हैं ?

आत्म-आत्मीयदृष्टि, ध्रुव-उच्छेददृष्टि, नास्तिदृष्टि, हीनोच्चदृष्टि, अहेत्वमार्गत्वदृष्टि—यह ५ दृष्टियाँ हैं।[1]

१. आत्मात्मीयग्राह सत्कायदृष्टि है;[2] 'सत्' क्योंकि नाशवान्; 'काय' क्योंकि समुदाय, उपचय, सत्काय अर्थात् नाशवान् अर्थों का समुदाय अर्थात् पंच उपादानस्कन्ध[3] (१.८ ए-बी)।

[१६] 'सत्' क्योंकि यह नाशवान् है; 'काय' समुदाय को कहते हैं—अर्थात् "अनित्य अर्थों का समुदाय।" काय सत् है; इससे सत्काय। यह सत्काय पञ्च उपादानस्कन्ध है।

---

१. आत्मात्मीयध्रुवोच्छेदनास्तिहीनोच्चदृष्टयः।
अहेत्वमार्ग तद्दृष्टिरेता हि पंच दृष्टयः॥

२. बुरनुफ भूमिका, २६३, का निरूपण—"यह मत कि काय सत् है अर्थात् केवल 'आत्मन्' का अस्तित्व है।" चाइल्डर्स सुभूति के अनुसार कहते हैं कि सक्काय = सकाय = स्वकाय है (यथा अनुद्दया = अनुदया आदि, मूलर, सिम्प्लिफायड ग्रामर पृ० १९) अतः सक्काय दिट्ठि, स्वकायवाद है, यह वाद कि काय स्वकीय है।

श्रीमती रीज डेविड्स साइकालोजी, पृ० २५७ में इस सम्बन्ध में सुत्तनिपात ९५०, ९५१ उद्धृत करती हैं। पृ० १७ टि० १ में उद्धृत विभाषा देखिये। ई० सेनार्ट कहते हैं कि यह सत्कार्य हो सकता है (मेलाञ्ज हारले पृ० २९२)—वालेसेर जेड डी यम जी. ६४,५८१; स्वत्-काय, अत्थसालिनी, पु० ३४८ : सक्कायदिट्ठीति विज्जमानट्ठेन सति खन्धपञ्चक संखाते काये सयं वा सति तस्मिन् काये दिट्ठीति—इक्सपोजिटर पृ० ४५० ।

पञ्चस्कन्धसंख्यात काय के विषय में विद्यमान होने के अर्थ में दृष्टि अथवा उस काय के विषय में स्वयंदृष्टि...मध्यमकावतार, ६. १२०, १४४ (अनुवाद का पृ० २८२ और ३११, म्यूज़िओं, १९११) ।सक्काय = पंचुपादानक्खन्धा, मज्झिम, १.२९९; सत्कायदृष्टि 'अकुशल' नहीं है, कोश ६.१२ डी, ८९, ५.१९।

३. जैसा शुआन् चाङ् के भाषान्तर तथा अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है, वसुबन्धु यहाँ सौत्रान्तिक व्याख्यान का निर्देश करते हैं।—इस निर्वचन पर तिब्बती भाषान्तर आश्रित है = "इस नाशवान् समुदाय पर दृष्टि" पृ०१६ टि० १.१६ में हम देखेंगे कि किस प्रकार 'सत्' का अर्थ विनष्ट होना है। (परमार्थ)। आत्मात्मीयग्राह सत्कायदृष्टि है।

नित्यपिंड संज्ञा की व्यावृत्ति के लिये इस शब्द का व्यवहार करते हैं, क्योंकि इन दो संज्ञाओं के कारण आत्मग्राह होता है। वैभाषिक निरूपण करते हैं—क्योंकि इनका अस्तित्व है इसलिये सत्; काय शब्द का पूर्ववत् अर्थ है। इस संज्ञा की व्यावृत्ति के लिये कि आत्मात्मीयसंज्ञा का कोई आलम्बन नहीं है, यह कहते हैं कि "यह दृष्टि सत्काय पर आश्रित है [जापानी संपादक की विवृति; सौत्रान्तिकों का खण्डन], इस दृष्टि को 'सत्काय' कहते है क्योंकि इसका उत्पाद सत्कायवश होता है।"

विज्ञप्तिमात्र की टीका "सौत्रान्तिकों का कहना है कि 'सत्' का अर्थ 'मिथ्या, प्रवंचक है; काय=शरीर है; द-लि-स्-नि = दृष्टि है। काय का अर्थ समुदाय है, यह समुदाय के अर्थ में औपचारिक है; समुदायवश उत्पन्न दृष्टि 'सत्काय-दृष्टि' है। बुद्ध सर्वास्तिवादिन् के इस अनागतवाद का प्रतिषेध करते हैं कि नामन् 'सत्' = (वर्तमान) काय दृष्टि है; अतः वह कहते हैं कि 'सत्' शब्द का अर्थ 'प्रवंचक' है। इसलिये 'सत्' शब्द का 'वर्तमान' अर्थ भी है, किन्तु 'सीदन्तीति सदिति' इस निर्वचन के अनुसार इसका अर्थ मिथ्या है।"

संघभद्र (२३ : ५, ६वी) व्याख्यान करते हैं—हेतुबल से (हेतु यहां निश्चय ही सभाग हेतु है, २. ५२ ए [अनुवाद पृ० २५५) और देशनाबल से मूढपुरुष पञ्चउपादानस्कन्ध में 'आत्मन्' और आत्मीय को देखते हैं। इस दृष्टि को सत्काय-दृष्टि कहते हैं—सत् क्योंकि वर्तमान समुदाय (=राशि आदि) को काय कहते हैं। अर्थ है समवाय, आचय, काय सत् है, अतः सत् काय। इसका भाव वस्तुसत् और राशि का है।—इस मत में 'आत्मन्' इष्ट है, किन्तु आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि के आलम्बन को 'सत्' शब्द से इसलिये प्रज्ञप्त करते हैं, क्योंकि इस संज्ञा की व्यावृत्ति करनी है। असत् को आलम्बन बनाकर इस दृष्टि की उत्पत्ति होती है और इस भय से कि कहीं इससे आत्म-ग्राह की उत्पत्ति न हो इस आलम्बन को पश्चात्-काय शब्द से प्रज्ञप्त करते हैं। अर्थात् जो आत्मग्राही है वह या तो एक सन्तति में [=चित्त सन्तति में] या अनेक सन्ततियों में [=चित्त चैत्त सन्तति रूपी स्कन्धों की सन्तति] एक पिण्ड देखते हैं। किन्तु यह सन्ततियां 'आत्मन्' नहीं हैं, क्योंकि काय एक राशि है—क्योंकि इस आत्मदृष्टि का आलम्बन सत्काय है, इसलिये सत्कायदृष्टि कहते हैं। भाव यह है कि पांच उपादान स्कन्ध इसके आलम्बन हैं। वास्तव में सूत्र में उक्त है कि "सत्र आत्मग्राही ब्राह्मण और श्रमण जिसका संप्रधारण करते हैं वह पञ्च उपादान स्कन्ध हैं"—। इसलिये भगवत् केवल आत्मदृष्टि और आत्मीयदृष्टि को सत्कायदृष्टि की संज्ञा देते हैं, जिसमें किसी को यह प्रतिपत्ति न हो कि विज्ञान का असत् आलम्बन है (क्योंकि आत्माकार अस्तित्व नहीं है) या आत्मा का अस्तित्व है (क्योंकि विज्ञान का आलम्बन सत् है, असत् नहीं)।—सौत्रान्तिक (अर्थात् वसुबन्धु) का यह विवेचन है—"सत् क्योंकि नाशवान् हैं; राशि को 'काय' कहते हैं; अतः 'अनित्य अर्थों की राशि'। काय सत् है, इसलिये सत्काय; यह सत्काय पञ्च उपादानस्कन्ध है। इस शब्द का प्रयोग नित्य-पिंड-संज्ञा की व्यावृत्ति के लिये है, क्योंकि इन दो संज्ञाओं के कारण आत्मग्राह होता

है"—किन्तु 'सत्' शब्द (नाशवान् के अर्थ में) जोड़ने से क्या लाभ है ? काय शब्द नित्य संज्ञा की व्यावृत्ति के लिये पर्याप्त है। यदि 'सत्' का अर्थ नाशवान् है, तो केवल कायदृष्टि कहना चाहिए; कोई ऐसा धर्म नहीं है जो नित्य और राशिभूत हो। अतः काय को एक ऐसे शब्द-विशेषित करने से क्या लाभ जिसका अर्थ नाशवान् है ?—ए यस० लेवी का पाठ

[१७] नित्यसंज्ञा की व्यावृत्ति के लिये—अतः 'सत्' का प्रयोग करते हैं और पिंडग्राह की व्यावृत्ति के लिये—अतः काय शब्द का प्रयोग करते हैं—सत्काय पद का व्यवहार होता है। वास्तव में यदि स्कन्धों में किसी को आत्म-ग्राह होता है तो वह नित्य-पिंड-संज्ञापूर्वक होता है। सत्यकायदृष्टि अर्थात् 'सत्काय के विषय में दृष्टि'। वास्तव में अन्तग्रहिदृष्टचादि सब दृष्टियाँ, जिनका सास्रव आलम्बन है, सत्यकाय के विषय में अर्थात् पाँच स्कन्धों के विषय में दृष्टि हैं। किन्तु, क्योंकि सब दृष्टियाँ सत्काय में प्रवृत्त होती हैं इसलिये वह 'आत्मात्मीय दृष्टि' नहीं है[1]। पुनः केवल आत्मात्मीयग्राह की ही सत्कायदृष्टि की संज्ञा है। यह भगवत् की इस उक्ति के अनुसार है—"हे भिक्षुओ ! सब श्रमण और ब्राह्मण जो इस लोक में आत्मा में प्रतिपन्न हैं, जिसे आत्मा सम्प्रधारित करते हैं, वह पञ्च उपादानस्कन्ध मात्र हैं।"[2]

[१८] २. ध्रुवग्राह, आत्मोच्छेदग्राह, अन्तग्राहिदृष्टि' हैं क्योंकि यह ध्रुव या उच्छेदवाद इन दो अन्तों में विपरीत प्रतिपत्ति हैं।

३. नास्ति दृष्टि, जो अपवादिका दृष्टि है, जो दुःखादि सत्य वस्तुसत् का अपवाद करती है, मिथ्या दृष्टि है।[3] सब दृष्टियाँ जो मिथ्या प्रवृत्त हैं मिथ्यादृष्टि हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि को

---

१. विभाषा, ४९,११—इस दृष्टि को सत्कायदृष्टि कहते हैं, क्योंकि इसका गोचर सत्काय है (सत्काये प्रवर्तत इति)।

प्रश्न—"अन्य दृष्टियाँ हैं जो सत्काय में प्रवृत्त होती हैं, असत् काय में नहीं, क्या उसे सत्कायदृष्टि की संज्ञा देंगे ?—अन्यदृष्टियों का गोचर स्वकाय, परकाय, सत्काय या असत्काय अवचर है, जिसका आलम्बन स्वधातु और स्वभूमि है; परकाय अवचर अर्थात् जिसका आलम्बन अन्यधातु, अन्यभूमि है; सत्काय अर्थात् सास्रवगोचर...। यह दृष्टि जो सत्काय में प्रवृत्त होती है 'आत्मन्' और 'आत्मीय' में प्रतिपन्न होती है, अतः इसे सत्कायदृष्टि कहते हैं। अन्य दृष्टियां, यद्यपि उनका अवचर सत्काय ही है, आत्म-आत्मीय में प्रतिपन्न नहीं होतीं, अतः उन्हें सत्कायदृष्टि नहीं कहते...। वसुमित्र कहते हैं—इस दृष्टि का अवचर केवल 'स्वकाय' है। इसलिये इसे सत्कायदृष्टि कहते हैं, पञ्च उपादानस्कन्ध को 'स्वकाय' कहते हैं।"

२. संयुत्त २१, १७; मध्यम ५८,१; विभाषा, ८,७; कोश अनुवाद शुआन चाङ् २९,१६ बी०, संयुत्त, ३,४६ - ये केचि भिक्खवे समणा वा ब्राह्मणा वा अनेकविधं अत्तानं समनुपस्समाना समनुपस्सन्ति सब्बे ते पंचुपादानक्खन्धे समनुपस्सन्ति एतेसंवा अञ्ञतरं।

३. कोश, ४,६६ ए, ७८ बी, देखिये; ७९ सी, ९६; धम्मसंगणि ३८१ आदि।

ही यह संज्ञा प्राप्त है क्योंकि यह सब की अपेक्षा अधिक मिथ्या है, यथा अत्यन्त दुर्गन्ध को दुर्गन्ध कहते हैं—यह अपवादिका है जब कि अन्य दृष्टियाँ समारोपिका हैं।[1]

४. जो दृष्टि अशुभ, नीच, हीन (४.१२७) को शुभ और उच्च अवधारित करती है वह 'दृष्टि परामर्श' कुदृष्टियों में बहुमान है—हीन का क्या अर्थ है, सर्व सास्रव क्योंकि आर्य उनका प्रहाण करते हैं।—जो दृष्टि इनमें बहुमान प्रदर्शित करती है वह केवल 'परामर्श' कहलाती है।[2] दृष्ट्यादि परामर्श 'कुदृष्टि आदि हीन में बहुमान' कहना अधिक उपयुक्त होगा। आदि शब्द का लोप किया है।

५. अहेतु में हेतु दृष्टि, अमार्ग में मार्ग-दृष्टि शीलव्रतपरामर्श है : अर्थात् महेश्वर, प्रजापति या किसी अन्य को, जो लोकहेतु नहीं है लोक का हेतु मानना; अग्निप्रवेश या जलप्रवेश इन आत्महत्या के अनुष्ठानों का फल स्वर्गोपपत्ति मानना; शीलव्रतमात्रक को जो मोक्षमार्ग नहीं है मोक्षमार्ग अवधारित करना और सांख्य और योगियों के लाभ को जो मोक्षमार्ग नहीं है मोक्षमार्ग मानना, एवमादि।

[१९] वैभाषिकों के अनुसार (किल) यहाँ भी आदि-शब्द का लोप है।[3] यह पाँच दृष्टियाँ हैं।

दोष—यह कहा गया है कि जो दृष्टि अहेतु को लोक का हेतु अवधारित करती है वह शीलव्रतपरामर्श है। इस पक्ष में शीलव्रतपरामर्श समदुयदर्शन प्रहातव्य है, क्योंकि यह हेतु में विप्रतिपन्नत्व है। हमारा उत्तर है कि जो ईश्वर या प्रजापति को लोक का हेतु मानते हैं वह ईश्वर और प्रजापति को नित्य एक आत्मा, कर्ता अवधारित करते हैं, [७ बी] इसका फल यह है कि —

---

१. उच्छेददृष्टि समारोपिता कैसे है ? आचार्य का यह बाहुलिक निर्देश है। (व्या० ४५०,१३)।

२. शुआनचाङ् ने इसे छोड़ दिया है।—संघभद्र का व्याख्यान दृष्टयादीनां उपादानस्कन्धानां परत्वेन प्रधानत्वेनामर्शो दृष्टिपरामर्श इति परशब्दप्रयोगेण नायम् अतिशयार्थो लभ्यत इति।

३. शीलव्रत रूपस्कन्ध में संगृहीत है। अतः अन्य स्कन्धों के ग्रहणार्थ 'आदि' शब्द का उल्लेख होना चाहिये।

शीलव्रत पर ४.६४ सी, ५.३८ ए-सी देखिये; सुत्तनिपात, पृ० १०८; महानिद्देस, ६६-६८, ८८-९०, ३१०, ४१६; धम्मसंगणि, १००६; अत्थसालिनी, ३५५; ह्वर, सूत्रालंकार पृ० १२५, १२७, १३०।

यदि किसी का इसमें अभिनिवेश है कि ईश्वरादि लोक का हेतु है तो यह प्रवृत्ति नित्य और आत्मा के विपर्यास से होती है। अतः यह अभिनिवेश दुःखदर्शन से हेय है।[1]

ईश्वर या प्रजापति में नित्यग्राह और आत्मग्राह दुःखदर्शन से ही प्रहीण होता है। अतः तत्कृतकारणाभिनिवेश भी तद्वत् दुःखदर्शन से प्रहीण होता है।

दोष—यह दृष्टि कि जलाग्निप्रवेशादि से स्वार्गोपपति होती है या यह दृष्टि कि शीलव्रतमात्र से शुद्धि होती है नित्यात्मविपर्यास से प्रवृत्त नहीं होती। आप यह क्यों कहते हैं कि यह दुःखदर्शन-प्रहातव्य हैं? यह समुदय दर्शन प्रहातव्य है।

[२०] मूल शास्त्र (ज्ञान प्रस्थान, २०,११) कहता है कि "ऐसे वाह्यक हैं जो इस दृष्टि का उत्पाद करते हैं, जो इस वाद को व्यवस्थापित करते हैं—एक पुद्गल जो शील, मृगशील, श्वानशील का समादान करता है वह शुद्ध होगा, मोक्ष, निःसरण का लाभ करेगा; वह त्रैधातुक सुख-दुःख का अत्यन्त अतिक्रमण करेगा, पर सुख-दुःख व्यतिक्रम को अनुप्राप्त होगा—जो यथार्थ में अकारण है उसको कारणतः सम्प्रधारण करने के यह सब प्रकार शीलव्रतपरामर्श हैं जो दुःख दर्शनहेय हैं"। अतः वैभाषिकों का वाद है कि यह दो दृष्टि दुःखदर्शन हेय है क्योंकि यह दुःख में विप्रतिपन्न हैं।

किन्तु अतिप्रसंग होता है। सर्वक्लेश जिनका सास्रव आलंबन है दुःख में विप्रतिपन्न हैं। [वास्तव में सर्व सास्रव दुःख हैं।]

पुनः हम पूछेंगे कि मार्गदर्शनप्रहातव्य यह अन्य शीलव्रतपरामर्श क्या है?—यदि वैभाषिक का उत्तर है कि जो मार्गदर्शनप्रहातव्य किसी धर्म को अर्थात् मिथ्यादृष्ट्यादि आठ अनुशयों में से किसी एक को आलम्बन बनाता है। वह मार्गदर्शनप्रहातव्य शीलव्रतपरामर्श है तो हमारा उत्तर है कि यह शीलव्रतपरामर्श [८ ए] भी दुःख में विप्रतिपन्न है।

पुनः हम नहीं समझते है कि कैसे शीलव्रतपरामर्श मार्गहेयधर्म को आलम्बन बना सकता है—१. जिस पुद्गल में मार्ग के सम्बन्ध में मिथ्या दृष्टि या विचिकित्सा होती है, जिसके लिये मोक्ष मार्ग नहीं है, यदि जिसको सन्देह है कि मार्ग है या नहीं उसमें कैसे उस मिथ्या-दृष्टि या विचिकित्सा के योग से शुद्धि की प्रतिपत्ति हो सकती है?

[२१] यदि यह पुद्गल सांख्यादिपरिकल्पित मोक्ष-मार्ग का ग्रहण कर (परामृश्य, गृहीत्वा) कहता है कि "यह मार्ग है, बौद्धीय मार्ग मोक्ष-मार्ग नहीं है" तो यह तीर्थिक सांख्यों

१.=ईश्वरादिहेत्वभिनिवेशो नित्यात्मविपर्यासात् प्रवर्तते तस्मात् स दुःखदर्शनाद् हेय एव [ईशादिहेत्वभिष्वंगः शाश्वतात्मविपर्ययात्। प्रवर्तते ततो हेयः स एव दुःखदर्शनात्॥]

लोक के कर्त्ता ईश्वर पर २.६४ डी (अनुवाद पृ० ३११) देखिये, अङ्गुत्तर १.१७३, मज्झिम, २.२२७, दीघ, १.१८ (ब्रह्मा)।

के मार्ग से शुद्धि-लाभ की कल्पना करता हैं, उस मिथ्यादृष्टि से नहीं। शीलव्रत का मार्ग दर्शन प्रहातव्य आलम्बन सिद्ध नहीं होता। पुनः जब पुद्गल समुदय-दर्शन-निरोध-दर्शन-प्रहातव्य मिथ्यादृष्टि से शुद्धि की कल्पना करता है, उसका शीलव्रत परामर्श समुदय-निरोध-दर्शन-हेय क्यों नहीं है? अतः इस अर्थ की परीक्षा होनी चाहिये (परीक्ष्य)।[१]

हमने नित्य (या शाश्वत) और आत्मा इन दो विपर्यासों का (विपर्ययों का) उल्लेख किया है (५.८)। क्या केवल दो विपर्यास हैं?

चार विपर्यास हैं; अनित्य को नित्य, दुःख को सुख [८वी], अशुचि (अशुभ) को शुचि, अनात्म को आत्म-अवधारित करना।

विपर्यास-चतुष्क का क्या स्वभाव है?

दृष्टित्रयाद् विपर्यासचतुष्कं विपरीततः।
नितीरणात् समारोपात् संज्ञाचित्ते तु तद्वशात् ॥९॥

९ए-बी. तीन दृष्टियों के चार विपर्यास होते हैं।[२]

[२२] अन्तग्राहदृष्टि की नित्यदृष्टि एक विपर्यास है; दृष्टिपरामर्श के दो भाग सुख और शुचिविपर्यास हैं; सत्कायदृष्टि की आत्मदृष्टि आत्मविपर्यास है।

---

१. व्याख्या—तदिदं आचार्येण संशयावस्थं कृतम् न स्वमतम् दर्शितम्। अन्ये योगाचारमति अपेक्ष्यैवं कृतम्—(व्या.४५१.२९) यशोमित्र किसी के (कश्चित् व्या०४५१. २७) व्याख्यान को उद्धृत करते हैं जो अतिप्रसंग (पृ० २०, १.१९) के दोष का परिहार करते हैं और संघभद्र के आक्षेप का प्रतिषेध करते हैं। वह योगाचारनय का निर्देश करते हैं। योगाचारों के मत में १२८ क्लेश या अनुशय होते हैं। कामधातु ४० अनुशय सत्यदर्शन-प्रहातव्य हैं (इनमें से दस-दस एक सत्यदर्शन से प्रहातव्य हैं),—६ भावना-प्रहातव्य हैं—अकल्पिका सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, सहजराग, प्रतिघ, मान और अविद्या।

५ प्रतियों को वर्जित कर यही अनुशय रूपावचर और आरूप्यावचर हैं। अभिसमया-लंकारालोक (आगे मेरी पाण्डुलिपि १२९) [में यही संख्या है—दर्शनप्रहातव्य, ११२ (४०, ३६ और ३६ धातु के अनुसार)—भावनाहेय, ६, ५, और ५; राग, द्वेष, मान, अविद्या, सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि। ऊर्ध्वधातुओं में द्वेष का अभाव है)। ६.१ देखिये प्रिशि-लुस्की असोका, पृ० ३२३ की टिप्पणी से १०८ क्लेश मुझे ज्ञात हैं।

२. =[दृष्टित्रयाद् विपर्यासचतुष्कम्]—विपर्यासों पर अङ्गुत्तर, २.५२; नेतिप्प-करण, पासिम (विपल्लास), विभंग, ३७६ (विपर्येति); संयुत्त १.१८८ धम्मसंगणि, विपरियेसगाह और अत्थसालिनी, पृ० २५३ की टिप्पणी से तुलना कीजिये; शिक्षासमुच्चय, १९८. ११ सुहृल्लेख, ४८; योगसूत्र, २.५ (अविद्या का लक्षण)।

अन्य आचार्यों का मत है कि सकल सत्कायदृष्टि—केवल आत्मदृष्टि नहीं किन्तु आत्मीयदृष्टि भी—आत्मविपर्यास है।

वैभाषिक कहता है कि आत्मीयदृष्टि आत्मविपर्यास कैसे है, वास्तव में विपरीतसूत्र का ऐसा निर्देश नहीं है। [सूत्रवचन केवल इतना है : 'अनात्मा में आत्मा को दृष्टि विपर्यास है'] सूत्र आगे कहता है कि "जो पञ्च उपादानस्कन्धों में आत्मा को वशी देखता है वह आत्मीय को देखता है।"[१] [अतः आत्मीयदृष्टि आत्मदृष्टि से, जिससे वह उत्पन्न होती है, भिन्न है।]

किन्तु हमारा विचार है कि यह आत्मदृष्टि ही द्विमुखी है; अहंकार ममकार-मुखी है, यदि ममकार अहंकार से दृष्ट्यन्तर है तो अन्य विभक्तियों से, यथा मह्यम् से निर्दिष्ट संज्ञा भी दृष्ट्यन्तर होंगी। अतः सकल सत्कायदृष्टि आत्मविपर्यास में संगृहीत है।

अन्य क्लेश विपर्यास क्यों नही है ? क्योंकि तीन समस्त कारणों से विपर्यास का व्यवस्थान होता है। यह तीन कारण क्या हैं ?

९ बी. सी. विपरीत, वितीरण, समारोप।[२]

उच्छेददृष्टि (अन्तग्राहदृष्टि का भाग) और मिथ्यादृष्टि अभावमुखप्रवृत्त होने से समारोप नहीं है।

[२३] शीलव्रत परामर्श का आलम्बन है। शीलव्रत मात्र से शुद्धि होती यह एकान्त नहीं है क्योंकि शीलव्रत मात्र से शुद्धि का कारण है। अन्य क्लेश संतीरक नहीं हैं। अतः वह विपर्यास नहीं हैं, किन्तु भगवत् ने कहा है कि "अनित्य को नित्य अवधारित करना संज्ञाविपर्यास, चित्तविपर्यास, दृष्टिविपर्यास है।" इसी प्रकार सुख, शुचि, आत्मा के लिये भी है।[३] किन्तु संज्ञा और चित्त असंतीरक है, अतः विपर्यास का प्रस्तावित लक्षण अयथार्थ है।

९ डी. दृष्टिवश और चित्त और संज्ञा 'विपर्यास' कहलाते हैं।[४]

केवल दृष्टि विपर्यास है किन्तु दृष्टि विपर्यास के योग से दृष्टिसंप्रयुक्त और तदाकार संज्ञा और चित्त भी विपर्यास कहलाते हैं।

दृष्टि-संप्रयुक्त वेदना तथा अन्य चैत्त भी विपर्यास क्यों नहीं है ? क्योंकि लोक में संज्ञा विपर्यास, चित्तविपर्यास कहते हैं, वेदना-विपर्यास नहीं कहते।[५]

---

१. अनात्मन्यात्मेति विपर्यास...आत्मानमेव तत्र (पञ्चोपादानस्कन्धेषु) वशिनं पश्यन्तात्मीयं पश्यति। (व्या० ४५४,८)

२. [विपरीततः। नितीरणसमारोपात्]।

३. महासंगीतिधर्मपर्याय; अङ्गुत्तर, २.५२ (विपल्लास); विभंग, ३७६ (सञ्ञा, चित्त, दिट्ठिविपरियेस); विसुद्धिमग्ग, ६८३।

४.=[चित्तं संज्ञा च तद्वशात्॥]

५. निकायान्तरीयाः—विभाषा, १०४,१ के अनुसार विभज्यवादिन्—शुआनचाङ् "अन्य आचार्य......।"

स्रोत-आपन्न इन सब विपर्यासों का प्रहाण करता है (ज्ञान प्रस्थान, ८.४); क्योंकि सत्य-दर्शन से, जिससे दृष्टि प्रहीण होती है, दृष्टि संप्रयुक्त संज्ञा और चित्त भी प्रहीण होते हैं।

[२४] निकायान्तरीय ३ में उक्त है—अनित्य में नित्य इस विपर्यास के तीन विपर्यास होते हैं—संज्ञा-दृष्टि-चित्त विपर्यास एवमादि।

अतः चार विपर्यासों के १२ विपर्यास होते हैं।

इन १२ में से ८ दर्शन प्रहातव्य हैं। चार अर्थात् सुख और शुचि के विषय में संज्ञा-चित्त-विपर्यास दर्शन-भावना-प्रहातव्य हैं।

वस्तुतः आर्य, जिन्होंने दर्शन-प्रहातव्य सकल अनुशयों का प्रहाण किया है, सुख और शुचि संज्ञा से अवश्य अन्वित होते हैं, क्योंकि जब वह अवतीरण होते हैं, उनमें कामराग की प्रवृत्ति होती है।

२, वैभाषिक इस युक्ति को साधक नहीं मानते।—क्योंकि इन आर्यों में सुख और शुचि की संज्ञा होती है, इससे आप यह परिणाम निकालते हैं कि इनमें सुख और शुचि का विपर्यास होता है।

आप को भी यह कहना चाहिये कि उनमें आत्मविपर्यास (जो आठ विपर्यासों में से जिनका आप उनमें निषेध करते हैं) भी है, क्योंकि उनमें अवश्य सत्व-संज्ञा और सत्व-चित्त का समुदाचार होता है।

विभाषा, १०४.१ "दूसरों का कहना है कि १२ विपर्यासों में ८ केवल दर्शन-प्रहातव्य हैं, ४ भावना-प्रहातव्य भी हैं। यह विभज्यवादी हैं।" विभज्यवादियों पर फुकुभाङ् २०,४ 'उनका कहना है कि कोई ऐसा मत नहीं है जो सम्पूर्णतया यथार्थ है, यह कि [अतीत और अनागत] का अंशतः अस्तित्व है, अंशतः नहीं है और इसलिये विभक्त कर के। कहना चाहिये। अतः उनको संस्कृत में विभज्यवादिन् कहते हैं अर्थात् "उनका निकाय जो विभक्त कर के कहते है"—विज्ञप्तिमात्रवृत्ति ४.३५.१० के अनुसार "जिन्हें विभज्यवादिन् कहते हैं, वह अब प्रज्ञप्तिवादिन् है।" समयभेदोपरचनचक्र के अनुसार २०० वर्ष के पश्चात् महासांघिकों से प्रज्ञप्तिवादियों का निकाय निकला (वास्सीलीव, पृ० २५१ देखिये; वह टिप्पणी भी देखिये जिसके अनुसार समयभेद के भाषान्तर में दो चीनी अनुवादकों में से एक का यहाँ विभज्यवादिन् पाठ है)। इस पर एक टीका कहती है कि "इन दो देशों के अनुसार विभज्यवादिन् [और प्रज्ञप्तिवादिन्] का एकही निकाय है।—किन्तु विभाषा, २५, ५, के अनुसार —महासाधिक आदि को विभज्यवादिन् महायान के एक आचार्य हैं या हीनयान के सब निकाय विभज्यवादिन् कहलाते हैं; इनका कोई नियत निकाय नहीं है। संग्रहशास्त्र में विभज्यवादियों को महीशासक कहा है। विभाषा में उनको सम्मितीय कहा है।" (१६.६ ए ६ किओकुगा सेकी की टिप्पणी)।

विभाज्यवादिन् पर प्रवचन के हवाले मालूम हैं, कथावत्थु की अर्थकथा वसुमित्र, आदि केर्न, वास्सीलीव, वाटर्स आदि में ५.२५ देखिये।

[२५] सत्व-संज्ञा और सत्वचित्त के विना स्त्री में और आत्मा में कामराग युक्त नहीं है।[१]

पुनः सूत्र में पठित है कि श्रुतवान् आर्य श्रावक यथाभूत देखता और जानता है कि यह दुःख सत्य है...। उस क्षण में अनित्य में नित्य यह उसके संज्ञाविपर्यास, चित्तविपर्यास और दृष्टिविपर्यास प्रहीण होते हैं" एवमादि[२]—अतः दृष्टि-समुत्थित, दृष्टि-संप्रयुक्त संज्ञा और चित्त ही विपर्यास हैं, अन्य नहीं, यह भावना हेय है।

वास्तव में आर्य में कामराग का उत्पाद भ्रान्ति से होता है, जो दर्शन कालमात्र अवस्थान करती है, यथा अलातचक्र की भ्रान्ति या चित्र-यक्ष की भ्रान्ति।[३] आर्यों में विपर्यास नहीं होता, केवल संज्ञा-चित्त-विभ्रम (६.६०) होता है।[४]

३. किन्तु[५] स्थविर आनन्द ने आर्य वागीश से कहा है, "तुम्हारा चित्त संज्ञाओं के विपर्यास से परिदग्ध है।" यदि वैभाषिकों का वाद माना जाय, तो इस वचन का कैसे निरूपण करना चाहिये ?[६]

---

१. 'पश्यति' से आनन्तर्यमार्ग से प्रतिलब्ध ज्ञान को, 'जानाति' से विमुक्तमार्ग से प्रतिलब्ध ज्ञान को प्रज्ञप्त करते हैं (६.२८)।

२. अनात्मन्यात्मेति संज्ञाविपर्यासश्चित्तविपर्यासो दृष्टिविपर्यासः प्रहीयते (व्याख्या ४५५,१०)।

३. अलातचक्रचित्रयक्षभ्रान्तिवत् (व्या० ४५५,१६)।

४. भगवत् ने कहा है :···श्रुतवत आर्यश्रावकस्य स्मृतिसम्प्रमोषा उत्पद्यन्ते। अथ च पुनः क्षिप्रं एवास्तं परिक्षयं पर्यादानं च गच्छन्ति (व्या० ४५५, २१)।

५. तिब्बतीभाषान्तर के अनुसार—"दूसरों का कहना है ··।"

जापानी सम्पादक के अनुसार—"आचार्य वैभाषिक की आलोचना करते हैं···।"

६. शुआन्-चाङ् ने गाथा उद्धृत की है—तिब्बतीभाषान्तर में केवल पहली पंक्ति दी है। यह संयुक्त, १.१८८ है; थेरगाथा, १२२३—विसुद्धि-मग्ग, पृ० ३७-३८. सुत्तनिपात, ३४० से तुलना कीजिये।

व्याख्या के अनुसार—

कामरागाभिभूतत्वाच्चित्तं मे परिदह्यते। (व्या० ४५५, २५)
अंग में ब्रूहि शान्तिं (?) त्वमनुकम्पया ॥
विपर्यासेन संज्ञानाम् चित्तं ते परिदह्यते।
निमित्तं वर्ज्यताम् तस्माच्छुभम् रागोपसंहितम् ॥

वागीश स्रोत-आपन्न था और इसलिये दर्शनप्रहातव्य सब अनुशयों से विमुक्त था।

[२६] अतः[1] शैक्ष के सब आठ संज्ञा-चित्त-विपर्यास अप्रहीण हैं। यह विपर्यास भी आर्यसत्यों के यथाभूत परिज्ञाम से प्रहीण होते हैं, यथाभूत-ज्ञान के विना नहीं होते। अतः जिस सूत्र को वैभाषिक उद्धृत करते हैं (पृ० २५, १.४) वह उक्त विपर्यासों के प्रहाण के उपाय का समाख्यान करता है। वागीश के सूत्र से कोई विरोध नहीं है।[2] दृष्ट्यनुशय के विभाग हैं। क्या अन्य अनुशय भी इसी प्रकार विभक्त है? मान विभक्त है?

सप्त माना नवविधास्त्रिभ्यो दृग्भावनाक्षयाः।
वधादिपर्यवस्थानं हेयं भावनया तथा ॥१०॥

१० ए. मान सात हैं।[3]

[२७] मान, अतिमान, मानातिमान, अस्मिमान, अभिमान, ऊनमान, मिथ्यामान चित्त की उत्पत्ति (२,३३ बी) को सामान्यतः मान कहते हैं। प्रवृत्ति (प्रकार) भेद से मान के विभाग किये गये हैं १. मान—जब चित्तहीन और सम के प्रति यह विचार कर कि 'मैं विशिष्ट हूँ', या 'मैं सम हूँ' उन्नत होता हैं। २. अतिमान—सम, विशिष्ट के प्रति यह विचार कि 'मैं विशिष्ट हूँ', 'मैं सम हूँ'। मानातिमान—विशिष्ट के प्रति यह विचार कि 'मैं विशिष्ट हूँ।' ४. अस्मिमान—जब चित्त पञ्च उपादानस्कन्धों को आत्म-आत्मीयवत् ग्रहण कर उन्नत होता है। ५. अभिमान—विशेषाधिमन की प्राप्ति के विना (५. २७ बी० सी०) यह विचार कि मैंने विशेषों का अधिगम किया है अर्थात् समाधि-संनिश्रित सास्त्रव-अनास्त्रव धर्मों को प्राप्त किया है। ६. ऊनमान—यह विचार कि मैं अतिविशिष्ट से किंचिन्मात्र ऊन हूँ। ७ मिथ्यामान—अगुणवान् का अपने को गुणवान् समझना।

---

१. व्याख्या के अनुसार—यथा निकायान्तरीय के मत को (पृ० २३, टि० ३) वैभाषिक आगम के विरुद्ध बताते हैं। अतः दूसरे आचार्य जो तृतीय-पाक्षिक हैं सूत्र-विरोध का परिहार करते हैं।

शुआनचाङ् के अनुसार "अन्य आचार्य कहते हैं..." जापानी सम्पादक का मत है कि आचार्य अब सौत्रान्तिक मत का निर्देश करते हैं।

२. इसका यह भी व्याख्यान हो सकता है—'यह दुःख है' "इस सत्य का देखना और जानना" सूत्र के इन शब्दों का अधिकार दर्शनमार्ग पर ही नहीं है जिससे वागीश समन्वागत है किन्तु भावनामार्ग पर भी है। [अनास्त्रव मार्ग सत्यों को आलम्बन बनाता है, ६.१।] और इस दूसरे मार्ग का वागीश में अभाव है।

३. [मानाः सप्त]

मान-संयोजन, प्रकरणवाद २३.१० आगे १३ बी; विभंग, ३५३; धम्मसंगणि, १११६; अनुवाद, २९८; व्याख्या ३७२, इक्सपोजिटर, पृ० ४७८; अङ्गुत्तर, २.४३०; मज्झिम, १.४८६ में और अन्यत्र 'अहंकार ममिंकार मान'।

अभिमान सवस्तुक है—वह उस पुद्गल का मान है जिसमें विशेष के प्रतिरूपक गुण हैं। मिथ्यामान निर्वस्तुक है यह उस पुद्गल का मान है, जो निर्गुण होते हुए भी अपने को गुणवान् मानता है। किन्तु शास्त्र (ज्ञानप्रस्थान २०, ६) में मान के ९ प्रकार, मानविधा या केवल विधा, उक्त हैं, अर्थात् १. 'मैं श्रेय हूँ' २. 'मैं सदृश हूँ' ३. 'मैं हीन हूँ' ४. 'अन्य मुझसे विशिष्ट है' ५. 'वह मेरे सदृश है' ६. 'वह मुझसे हीन है' ७. 'अन्य मुझसे श्रेय नहीं है' ८. 'वह सदृश नहीं है' ९. 'वह मुझसे हीन नहीं है।'

यह ९ प्रकार सात मानों में से किनके प्रकार हैं ?

सप्त माना नवविधास्त्रिभ्यो दृग्भावनाक्षयाः ।
वधादिपर्यवस्थानं हेयं भावनया तथा ॥१०॥

१० ए-बी. तीन के ९ प्रकार हैं।[1]

यह ९ प्रकार तीन मानों के अर्थात् मान, अधिमान और ऊनमान के प्रकार हैं।

प्रथमत्रिक में आत्म-दृष्टि-संनिश्रित तीन मान हैं।

पूर्व आत्मदृष्टि होती है—अहम्। पश्चात् अतिमान, मान, ऊनमान इस क्रम से इन मानों की उत्पत्ति होती है। 'मैं श्रेय हूँ' यह मानविधा दृष्टि-संनिश्रित अतिमान है एवमादि—द्वितीय त्रिक का यह क्रम है—ऊनमान, मान, अधिमान।—तृतीय त्रिक का क्रम इस प्रकार है—मान, अतिमान, ऊनमान।

[२८] हम मानते हैं कि यह विचारना कि अतिविशिष्ट को अपेक्षा 'मैं किंचित् हीन हूँ' ऊनमान है, क्योंकि इस चित्त में चित्त की उन्नति होती है, किन्तु यह मानविधा कि 'वह मुझसे हीन नहीं है' उन्नति-स्थान कैसे है ? यह उन्नति-स्थान हो सकता है, यदि विशिष्ट आश्रयों के एक समूह की अपेक्षा, जिनको वह ऊँचा मानता है, वह अपने लिये मान करता है, यद्यपि वह वास्तव में अति हीन है।

हमने ऊपर ज्ञानप्रस्थान का व्याख्यान उद्धृत किया है, किन्तु प्रकरणपाद के निर्देश (आगे १३ बी) के अनुसार 'मैं श्रेय हूँ' यह प्रथम मानविधा हीनापेक्षया मान है, समापेक्षया अतिमान है, विशिष्टापेक्षया मानातिमान है। अतः यह प्रथम मानविधा सात मानों में से तीन से है। सात मानों का प्रहाण कैसे होता है ?

उनका क्षय दर्शन और भावना से होता है।[2]

अस्मिमान को संगृहीत कर सब दर्शन और भावना क्षीण होते हैं अर्थात् प्रहीण होते हैं।

---

१. [नवविधास्त्रयः]।

२. दृग्भावनाक्षया (४५७.२२)।

क्या यह मानन आवश्यक है कि आर्य[1] में उन भावनाहेय अनुशयों का जो अप्रहीण है समुदाचार होता है (समुदाचरन्ति)? यह आवश्यक नहीं है।

विभवेच्छा न चार्यस्य संभवन्ति विधादयः।
नास्मिताहृष्टिपुष्टत्वात् कौकृत्यं नापि चाशुभम् ॥११॥

१० सी-११ ए वधादिपर्यवस्थान भावनाहेय है; विभवतृष्णा आदि।[2]

[२६] वध-पर्यवस्थान (५. ४७ देखिये) वह क्लेश है जिससे कोई पुद्गल स्वेच्छा से प्राणातिपात करता है—'वधादि' यहाँ 'आदि' शब्द से अदत्तादान, काममिथ्याचार, मृषावाद का ग्रहण होता है—

इन पर्यवस्थानों का आलम्बन भावनाहेय धर्म है, अतः यह स्वयं भावनाहेय है।[3]

विभव तृष्णा भी भावनाहेय है।[4]

---

१. आर्य वह है जिसने सत्यदर्शन किया और सत्कायदृष्टि आदि दर्शनप्रहातव्य अनुशयों का प्रहाण किया है, किन्तु भावनाहेय (भावनायाः पुनः पुनः सत्यादिदर्शन) अनुशयों का प्रहाण नहीं किया है। इन अप्रहीण अनुशयों का उसमें नित्य समुदाचार नहीं होता।

२. वधादिपर्यवस्थानं हेयभावनया तथा ॥ (व्या० ४५७,८) विभवेच्छर्पिका के अनुसार में 'तथा' का अनुवाद 'इत्यादि' करता हूँ। सबसे सरल अर्थ यह है—उसी प्रकार कोश ५.१ बी. में इस शब्द का अर्थ देखिये।

३. इस नियम के अनुसार—ये यद्दर्शनहेयालम्बनास्ते तद्दर्शनहेयाः। अवशिष्टा भावना हेया। ऊपर १२ और ५-६०-६१ देखिये।

४. दीघ ३.२१६ में कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा और रूपतण्हा, अरूपतण्हा, निरोधतण्हा हैं।

विभवतृष्णा पर विसुद्धिमग्ग, ५६८, ५६४; मध्यमकवृत्ति, ५३० टि० ४; विभाषा, २७,५ —तीन तृष्णा—कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा...ऐसे वादी हैं जिनका कहना है कि विभवतृष्णा, जिसका सूत्र में उल्लेख है दर्शन भावनाहेय है। यह विभज्यवादी हैं। इस मत का प्रतिबोध करने के लिये विभवतृष्णा जो सूत्र में उक्त है केवल दर्शनहेय है इस शास्त्र की रचना करते हैं—विभवतृष्णा दर्शन हेय है या भावना हेय, १. उत्तर—यह भावना हेय है। विभव निकायसभाग की (२.४१) अनित्यता है (=भव का अभाव, निरोध)। जिस तृष्णा का यह अनित्यता आलम्बन है वह विभवतृष्णा है। अतः यह केवल भावना हेय है क्योंकि निकाय समाग भावना हेय है।

ऐसे वादी हैं जिनका कहना है कि विभवतृष्णा दर्शन हेय भी है, भावना हेय भी है। यह दर्शन हेय कब है? जब यह दर्शन हेय धर्मों के विभव के प्रति राग होता है। यह भावना हेय कब है? जब यह भावना हेय धर्मों के विभव के प्रति राग होता है। प्रश्न—यह मत

[३०] 'विभव' से कामधातु आदि तीन धातुओं की अनित्यता (त्रैधातुकी अनित्यता) समझना चाहिये।

अनित्यता की प्रार्थना विभवतृष्णा है।[१]

'तथा' शब्द से भव तृष्णा के प्रदेश का ग्रहण होता है, यथा यह कि 'मैं ऐ रावण! नागराज होऊं!" [इस प्रकार यह भवतृष्णा कि मैं कुबेर होऊँ, स्त्री होऊँ किन्तु इन्द्र होने की भवतृष्णा नहीं]।

विभवेच्छा न चार्यस्य संभवन्ति विधादयः।
नास्मितादृष्टिपुष्टत्वात् कौकृत्यं नापि चाशुभं॥

किसका है? उत्तर—विभज्यवादियों का। उनका कहना है कि विभव तीन धातुओं की अनित्यता है, विभवतृष्णा इस अनित्यता के प्रति तृष्णा है और अनित्यता के दर्शन-भावना-हेय होने से तत्सम्बन्धी तृष्णा भी दर्शन-भावना-हेय है .....। कुछ वादियों का कहना है कि यदि सूत्रार्थ लिया जाय तो विभवतृष्णा केवल भावना हेय हैं; तत्वार्थ के अनुसार यह दर्शन-भावना हेय है। यह कैसे? सुत्र वचन है 'यथा भय और दुःख से अभिभूत कोई पुद्गल विचारता है कि 'मरण के अनन्तर मेरा उच्छेद हो, विरोध, अस्तंगम हो।" इस सूत्र में विभाव का अर्थ निकायसमाग के पश्चात् की अनित्यता लेना चाहिये - यह विभव भावना हेय हैं; अतः विभवतृष्णा दर्शन हेय नहीं है। यहाँ शास्त्रा सूत्रार्थ का निर्देश करते है .....जब किसी का वस्तुवत् में राग होता है तो विभज्यवादियों के समान कहना चाहिये कि 'जिसे विभव कहते हैं वह तीन धातुओं की अनित्यता है......।" विभाषा, २७-७—स्रोत आपन्न में विभवतृष्णा क्यों नहीं उत्पन्न होती?

उत्तर—क्योंकि वह अर्थों की धर्मता देखता है अर्थात् यह देखकर कि हेतु-फलपरम्परा धर्मता है वह उच्छेद नहीं चाहता है। पुनः क्योंकि वह कर्मफल में प्रतिपन्न हैं, क्योंकि वह मानता है कि कर्म और फल एक सन्तान के उत्तरोत्तर अंग हैं वह उच्छेद नहीं चाहता। पुनः क्योंकि वह शून्यता का प्रतिवेध करता है इसलिए स्रोत आपन्न शून्यता-विमोक्षमुख (८.२४) का लाभ करता है। वह जानता है कि वर्तमान भव नहीं है, पश्चात् आत्म-आत्मीय का विभव नहीं है। अतः वह उच्छेद की, पश्चान्निरोध की, तृष्णा का उत्पादन नहीं करता। पुनः विभव तृष्णा विभव-दृष्टि (५.७) से उपचित होती है; विभवतृष्णा के होते पर विभवदृष्टि का संमुखीभाव होता है। किन्तु स्रोत: आपन्न ने पूर्व ही विभवदृष्टि का प्रहाण किया है। अतः वह विभवतृष्णा का उत्पाद नहीं करता।

१. यह दिखाने के लिए कि 'अनित्यता स्नेह' हो सकता है। यशोमित्र सूत्र उद्धृत करते हैः यावदयमात्मा जीवति तिष्ठति ध्रियते पाययति तावत् सरोगः सगण्डः सशल्पः सज्वर सपरिदाहकः। यतश्चायमात्मा उच्छिद्यते विनश्यति न भवति। इयतामात्मा सम्यक् समुच्छिन्नो भवति (व्या० ४५७, १५)

११ ए-डी. आर्य में मानवधादि और अस्मिता असंभव है क्योंकि यह दृष्टियों से पुष्ट होती है। अशुभ और कौकृत्य भी आर्य नहीं होता।[२] मानवधादि और अस्मिता का उत्पाद, समुदाचार आर्य में नहीं होता। 'आदि' से पूर्वोक्त अनुशय, वधपर्यवस्थान, विभवतृष्णा और भवतृष्णा के प्रदेश का ग्रहण होता है। क्यों? क्योंकि यह सब अनुशय दृष्टि से पुष्टि लाभ करते हैं, उनके पुष्टत्व के भग्न होने से पुनः उनमें उत्थान की शक्ति नहीं होती [या आर्य उनका उत्पाद नहीं करते]।[३]

[३१] मानविधा और अस्मिता सत्कायदृष्टि से पुष्ट होती हैं। वधादिपर्यवस्थान मिथ्यादृष्टि से पुष्ट होते हैं। विभवतृष्णा उच्छेददृष्टि से पुष्ट होती है। भवतृष्णा का प्रदेश शाश्वतदृष्टि से पुष्ट होता है।

यद्यपि अशुभ कौकृत्य (२.२८) भावनाप्रहातव्य है तथापि इसका समुदाचार आर्य में नहीं होता, क्योंकि यह विचिकित्सा से पुष्ट होता है।

९८ अनुशयों में कितने सर्वत्रग (सर्वग) हैं? कितने नहीं हैं?

सर्वत्रगा दुःखदृग्हेया दृष्टयस्तथा।
द्विमतिः सह नाभिश्च याऽविधाऽऽवेणिकी च या ॥१२॥

१२. सर्वत्रग अनुशय यह हैं—१. दुःख-समुदय-दर्शन हेय दृष्टि और विचिकित्सा; २. इनसे संप्रयुक्त अविधा और ३. आवेणिकी अविधा। इस प्रकार यह ११ अनुशय होते हैं—दुःख दर्शन हेय ५ दृष्टियाँ; समुदय दर्शन हेय मिथ्यादृष्टि और दृष्टि परामर्श; दुःख समुदय दर्शन हेय दो विचिकित्सा और दो अविधा।

यह ११ अनुशय 'सर्वत्रग' कहलाते हैं क्योंकि यह अपने धातु को साकल्यतः आलम्बन बनाते हैं—(पृ० ३२, १.३१ देखिये)।

१[१]—दोष—क्या सर्वत्रग सकल स्वधातु को उत्तरोत्तर आलम्बन बनाते हैं या सकृत् आलम्बन बनाते हैं?...पहले पक्ष में यह लक्षण अन्य अनुशयों में घटित होगा और दूसरा पक्ष अयुक्त है: वास्तव में कोई सकल धातु से शुद्धि नहीं मानता। यह केवल कुछ व्रत हैं जो शील-

---

२. न चार्यस्य संभवन्ति विधादयः। नास्मिता दृष्टिपुष्टत्वात् कौकृत्यमपिनाशुभम्। अस्मिता=अस्मिमान्।

३. शुआनचाङ् का पाठ 'भग्नपृष्ठत्वात्' है। तिब्बतीभाषान्तर में 'भग्ना' है।

१. सर्वत्रगा दुःखदृग्हेया दृष्टयस्तथा।
विभतिः सह तामिश्च या विद्यावेणिकी च या ॥
आवेणिकीय अविद्या वह अविद्या है जो अन्य अनुशय से सहगत नहीं है। सर्वत्रगों पर २.५४ ए-बी देखिये।

व्रतपरामर्श के आलम्बन हैं। यथा कोई सकल धातु को लोक का कारण नहीं मानता, किन्तु ईश्वर प्रजापति आदि को कारण मानते हैं।

[३२] २. वैभाषिक का उत्तर—हम नहीं कहते कि सर्वत्रग सकल स्वधातु को युगपत् आलम्बन बनाते हैं, किन्तु पंच प्रकार का धातु उनका आलम्बन होता है : 'सर्व' शब्द प्रकारसर्वता के अर्थ में है।

किन्तु सर्वत्रग का यह अर्थ लेने से तृष्णा और मान भी सर्वत्रग हैं।

जहाँ (पंच उपादानस्कन्धों में) आत्मदृष्टि है वहाँ (इन्हीं स्कन्धों में) आत्मतृष्णा होगी। जिस वस्तु में अग्रदृष्टि (दृष्टिपरामर्श), शुद्धिदृष्टि (शीलव्रतपरामर्श) होती है उसी वस्तु के लिये प्रार्थना होती है।

प्रश्न है कि यदि तृष्णा और मान सर्वत्रग हैं तो इनका प्रहाण कैसे होगा।

सत्कायदृष्ट्यादिवत् उनका आलम्बन दर्शन भावना हेय है।

इन दोनों का कैसे प्रहाण होता है ? क्या यह (सत्कायदृष्टि के तुल्य) दर्शन प्रहातव्य हैं या भावना प्रहातव्य हैं ?

आचार्य समाधान करते हैं : क्योंकि इनका आलम्बन व्यामिश्र है इसलिये यह भावनाप्रहातव्य हैं अथवा यह दर्शन प्रहातव्य हैं क्योंकि यह दृष्टि के सामर्थ्य से वर्तमान हैं (दृष्टिबलाधानवर्तित्व) (व्या० ४५९,१४) ४. वैभाषिक उत्तर देता है : तृष्णा और मान स्वलक्षणक्लेश हैं, सामान्यक्लेश नहीं हैं (५.२३)। अतः वह सर्वत्रग नहीं हैं। [जिस वस्तु में आत्मदृष्टि होती हैं उस वस्तु में तृष्णा और मान होते हैं किन्तु सब में युगपत् नहीं होते।]

हमने देखा है क ११ अनुशय सभागधातु के सर्वत्रग हैं (सब निकायों को आलम्बन बनाते हैं) :

नवोर्ध्वालंबना एषां दृष्टिद्वयविवर्जिताः।
प्राप्तिवर्ज्याः सहभुवो येप्येभिस्तेऽपि सर्वगाः ॥१३॥

[३३] १३ ए-बी. उनमें दो दृष्टियों को वर्जित कर ९ का विषय ऊर्ध्व है[1]। सत्कायदृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि को वर्जित कर शेष ९ सर्वत्रग विसधातु में भी सर्वत्रग हैं। वह कदाचित् एक विसभाग धातु को आलम्बन बनाते हैं, कदाचित् दो को आलम्बन बनाते हैं क्योंकि (प्रकरणपाद,

---

२. अर्थात् वह अपने धातु में पाँच निकायों को (२.५२ बी) आलम्बन बनाते है जो दुखादि दर्शन प्रहातव्य हैं।—दूसरों के अनुसार उन्हें सर्वत्रग इसलिये कहते हैं क्योंकि पाँच निकायों के अनुशयों के हेतु हैं।

१. [तेषां नवोर्ध्वविषया] दृष्टिद्वयविवर्जिताः।

४१०) उक्त है कि "कामावचर (अर्थात् जो कामोपपन्न सत्वों में उत्पन्न होते हैं) अनुशय हैं जो रूपावचर आरूप्यावचर, रूपारूप्यावचर धर्मों को आलम्बन बनाते हैं।

[रूपावचर अनुशय हैं जो आरूप्यावचर धर्मों को आलम्बन बनाते हैं।]

दोष : जब कामोपपन्न सत्व ब्रह्मा के लिये सत्वदृष्टि, नित्यदृष्टि का उत्पाद करते हैं तो उनकी विसभाग और ऊर्ध्वं धातु के एक वस्तु के लिये सत्काय-दृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि होती है। अतः विसभाग धातु के सर्वत्रग अनुशयों की सूची से इन दो दृष्टियों को आपका वर्जित करना अयुक्त है।

किन्तु ब्रह्मा का ग्रहण आत्मात्मीयत्वेन नहीं होता; अतः उसके प्रति सत्वदृष्टि सत्काय-दृष्टि नहीं है। और अन्तग्राहदृष्टि सत्कायदृष्टि से समुत्थित है। इसलिये ब्रह्मा के विषय में नित्यदृष्टि नहीं है (विभाषा, १८-१८); अतः ब्रह्मा के विषय में सत्वदृष्टि, नित्यदृष्टि किस प्रकार की दृष्टि है? आभिधार्मिक कहते हैं कि 'यह कोई दृष्टि नहीं है। किन्तु यह केवल मिथ्या ज्ञान है।'

[सब प्रज्ञा जिसका विपरीत आलम्बन है दृष्टि इष्ट नहीं है[1]।]

[३४] किन्तु अन्य मिथ्यादृष्टि जिनका आलम्बन ब्रह्मा हैं (शीलव्रत आदि) क्यों दृष्टि अवधारित होते हैं और सत्वदृष्टि तथा नित्यदृष्टि नहीं होते? सिद्धान्त प्रमाण है (विभाषा, १८, १८). [१३ बी]।

प्रश्न है कि क्या केवल अनुशय सर्वत्रग हैं।

१३ सी-डी. प्राप्तियों को वर्जित कर सर्वत्रगानुशयों के सहभू धर्म सर्वत्रग हैं[1]। वेदनादि सहभू धर्म प्राप्ति नही क्योंकि प्राप्ति और प्राप्य का एक फल नहीं हैं (२. ३६ सी)।

अतएव यह प्रश्न है कि क्या सर्वत्रग अनुशयों का सर्वत्रग हेतु हैं (२. ५४ सी-डी)।

चार कोटि हैं: १. अनागत सर्वत्रग अनुशय सर्वत्रग-हेतु नहीं है। २. अतीत और प्रत्युत्पन्न सर्वत्रग अनुशयों के सहभू सर्वत्रग-हेतु हैं किन्तु सर्वत्रग अनुशय सर्वत्रग नहीं है। ३. अतीत और प्रत्युत्पन्न के सर्वत्रग अनुशय सर्वत्र हेतु हैं। ४. अनागत सर्वत्रग अनुशयों के सहभू न सर्वत्रग अनुशय हैं और न सर्वत्रग-हेतु हैं।

९२ अनुशयों में कितनों का आलम्बन एक अनास्रव धर्म है अर्थात् तृतीय और चतुर्थ सत्य निरोध और मार्ग है? कितनों का आलम्बन एक सास्रवधर्म है?

मिथ्यादृग्विमती ताभ्यां युक्ता विद्याऽथकेवला।
निरोधमार्गदृग् हेया षडनास्रवगोचराः ॥१४॥

शुआनचाङ् के अनुसार 'उर्ध्व' से ऊर्ध्व धातु या भूमि समझना चाहिये। यह अनुशय अधर को आलम्बन नहीं बनाते। सर्वत्रग और भूमिओं पर ५.१८ देखिये।

१. प्राप्तिवर्ज्याः सहभुवो येऽप्येभिस्तेऽपि सर्वगाः। (व्या० ४६०,४)

मिथ्यादृष्टि, विचिकित्सा इनसे युक्त अविद्या और केवला अविद्या, जब यह निरोध-मार्ग-दर्शन हेय यह ६ अनुशय जिनका अनास्रव गोचर है।[२]

[३५] तीन अनुशय निरोध दर्शन प्रहातव्य हैं : मिथ्यादृष्टि, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-विचिकित्सा संप्रयुक्त अविद्या या आवेणिकी अविद्या। यह तीन मार्ग प्रहातव्य भी हैं।—इन ६ को वर्जित शेष सब के आलम्बन सास्रव धर्म हैं।

स्व भूम्युपरमो मार्गः षड्भूमिनवभूमिकः।
तद्गोचराणां विषयो मार्गोऽह्यन्योन्यहेतुकः ॥१५॥

१५ स्व भूमि का उपरम उन अनुशयों का विषय है जिनका गोचर उपरम है। षड्भूमिक, नवभूमिक मार्ग उन अनुशयों का विषय है जिनका गोचर मार्ग है क्योंकि मार्ग अन्योन्यहेतुक है[१]।

तीन अनुशयों का (मिथ्यादृष्टि, विचिकित्सा, अविद्या) जो निरोध-दर्शन-प्रहातव्य हैं और जिनका आलम्बन निरोध है सर्व निरोध आलम्बन नहीं है। कामावचरों का कामावचर-धर्म निरोध आलम्बन होता है, इसी प्रकार भूमि में यावत् भावाग्रिकों का (नैव संज्ञा०) भवाग्रभूमिक धर्म निरोध आलम्बन होता है।

तीन मार्गालम्बन अनुशयों का आलम्बन जब वह कामावचर होते हैं। सर्वधर्मज्ञानपक्ष्य (६ २६) षड्भूमिक (अर्थात् अनागम्य ध्यानान्तर-भूमिक और चतुर्ध्यान भूमिक) मार्ग होता है (२.५२) सी ७.९ देखिये)। जब वह रूपावचर या आरूप्यावचर (चार ध्यान, चार आरूप्य) होते हैं तब इन्हीं अनुशयों का आलम्बन सर्व अन्वयपक्ष्य (६.२६) नवभूमिक (अर्थात् पूर्व के ६ और प्रथम तीन आरूप्य) मार्ग होता है।—वास्तव में मार्ग अयोन्यहेतुक है (२.५२)।

यद्यपि धर्मज्ञान अन्योन्यहेतुक हैं तथापि क्योंकि अन्वयज्ञान कामधातु का प्रतिपक्ष नहीं है इसलिये कामावचर तीन अनुशयों का जो मार्गावलम्बन हैं अन्वयज्ञानपक्ष मार्गआलम्बन नहीं है, किन्तु धर्मज्ञान जो कामधातु का प्रतिपक्ष है।

---

२. मिथ्यादृग्विमती ताभ्यां युक्ता विद्याऽथ केवला।
निरोधमार्गदृग् हेयाः षड् अनास्रवगोचराः ॥ (विभाषा १८,१७)

कुछ का कहना है : अविद्या आलम्बन है अतएव इसके आलम्बन अनास्रवधर्म नहीं हैं। वास्तव में यह ज्ञान स्वभाव नहीं है। यह वस्तुओं के लिये ज्ञान में आकरण है······(संघभद्र) ३.२८ सी, ५.३८ डी देखिये।

१. [स्वभूम्युपरमो मार्गः षड्भूमिनवभूमिकः।]
तद्गोचराणां विषयो मार्गो ह्यन्योन्यहेतुकः ॥ (व्या० ४६०,२१)
विभाषा, १९,२।

रूपारूप्य प्रतिपक्ष भी है (७.९)। अतएव वह मार्गालम्बन इन दो धातुओं के तीन अनुशयों का भी आलम्बन होगा।

[३६] सकल धर्मज्ञान रूप आरूप्य धातु का प्रतिपक्ष नहीं है क्योंकि दुःख और समुदय के धर्मज्ञान इन दो धातुओं के प्रतिपक्ष नहीं हैं। [अतः यह इन दो धातुओं के तीन अनुशयों का आलम्बन नहीं हैं।]

और धर्मज्ञान सकल रूप और आरूप्य धातुओं का भी प्रतिपक्ष नहीं है [क्योंकि यह दर्शनहेय धर्मों का प्रतिपक्ष नहीं है] अतएव यह [दो धातुओं के तीन अनुशयों का] आलम्बन नहीं है क्योंकि आद्य से दो धर्मज्ञान इन धातुओं के प्रतिपक्ष नहीं हैं (आद्याभावान्त भवत्यालम्बनम् व्या. ४६२,५) और क्योंकि दो धातुओं के अनुशयों का जो पहला प्रकार है अर्थात् जो दर्शनहेय हैं उनमें किसी भी प्रतिपक्षत्व के प्रति किसी भी धर्मज्ञान का अभाव है (आद्येषु अभावात्)।

राग, प्रतिघ, मान, दृष्टि परामर्श और शीलव्रत परामर्श के आलम्बन अनास्रवधर्म—निरोध और मार्ग—क्यों नहीं हैं?

न रागस्तस्य वर्ज्यत्वात् न द्वेषोऽनपकारकतः।
न मानो न परामर्शौ शान्तशुद्धयग्रभावतः ॥१९॥

१९. राग का आलम्बन अनास्रव नहीं है क्योंकि रागवर्ज्य है; प्रतिघ क्योंकि अनास्रव अपकार नहीं करता; मान और दो परामर्श, क्योंकि अनास्रव शान्त शुद्ध और उत्तम है[२]।

रागानुशय वर्ज्य है। यदि इसका आलम्बन अनास्रव होता तो यह वर्जनीय न होता। यथा कुशलधर्मच्छन्द [जो अभिलाषरूप ग्रहण करता है किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है] वर्जनीय नहीं है।[३]

[३७] प्रतिघ अघात वस्तु (अपकार) के प्रति उत्पन्न होता है और अनास्रव निरोध या मार्ग, अपकार नहीं करता।

---

१. शुआन चाङ् में इतना अधिक : जो अनास्रव दर्शन प्रहातव्य है यह विभाषा, १८,१ के अनुसार है जिसका अनुसरण वसुबन्धु १९वीं कारिका में करते हैं।

२. न रागस्तस्य वर्ज्यत्वान्न द्वेषोऽनपकारतः।
न मानो न परामर्शौ शान्त शुद्धोत्तमं हि तत् ॥ (व्या० ४६०,१७)

३. दूसरों के अनुसार कुशलधर्मच्छन्द श्रद्धा (२.२५)
या सर्वग चैतसिक अधिमोक्ष है (२.२४)।—
कथावस्तु, ९.२,

निरोध और मार्ग शान्त हैं। अतः उनके लिए मान नहीं होता[1]। शुद्धि के प्रकरण में कारण का ग्राह शीलव्रत परामर्श है। अनास्रव भूतार्थ-शुद्धि है। उसके प्रति शुद्धिग्राह नहीं होता।

हीन वस्तु में अग्र का ग्राह दृष्टि परामर्श है। अनास्रव व्यग्र हैं: उनमें अग्रग्राह नहीं होता।

९८ अनुशयों में कितने आलम्बनतः अनुशयन करते हैं (आलम्बनतोऽनुशेरते)[2]। कितने केवल संप्रयोगतः [केवल वेदनादि चित्तसंप्रयुक्त धर्मवश] अनुशयन करते हैं? (संप्रयोगत एव)?

[३८] १७. सर्वत्रग अनुशय आलम्बनतः स्वभूमि में अनुशयन करते हैं; असर्वग स्वनिकाय में ही अनुशयन करते हैं[1]।

---

१. मान केवल औदारिक और गतिशील वस्तुओं के प्रति होता है जिनसे अधार-भूमियों का सौमनस्य समुत्थित होता है।

२. हमारे ग्रन्थ में अनुशेते, अनुशयन का अर्थ 'पुष्टिं लभते' और 'प्रतिष्ठां लभते' है। १. अनुवाद, पृ० ७, ५.३९ देखिये।—तिब्बती भाषान्तर में अनुशेते = संवृद्ध होता है—चीनी अनुवाद का भी यही अर्थ मालूम होता है।

कुछ अवस्थाओं में अनुशय की वृद्धि इसका कारण होती है कि यह आलम्बन में आश्रय लेती है; अन्य अवस्थाओं में यह अनुकूल वेदनादि के कारण विपुल होती है।

दो प्रकार के अनुशयन पर संयुक्त हृदय, ४.१०, संघभद्र, २६,१, विभाषा, २२,१, ५०,१, १६,६, ८७,१३—किओकुगा विभाषा, २२,१ को उद्धृत करते हैं, कुछ वादियों का कहना है कि अनुशय चित्त संप्रयुक्त धर्मों में अनुशयन नहीं करते। दार्ष्टान्तिक कहते हैं कि "यह कहना कि अनुशय स्वालम्बन में अनुशयन करता है यह स्वीकार करता है कि इसकी वृद्धि अनास्रव धर्मों के कारण होती है या ऊर्ध्व धातु के धर्मों के कारण होती है यदि सदृश धर्म इसके आलम्बन होते हैं [और यह ५·१८ ए-बी के वाद के विरुद्ध है]: यह कहना कि यह संप्रयुक्त धर्मों में अनुशयन करता है यह स्वीकार करना है कि अनुशय का [यथा राग] कभी समुच्छेद न होगा अथवा उच्छेद होने पर भी यह नित्य अनुशयन करेगा क्योंकि संप्रयुक्त धर्मों से [दृष्टान्त के लिये, सुखावेदना से, जिससे राग पुष्ट होता है] चित्त का अत्यन्त विसंयोग नहीं हो सकता।"

नीचे पृ० ३८, टिप्पणी २ देखिये;

१. [सर्वत्रगा अनुशयाः स्वभूमावनुशेरते।
सर्वस्यामालम्बनतः स्वानिकाये प्वसर्वगः॥]

५.३९ देखिये।

आलम्वनतः सर्वत्रग अनुशय (५.१२) स्वभूमि के ५ निकायों में अनुशयन करते हैं अर्थात् प्रतिष्ठा लाभ करते हैं; अन्य अपने ही निकाय में; दुःखदर्शन प्रहातव्य अनुशय दुःखदर्शन प्रहातव्य धर्मों में अनुशयन करते हैं···भावना प्रहातव्य अनुशय भावना प्रहातव्य धर्मों में अनुशयन करते हैं।

इस सामान्य नियम को अवधारित करते हैं।

१८ ए-वी, वह अनुशय नहीं जिनका विषय अनास्रव या ऊर्ध्व भूमि है क्योंकि उनका विषय 'स्वीकृत' नहीं है और अनुशयों के विपक्ष है[२]। [१५ वीं]

६ अनुशय जिनका विषय अनास्रव है, निर्वाण या मार्ग है (५.१४) और ९ अनुशय जिनका विषय ऊर्ध्व भूमि है (५.१३ ए-वी) स्वावलम्वन में अनुशयन नहीं करते क्योंकि इस वस्तु को आत्मदृष्टि या तृष्णा से स्वीकृत नहीं करते।

[३९] जिस वस्तु को [सत्काय दृष्टि से] आत्मवत् अवधारित करते हैं या जिसे तृष्णा से स्वीकृत करते हैं उस वस्तु में अन्य अनुशय अभिव्यक्त होते हैं (अनुशी), वहाँ अनुशयन करते हैं यथा अद्रिपट में रज आसक्त होता है (१.४ पृष्ठ १४,२ पर व्याख्या) देखिये। किन्तु अनास्रव और ऊर्ध्वभूमि आत्म आत्मभिवत् अवधारित नही हो सकते अतः वह अनुशय जिनकेवह आलम्वन हैं स्वावलम्वन में आलम्वनतः अनुशयन नहीं करते।

वास्तव में हम देखते हैं कि अनास्रव या ऊर्ध्वभूमि के प्रति प्रार्थना तृष्णा नाम का अनुशय नहीं है किन्तु कुशलधर्मच्छन्द है (पृ० ३६ नीचे) पुनः अनास्रव निर्वाण या मार्ग-उन क्लेशों का प्रतिपक्ष है जो उसको आलम्बन बनाते हैं; ऊर्ध्वभूमि के धर्म अधरभूमिक क्लेशों के प्रतिपक्ष हैं। अतः क्लेश वहाँ अनुशयन नहीं कर सकते अर्थात् प्रतिष्ठा लाभ नहीं करते (प्रतिष्ठां लभन्ते) यथा पादतल तप्त उपल पर प्रतिष्ठा-लाभ नहीं करता।

---

२. नानास्रवोर्ध्वविषया अस्वीकाराद् विपक्षतः।

विभाषा, ८६,९: क्या जो अनुशय का स्थान है वह अनुशयन का भी स्थान है। [अर्थात् क्या जिस अर्थ का अनुशय आलम्बन बनाता है—वह वस्तु जिसमें राग, द्वेष, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि आदि का ग्रहण होता है—वह नित्य अनुशय की पुष्टि और प्रतिष्ठा लाभ के अनुकूल होता है?]—अनास्रव वस्तु (निर्वाण और मार्ग) अनुशय का स्थान है; अनुशयन का नहीं।

वसुमित्र कहते हैं कि जब कोई सास्रवालम्बन अनुशयों का उत्पाद करता है तो अनुशयों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है [अर्थात् वह उन वस्तुओं को आलम्बन बताने के कारण संवृद्ध होते हैं] यथा उस पुद्गल चक्षुरिन्द्रिय की विपुलता होहै जो चन्द्रती की ओर देखता है। जब कोई अनास्रवालम्बन अनुशयों का उत्पाद करता है तो अनुशयों का ह्रास होता है यथा उस पुगद्ल की चक्षुरिन्द्रिय का ह्रास होता है जो सूर्य की ओर देखता है।"

हमने अब तक अनुशयन, अनुशेरते, इन शब्दों का अर्थ प्रतिष्ठालाभ किया है। अन्य आचार्यों के अनुसार अनुशयन का यहाँ अर्थ आनुगुण्य है।—निर्वाणादि मिथ्यादृष्टि आदि की उत्पत्ति और वृद्धि के अनुकूल (अनुगुण) नहीं है (न तदुपपत्तय आनुगुण्येन वर्तन्ते): यथा वातिक को रूक्ष भोजन गुण नहीं करता, अनुशयन नहीं करता (व्याख्या, १:४ पृ० १३)

१८ सी-डी. जो अनुशयन जिस धर्म से संप्रयुक्त है वही उस धर्म के संप्रयोग से अनुशयन करता है।[१]

धर्म से अर्थात् वेदनादि से।

[४०] एक शब्द सूचित करता हैं कि जब तक अनुशय का प्रहाण नहीं होता। क्या ऐसे अनुशय हैं जिनका आलम्बन अनास्रव नहीं है, जिनका आलम्बन विसभाग धातु नहीं है और जो केवल संप्रयोगतः, अनुशयन करते हैं आलम्बनतः नहीं ?

हां, वह सर्वत्रग अनुशय जिनका आलम्बन एक ऊर्ध्व भूमि है।

[अर्थात् प्रथम ध्यान के सर्वत्रग अनुशय जिसका आलम्बन तीन ऊर्ध्व ध्यान है।]

४८ अनुशयों में कितने अनुशल और कितने अव्याकृत अर्थात् अविपाक हैं।

१९ सब 'ऊर्ध्व' अनुशय अव्याकृत हैं; कामधातु में सत्वापदृष्टि, अन्तग्राहदृष्टि और अविद्या अव्याकृत हैं। शेष अनुशय यहां अशुभ है[१]।

रूप आरूप्य धातु के सब अनुशय अव्याकृत हैं। वास्तव में सब सविपाक क्लिष्ट धर्मो का दुःखविपाक होता है। किन्तु इन दो धातुओं में दुःख नहीं होता क्योंकि (व्यापादादि) परमावाधहेतु का वहां अभाव है।

कामधातु में सत्कामदृष्टि, अन्तग्राहदृष्टि और सत्संप्रयुक्त अविद्या अव्याकृत हैं; वास्तव में दान और अन्य शुभ कर्मो से इन अनुशयों का विरोध नहीं है। पुद्गल विचारता है कि मैं अनागत अध्व में सुखी होऊं।" और दान देता है, शील का समादान करता है[२]।

उच्छेददृष्डि मोक्ष के अनुकूल है। अतएव भगवत् ने कहा है कि तीर्थिकों के दृष्टिगतों में अग्र (विशिष्ट) वह है जिसके कारण पुद्गल कहता है कि मैं नहीं हुं, आत्मीय नहीं है; मेरा अस्तित्व न होगा, आत्मीय का असित्व न होगा।"

---

१. [येन यः संप्रयुक्तोऽत्र स एव संप्रयोगतः ।।]

जब तक राग का प्रहाण नहीं होता तब तक वह चित्त-संप्रयुक्त सुखावेदना के कारण वृद्धि को प्राप्त होता रहेगा।

१. [ऊर्ध्वाः अव्याकृताः सर्वे काम सत्कायदृक् सह ।
अन्तग्राह दृश्ग विद्यापिच] शेषास्त्विहाशुभाः ।।—विभाषा, ५०, १०।

२. पृ० १५ और बोधिसत्वभूमि १९०६,२२४ देखिये।

[४१] इन दो दृष्टियों का—सत्काय और अन्तग्राह का स्व द्रव्य संमूढत्व है। यह परिपीडा में प्रवृत्त नहीं हैं। अतः यह अव्याकृत हैं।

किन्तु स्वर्ग तृष्णा और अस्मिज्ञान (५-१०) में भी दानादि के साथ अविरोध होने से और इन्हीं निर्वन्ध हेतुओं से यही प्रसंग होगा अर्थात् वह भी अव्याकृत होंगे, किन्तु सिद्धान्त को यह दृष्ट नहीं है। पूर्वाचार्य[1] भी कहते हैं कि "सहज सत्काय दृष्टि, जो हिंसक पशुओं और पक्षियों में पाई जाती है, अव्याकृत है। विकल्पिता सत्काय दृष्टि अकुशल"[2] है।

[इसी प्रकार सहज और विकल्पित अन्तग्राह की दृष्टि को जानिये।]

कामधातु के अन्य अनुकाय अशुभ अर्थात् अकुशल हैं।

९८ अनुशयों में कितने अकुशल मूल हैं? कितने नहीं हैं?

२० ए-बी—कामधातु में जो राग, प्रतिघ और मूढि हैं वह अकुशल मूल हैं।[3] कामावचर सर्वराग, सर्वप्रतिघ सत्काय दृष्टि और अन्तग्राह दृष्टि से सर्वमूढि (अर्थात् सर्वमोह)[4] यथाक्रम लोभ, द्वेष, मोह यह तीन अकुशल मूल हैं।

[४२] सत्काय दृष्टि और अन्तग्राह दृष्टि अकुशल मूल नहीं हैं, क्योंकि वही अकुशल मूल है जो अकुशल है और अकुशल का ही मूल है।[5]

शेष अनुशय अकुशल मूल नहीं हैं।

कितने धर्म अव्याकृत मूल हैं? कितने नहीं हैं?

---

१. अर्थात् जापानी सम्पादक के अनुसार सौत्रान्तिक।

२. कपिल और वैशेषिक आत्मवादियों के दृष्टिगत से अभिप्राय है।

३. कामेऽकुशलमूलानि रागप्रतिघमूढयः।

अकुशल पर ४·८ सी-डी।

नाम सङ्गीति की टीका में एक अभिधर्म शास्त्र का उल्लेख है जिसमें ६ अनुशय परिगणित हैं: मानदृग् विचिकित्साश्च रागप्रतिघमूढयः।

४. 'सर्व' शब्द दुःखादिदर्शनहेय 'पंचप्रकार' को सूचित करता है (२·५२ बी)।

५. विभाषा, ५०, १० एक (दार्ष्टान्तिक) कहते हैं कि सर्वक्लेश अकुशल हैं, दूसरे कहते हैं कि कामावचर क्लेश अकुशल है, अन्य दो धातुओं के क्लेश अव्याकृत हैं, तीसरा मत है कि कामधातु के तीन संयोजनों में एक संयोजन अर्थात् सत्काय दृष्टि अव्याकृत है।···सत्काय दृष्टि क्यों अव्याकृत है?···यह अकुशल नहीं है, क्योंकि यह आशय का अत्यन्त निरोध नहीं करती (ऊपर ४·८० डी देखिये) और यह आशय का निरोध नहीं करती क्योंकि यह आह्रीक्य और अनपत्राप्य से संप्रयुक्त नहीं है।··यह अव्याकृत है क्योंकि इसका विपाक नहीं है। वसुमित्र कहते हैं "क्योंकि यह औदारिक काय और वाक्-कर्म का उत्पादन नहीं करती।" (४·१२ डी, पृ० ४२) से तुलना कीजिये।

२० सी—२१ ए. तीन अव्याकृत मूल हैं, तृष्णा, अविद्या और मति (अर्थात् प्रज्ञा) जो अव्याकृत हैं। अन्य मूल नहीं हैं क्योंकि उनकी द्वैधावृत्ति और ऊर्ध्ववृत्ति है।[1]

काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार जो कोई अव्याकृता तृष्णा है, जो कोई अव्याकृता अविद्या है, जो कोई अव्याकृता प्रज्ञा है। अन्ततः जो विपाकना[2] प्रज्ञा है, वह अव्याकृत-मूल है।[3]

विचिकित्सा मूल नहीं हो सकती, क्योंकि वह चल है और उसकी द्वैधा वृत्ति होती है। मान का लक्षण चित्त की उन्नति है, अतः मान मूल नहीं हो सकता, क्योंकि यह अणु है, क्योंकि दुर्विज्ञेय होने से प्रचार सूक्ष्म हैं। यह अपनी प्राप्तियों के अनुसङ्ग से अनुसक्त होते हैं। यह दो प्रकार से आलम्बनतः और संप्रयोगतः अनुशयन करते हैं (अनुशेरते)[4]। इनका निरन्तर अनुबन्ध होता है, क्योंकि बिना प्रयोग के और प्रतिविचारित होने पर भी पुनः उनका संमुखीभाव होता है।

---

१. त्रीण्यव्याकृतमूलानि तृष्णाविद्यामतिश्च सा॥
अव्याकृत पर २.६६, ४.६ डी देखिये।

२. कोश, २.५७, ७१ बी।

३. जो तृष्णा आस्वादना सम्प्रयुक्त (८.६) ध्यान और आरूप्यों के प्रति (आरूप्यसमापत्ति) उपपत्तिकाल में विमानादि में होती है वह ऊर्ध्वधातुओं की तृष्णा अव्याकृत है। ऊर्ध्व धातुओं की अविद्या और कामधातु की सत्काय और अन्तग्राह दृष्टि अव्याकृत है। (१) इन दो दृष्टियों से संप्रयुक्त, (२) विपाकजादि चित्त से संप्रयुक्त कामावचरी प्रज्ञा अव्याकृत है, यथा ऊर्ध्व धातुओं की सर्व-क्लेश-संप्रयुक्त और विपाकजादि चित्त संप्रयुक्त प्रज्ञा अव्याकृत है। [आदि का अर्थ धातु के अनुसार बदलता है, २.७२ देखिये]

४. यह अनुबन्ध करते हैं, क्योंकि चातुर्थक ज्वर (सूत्रालंकार पृ० १७७) या मूषिका विष के तुल्य इसको उत्क्रान्त करना अत्यन्त कठिन है। एक दूसरे मत के अनुसार यह अनुबन्ध करते हैं, अर्थात् उनकी प्राप्ति सदा अनुगत होती है (अनु) यथा जल समुद्र का अनुसरण करता है। इन कारणों से क्लेश के यह १० प्रकार अनुशय की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

(२) तिब्बती अनुवाद (ए)=अणु-परिमाण वृद्धि क्योंकि शरच्चन्द्रदास कहते हैं कि अनुशय पूर्व अणु रूप में आता है और पश्चात् उसके परिमाण में वृद्धि होती है; (b) nal 'शयन करना' bay la का कदाचित् 'प्रति' अर्थ है, yaserke के पाठान्तर का अर्थ 'भय के अभाव में' है, किन्तु यह पाठ कदाचित् ठीक नहीं है। चीनी शब्द='अनु-शयन'='अज्ञान शयन'।

(३) अनुसेति, अनुसयितु का अपारिभाषिक अर्थ; marris, gots १८८६, पृ० १२३ के हवाले 'अनुसक्त होना' 'निरन्तर होना' क्षमण, संयुक्त २-६५, अनुसेति चेतेति, पकप्पेति 'चेतना करना, परिकल्प करना, संप्रधारण करना'।

आशयन्त्यास्रवन्त्येते हरन्ति क्लेशयन्त्यथ।
उपगृह्णन्ति चेत्येषामास्रवादि निरुक्तयः॥

४०. यह आसीन करते हैं, क्षरित होते हैं, यह हरण करते हैं, यह अश्लिष्ट होते हैं, यह उपग्रहण करते हैं। आस्रवादि आख्याओं का यह निर्वचन है[२]।

अनुशय सत्वों को संसार में आसीन करते हैं (आसयन्ति); यह भवाग्र से (=नैव संज्ञाना-संज्ञायतन, ३.८१) यावत् अवीचि (३.५८) गमन करते हैं (आस्रवन्ति, गच्छन्ति); यह ६ आयतन व्रण से क्षरित होते हैं। अतः उन्हें आस्रव कहते हैं।

[८८] अनुशय हरण करते हैं (हरन्ति)। अतः उन्हें ओघ कहते हैं। अनुशय आश्लिष्ट करते हैं (श्लेषयन्ति) अतः उन्हें योग कहते हैं। अनुशय उपग्रहण करते हैं (उपाददति, उप-गृह्णन्ति) अतः उपादान कहते हैं; सुष्ठु व्याख्यान इस प्रकार है।

१. अनुशयों से चित्त सन्तति विषयों में क्षरित होती है (आस्रवन्ति), अतः अनुशय आस्रव है। इस सूत्र की उपमा के अनुसार "यथा महान् अभिसंस्कार" से (महताभिसंस्कारेण) नौका को प्रतिस्रोत ले जाते हैं और इन्हीं संस्कारों की प्रतिप्रश्रब्धि से (तेषां संस्काराणां प्रति-प्रश्रब्ध्या व्या० ४८८,२१) अर्थात् इन्हीं प्रयत्नों के व्युपरम से नौका जल सन्तान से अपहृत होती है (ह्रियते) [उसी प्रकार बड़े प्रयत्न से चित्त-सन्तति का कुशलधर्मों द्वारा विषयों से निवारण होता है]।

२. जब अधिमात्र वेग होता है तब अनुशय ओघ कहलाते हैं यह उनका हरण करते हैं (हरन्ति) जो उनसे युक्त होते हैं (तद्युक्त) और उनका अनुविधान करते हैं (तदनुविधानात्)।

---

१. व्याख्या की सहायता से भाष्य का उद्धार हो सकता है: (तत्र) अणव इति सूक्ष्मप्रचारत्वाद्दुर्विज्ञानतया। [अनुसज्जति इति प्राप्त्यनुसंगात्] उभयतोऽनुशेरत इति आलम्बनतः सम्प्रयोगतश्च। अनुबध्नन्तीत्यप्रयोगेण प्रतिनिवारयतोऽपि संमुखीभावात्।

अनुसंग, महाव्युत्पत्ति, २८१, १२२

व्याख्या—आलम्बनात् संप्रयुक्तेभ्योवा स्वां स्वां सन्तति वर्धयन्तः प्राप्तिभिरुपचिन्वन्ति—अपनी सन्तति की वृद्धि करते हुए आलम्बन तथा संप्रयुक्त धर्मों के कारण वह प्राप्तियों से उसे उपचित करते हैं। अनुबध्नन्तीत्यनुक्रान्तेश्चातुर्थकज्वर—मूषिकाविषवच्च—वह अनुबन्ध करते हैं क्योंकि वह चातुर्थक ज्वर या मूषिका विष के समान कालान्तर में अनुगमन करते हैं। (बोधि-चर्यावतार ६.२४)।

२. आसयन्त्यास्रवन्त्य [एते] हरन्ति श्लेषयन्ति [च]।
उपगृह्णन्तीति ततो निरुक्ता आस्रवादयः॥

३. शुक्लनिदर्शनाः क्लेशकुणपम्, अकुशलमूलम्।
आस्रवन्तीत्यविद्याभवदृष्टिकामास्रवाश्चत्वारः।
आश्रव-आस्रव-आस्राव-आसव-आसथ पर।